डॉ. लल्लनजी गोपाल • डॉ. ब्रजनाथसिंह यादव

भारतीय संस्कृति

विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर

भारतीय संस्कृति

लेखक

डॉ० लल्लनजी गोपाल तथा डॉ० ब्रजनाथ सिंह यादव

प्राध्यापक, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग
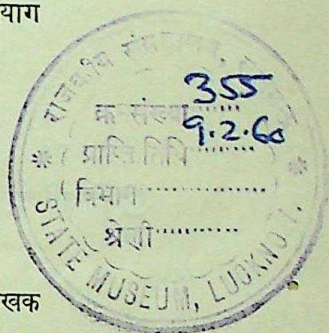
सम्पादक एवं भूमिका-लेखक

डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय
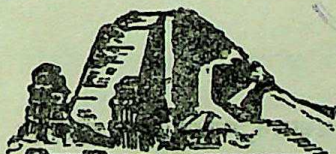
मूल्य—पाँच रुपया पचास नये पैसे

प्रथम संस्करण, दीपावली, संवत् २०१५

प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन, नखास चौक, गोरखपुर

मुद्रक—ओमप्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस) ५३५२-१५

संस्कृति का स्वरूप और प्रक्रिया

कुछ विदेशी इतिहासकारों की धारणा रही है कि भारत का इतिहास ह्रास की ही कथा है; भारतीय संस्कृति मूलतः इतनी ही है—राजाओं के अलंकृत समारोह, हाथियों और नर्तकियों की सज्जाएँ, कपोल-कल्पित पौराणिक कथाएँ, अंध विश्वास, अकाल और जंगल, काले नाग और मच्छर, अस्पृश्यता, रूढ़ियाँ, अत्युक्ति और आडम्बर। यद्यपि देशभक्त इतिहासकारों ने इस धारणा का अनेक दृष्टियों से तिरस्कार और विरोध किया है और विविध सांस्कृतिक तथ्यों का न्यूनाधिक संग्रह भी यत्र-तत्र किया गया है तथापि संस्कृतिके स्वरूप और प्रक्रिया पर सैद्धांतिक विवेचना का अवकाश भारतीय इतिहासकारों को प्रायः प्राप्त नहीं हुआ है। हम लोग पश्चिमी इतिहास, राजनीति, समाज शास्त्र और नृतत्त्व विद्या में प्रचलित और आलोचित धारणाओं को यथारुचि चुनते और व्यवहार में लाते रहे हैं। हममें से अधिकतर उन्नीसवीं शताब्दी के 'लिबरल नेशनल' दृष्टिकोण को अपनाये रहे हैं यद्यपि कुछ ने हाल ही में भौतिकवादी दृष्टिकोण का स्वीकार प्रारम्भ किया है और कुछ उग्र राष्ट्रीयता अथवा साम्प्रदायिकता के समर्थक हैं।

इनमें प्रथम दृष्टि का सर्वाधिक प्रचार रहा है और इसी को 'अधिकृत' (ऑफिशल) दृष्टि कहा जा सकता है। यह दृष्टि राज्य को ही वास्तविक राष्ट्र मानती है और उसको धर्मनिरपेक्ष समझती है तथा व्यक्ति के अधिकारों को परम धर्म। इस दृष्टि से यह समझना कठिन होगा कि कैसे भारत की सीमाएँ १५ अगस्त १९४७ की अर्धरात्रि को अकस्मात् संकुचित हो गईं। यह दिखाने के लिए अधिक युक्ति नहीं चाहिए कि राष्ट्र एक ऐसा समाज है जिसकी चेतना अपनी सत्ता के प्रति न्यूनाधिक रूप से जागरूक है; इस राष्ट्रीय समाज का हर किसी वास्तविक राज्य से तादात्म्य नहीं स्थापति किया जा सकता जो उसका शासन करता हो। यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रीय चेतना हमेशा ही अनुरूप राजनीतिक चेतना में परिणत हो पाये, और न ही भारत की परम्परागत धार्मिक क्षेत्र में उदारता का आधुनिक 'सेक्युलर' राज्य से कोई संबंध है क्योंकि इस धर्मनिरपेक्षता का मूल धर्म की उपेक्षा रहा है; और फिर प्राचीन 'पुरुष' की तुलना में आधुनिक 'व्यक्ति' बड़ा भी है और छोटा भी।

साम्प्रदायिक दृष्टियाँ राष्ट्रीयता और धर्म का विवेक भूल जाती हैं और इस व्यामूढ धारणा पर राज्य-प्रासाद का निर्माण करना चाहती हैं। यह सही है कि प्राचीनकालमें धर्म सांस्कृतिक जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू रहा है तथापि

इस्लाम, बौद्धधर्म अथवा वेदांत जैसे 'समुन्नत धर्मों' (हायर रिलिजन्स) को राष्ट्रीय मानना भारी भ्रान्ति होगी। ये स्वरूपतः विश्वजनीन हैं। यह स्पष्ट है कि साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता उस धर्म का ही स्वभाव ठीक नहीं समझती जिसका पक्ष-पोषण करना चाहती है। वस्तुतः इस दृष्टि को एक घोर आशंकाजनक राजनीतिक नक़ाब के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना जा सकता।

भौतिकवादी दृष्टिकोण से भारत को नाना राष्ट्रों का जमघट माना गया है, एक उपमहाद्वीप न कि राष्ट्र। भारत के विभिन्न प्रदेशों में शरीर का गठन, पहनावा खान-पान, भाषा, सामाजिक रहन-सहन और रीति-रिवाज स्पष्ट रूप से प्रविभक्त हैं। यदि संस्कृति भौतिक और बाह्य चर्या का संस्थान-विशेष है तो भारतीय संस्कृति की ख्यापित तथा प्रतीतिगत एकता भ्रान्ति-मात्र है। किन्तु उस युक्ति से व्यक्तिगत जीवन की अनुभवसिद्ध एकता भी बाह्य प्रतीतिमात्र, संयोगजन्य तथा निष्प्राण हो जायगी। भारतीय संस्कृति की सत्ता का ही अपलाप करने वालों की गज-निमीलिका से इतना ही निवेदन अभीष्ट है कि यदि इतिहासकार राजनीति से प्रेरणा न लेकर उसे प्रेरणा दे सकते तो संभवतः अधिक अच्छा होता। इसके लिए यह आवश्यक है कि भारतीय इतिहास के सांस्कृतिक पक्ष का और उसके अंतर्निहित दार्शनिक-सैद्धांतिक प्रश्नों का वैसा ही गंभीर मंथन हो जैसा कि निरे राजनीतिक प्रश्नों का पिछले अनेक वर्षों में हुआ है। राजनीति में भी नई दिशा पाने के लिए यही हितकर सिद्ध होगा।

संस्कृति शब्द का इतने अर्थों में प्रयोग किया गया है कि उसका स्वरूप अस्पष्ट हो उठा है। पुरातत्त्ववेत्ता संस्कृति को विशिष्ट उद्योगों का समूह मानते हैं। वे निर्दिष्ट स्थान अथवा स्थानों से प्राप्य भौतिक अवशेषों के व्यावर्त्तक लक्षणों को संस्कृति की आख्या प्रदान करते हैं। नृतत्त्ववेत्ता संस्कृति को एक विशिष्ट समाज अथवा विकास की अवस्था का सामूहिक शील तथा उसके साथ अनुषक्त भौतिक उपादान और विज्ञान समझते हैं। इतिहासकार संस्कृति शब्द से प्रायः किसी समाज के जीवन और कृतियों की समष्टि की ही विवक्षा रखते हैं। वॉल्तेयर के समय से कुल्तूरजेशिस्ते (kulturgeschichte) का क्रमिक विकास हुआ है तथापि विभिन्न इतिहासकार संस्कृति की विभिन्न व्याख्याओं का अनुसरण करते हैं। प्रायः वे लोग अपने इतिहासों को पूर्णतया विषयनिष्ठ मानते हैं और किसी भी प्रकार के दार्शनिक पूर्वाग्रह से असम्बन्ध प्रकट करते हैं। किन्तु यह अप्रत्याख्येय है कि संस्कृति के प्रत्येक इतिहास में किसी न किसी प्रकार का संस्कृति-दर्शन अंतर्निहित होगा। और, दर्शन की उपेक्षा का अर्थ अनालोचितपूर्व दर्शनों का खंडशः स्वीकार अथवा सामाजिक प्रचलन, धार्मिक परम्परा अथवा वैज्ञानिक या राजनीतिक आग्रहों का अबोधपूर्वक समुपादान होगा। मनुष्य के विकास का वर्णन और उसकी व्याख्या

तब तक कैसे संभव है जब तक कि मानव स्वभाव और सामाजिक प्रक्रिया के विषय में मौलिक धारणाएँ स्पष्ट न की जाएँ ?

संस्कृति से तात्पर्य है सामाजिक मानस अथवा चेतना से जिसका इस प्रसंग में स्वप्रकाश विषयी के अर्थ में नहीं किन्तु विचारों, प्रयोजनों और भावनाओं की संगठित समष्टि के अर्थ में ग्रहण किया जाना चाहिए। पुरुष के लिए जो व्यक्तित्व है वही समाज के लिए संस्कृति; दोनों का सार है आदर्शों और मूल्यों की भावना। संस्कृति व्यक्ति को ऐसा सामाजिक-ऐतिहासिक संसार प्रदान करती है जो अपनी प्रभावों की रश्मियों से उसके व्यक्तित्व को अभिसंस्कृत और विनीत करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति मूलभूत निष्ठाओं से प्रादुर्भूत होती है और उसमें चरित्र अथवा व्यक्तित्व का एक विशिष्ट आदर्श लक्षित होता है। वह समूचे जीवन का एक प्रयोजक निर्देश प्रस्तुत करती है जिसके प्रकाश में समस्त संस्थाएँ व्यापारित होती हैं और जो अंततोगत्वा सामाजिक जीवन को एकता और आकार प्रदान करता है।

इस प्रकार मूलतः संस्कृति जीवन की ओर एक विशिष्ट दृष्टिकोण है, अनुभव के मूल्यांकन और व्याख्या का एक विशिष्ट और मूलभूत प्रकार है। विचार, भावना और आचरण के विभिन्न प्रस्तारों में संस्कृति की सिद्धि होती है। इस दृष्टि-स्वरूपा संस्कृति की सिद्धि के बाह्य विस्तर निरन्तर बदलते रहते हैं किन्तु उनकी प्रभावात्मक दृष्टि और प्रेरणा एक अनुस्यूत, बृहत्तर और गम्भीरतर सत्ताके रूपमें बनी रहती है। और, किसी भी समाज के जीवन में चेतना का यह गहरा और अदृष्ट अनुप्रबन्ध ही संस्कृति का सार है।

आध्यात्मिक परम्परा के रूपमें संस्कृति को उसके कार्यों और निष्पत्तियों से विविक्त रखना चाहिए जिनमें कि उसकी अभिव्यक्ति होती है और जो उसको मूर्ति प्रदान करते हैं किन्तु जो आवश्यक रूपसे अधिक संकुचित सार्थकता रखते हैं। जब तक हम बाहरी निष्पन्न रूप और आन्तरिक चेतना के रूप में विवेक न करेंगे तबतक हमारे लिए किसी भी विशाल संस्कृति की एकता और नैरंतर्य को समझना सम्भव न होगा।

संस्कृति के कार्य हैं—कला, साहित्य अथवा संस्था सरीखे पदार्थ। ये सांस्कृतिक प्रेरणा के साधन और अभिव्यक्ति बन जाते हैं और साथ ही साथ उसे परिच्छिन्न और मूर्तरूप देते हैं। कारणात्मक संस्कृति सूक्ष्म चेतना-रूप और न्यूनाधिक समय तक अन्तः प्रेरणा के समान सामाजिक ज़ीवन में कार्यशील, नियामक और निर्देशक रहती है। कार्यात्मक संस्कृति सामाजिक जीवन के बहिर्दृश्य रूपों, क्रिया-कलापों और निष्पन्न कृतियों का दूसरा नाम है। इन दोनों पक्षों में कुछ वैसा ही संबंध है जैसे

व्यक्तिगत अनुभव की परम्परा में अनेक संस्कारों की समूहभूत वासना की आंतरिक प्रेरणा का अनुभव की अनेक वास्तविक उपलब्धियों से, या कि जैसे आत्मा का शरीर से। आत्मा शरीर को शक्ति और अन्विति प्रदान करती है। किन्तु शरीर आत्मिक व्यापार का साधन है और आत्मा को एक दृश्य और स्पृश्य रूप में प्रतिष्ठित करता है और उसके लिए आत्मबोध को उसी तरह संभव बनाता है जैसे मुख के लिए दर्पण। परन्तु शरीर सब समय बदलता रहता है और भंगुर है। व्यक्ति की स्थिरता केवल आत्मा के द्वारा ही संभव है और आत्मा में ही व्यक्ति के जीवन का मूल और मूल्य खोजे जा सकते हैं। यदि संस्कृति का अध्ययन हमारे लिए आत्मज्ञान का प्रयास है तो अतीत में हमारी सफलताएँ और वैफल्य एक अदृष्ट आंतरिक जीवन के लक्षण और प्रतीक के रूप में सार्थकता प्राप्त करते हैं, एक ऐसे अदृष्ट आंतरिक जीवन के जिसका स्वरूप एक आध्यात्मिक निष्ठा है और जो परम्परा द्वारा वर्तमान रहता है।

सामाजिक अनुप्रदाय के रूप में संस्कृति का निस्संदेह एक भौतिक पक्ष भी है। हर समाज की परम्परा में कृत्रिम पदार्थों का एक संसार विद्यमान रहता है जैसे कि औजार और हथियार, कलाकृतियाँ इत्यादि। किन्तु संस्कृति के अंग बननेमें ये भौतिक पदार्थ एक संगठित संसार के अंग और मानव-प्रयोजनों के मूर्त रूप बन जाते हैं। संस्कृति के अंदर उनका प्रवेश स्वरूपतः नहीं किन्तु व्यंजकतया होता है। उनकी भौतिकता उनकी सांस्कृतिकता की ओर एक पारदर्शक आवरण बन जाती है। इमारतों या हथियारों को हम पत्थर या लोहे के होने के कारण ही संस्कृति का अंग नहीं मानते हैं। किसी चेतन प्रवृत्ति के साधन अथवा कृति होने के कारण ही उनकी संस्कृति में गणना करते हैं। संस्कृति के भौतिक पक्ष की सार्थकता इसी में है कि वह मानव-चेतना से अभिसंस्कृत है। और, यह सार्थकता एक विशिष्ट तथा सुसंगठित सामाजिक अनुभव के संसार के अंदर ही होती है। प्राचीन ग्रीक वास्तुकला की उसी शिखरीभूत कृति को कुछ तुर्क बारूदखाने के रूप में भी प्रयोग कर सकते थे। किसी इमारत का सांस्कृतिक मूल्य सदैव देखनेवालों के मन की अपेक्षा रखता रहा है।

यह कहा गया है कि भौतिक परिस्थिति ही किसी सामाजिक परम्परा की उत्पत्ति और वृद्धि का सबसे मौलिक कारण है और प्राकृतिक वातावरण के प्रभावों पर जोर डालकर यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि किसी भी समाज का मुख्य इतिहास उसके भूगोल से उद्भूत होता है। इस मत के प्रतिपादक भूल जाते हैं कि उसी समान भौतिक वातावरण की ओर मनुष्य की प्रतिक्रिया एक से अधिक रूप में हो सकती है और फिर भौतिक प्रकृति अनेक अंशों में एक सम्भावना का

क्षेत्र अधिक है, परिनिष्ठित और परिच्छिन्न प्रभावों का क्षेत्र कम। इन संभावनाओं का वास्तविक व्यापार मानव-सभ्यता की अवस्था और दिशा पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए उत्तरी योरोप में ठंडी जलवायु का मनुष्यों की कार्यशीलता पर रेनडियर काल में कुछ और प्रभाव था और आज एयरकंडिशनिंग के युग में कुछ और। बाह्य प्रकृति की चुनौती का मानव-उत्तर रहा है—उसके वशीकार का प्रयास। यह सच है कि मनुष्य का प्रकृति पर वशीकार निरन्तर उन्नति नहीं करता गया है और अभी भी पूर्णता से बहुत दूर है किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सभ्य समाज में बाह्य प्रकृति की विशुद्ध प्रेरणा ने मनुष्य की चेतना का रूप निर्धारित किया है या कि आध्यात्मिक क्षेत्र में उसके महत्त्वपूर्ण कार्यों का ही स्वरूप-निर्णय किया है। यहाँ पर यह प्रतीत हो सकता है कि संस्कृति की भौगोलिक व्याख्या के विरोध में जो युक्तियाँ दी गई हैं वे उत्पादन-पद्धति-परक मार्क्सवादी दृष्टि का समर्थन करती हैं क्योंकि मनुष्य को प्रकृति के ऊपर जिस वस्तु से प्रभुत्व मिलता है वह है भौतिक साधनों की उन्नति। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य की स्वाधीनता और संस्कृति की सिद्धि मूलतः विज्ञान-कौशल (technology) पर निर्भर है। अपने "अर्थनीति का आलोचन" की भूमिका में मार्क्स ने मन्तव्य प्रकट किया है कि सामाजिक सत्ता सामाजिक चेतना को निर्धारित करती है। विज्ञान-कौशल की अवस्था उत्पादन के साधनों का निर्णय करती है और तदनुसार वे सामाजिक सम्बन्ध निर्णीत होते हैं जिनमें मनुष्य अपनी अर्थपरक चेष्टाओं के कारण प्रविष्ट होता है। उत्पादन की प्रणाली और सम्बन्धों को ही सामाजिक सत्ता का सार कहा जा सकता है। इसीके अनुरूप व्यावहारिक और राजकीय संस्थाओं का आविर्भाव होता है। धर्म और दर्शन, साहित्य और कला ऊपर की मंजिल की तरह से उत्पत्तिशः गौण हैं। इन्हीं से निर्मित द्वितीयभूमिक सत्ता सामाजिक चेतना कहलाती है। उसमें वही सब मौलिक स्वार्थ-भेद और संघर्ष प्रतिबिम्बित होते हैं, जो तलगत सामाजिक सत्ता में अन्तर्निहित हैं। संघर्षयुक्त सामाजिक सम्बन्धों का यथार्थ ही वह बुनियाद है जिसपर सामाजिक आदर्शों की चेतना एक महल की तरह से खड़ी है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मनुष्य के दैनिक जीवन के रूप-निर्धारण में विज्ञान-कौशल और आर्थिक सम्बन्ध बहुत बड़ा भाग ग्रहण करते हैं क्योंकि दैनिक जीवन प्रायः जीविकार्जन में ही बीतता रहा है। प्रस्तरयुग के शिकारी, ताम्रयुग के किसान और यंत्रयुग के मजदूर अपना समय अत्यन्त विभिन्न वातावरण में यापित करते रहे हैं। और, अधिकांश राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं के विषय में उनके धार्मिक परिवेश को छोड़कर आलोचना नहीं की जा सकती जिनमें वे जन्म लेती हैं और कार्य करती हैं। समाज और संस्था के निर्माण में उत्पादन-कौशल और आर्थिक कारकों का महत्त्व अब सामान्यतया स्वीकार किया जाता है किन्तु साथ-ही-

साथ हमें उन सीमाओं का निर्धारण करना है जिनके अन्दर टेकनॉलोजी और आर्थिक कारण संस्कृति के अन्य पहलुओं को निर्धारित करते हैं और इस प्रसंग में निर्धारण का अर्थ भी पर्यालोचनीय है। यद्यपि संस्कृति के विभिन्न पहलुओं में एक प्रकार की समन्विति विद्यमान रहती है तथापि इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सामाजिक व्यापार के विविध क्षेत्रों में अपनी-अपनी स्वाधीन गति होती है। संस्कृति की ऊँची शाखाओं के विषय में यह विशेष रूप से सच है। धर्म और दर्शन, कला और संस्कृति एक अपनी अंतर्निहित गतिशक्ति और गतिक्रम से विकसित होना चाहते हैं। उनकी सामाजिक अभिव्यक्ति में साधक अथवा बाधक बनकर भौतिक परिस्थितियाँ विचारों तथा आदर्शों के स्वाभाविक और द्वन्द्वात्मक (dialectical) विकास में प्रभाव डालती है।

किसी संस्कृति की भौतिक परिस्थितियाँ उसकी संघटना अथवा संस्थान का साधन-पक्ष चित्रित करती हैं। मनुष्य अपने दैनिक जीवन के उपादान को अपने उच्च आदर्शों की अपेक्षाओं से गढ़ते हैं। हमें उन पर निर्णय उनकी अभीप्सा और प्रेरणा के स्वरूप से अधिक देना चाहिए, उनके यथार्थ में कार्यान्वित होने से कम, क्योंकि हमारे लिए मनुष्य के हृदय और आत्मा का अधिक महत्त्व है और उनकी बाहरी जीवन की भंगुर अभिव्यक्ति का कम। नश्वर और भौतिक जगत् में अवस्थिति की आकस्मिक घटनाओं से आध्यात्मिक भाग्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपने गम्भीरतम रूप में संस्कृति का अध्ययन मनुष्य के आध्यात्मिक भाग्य का प्रकाशन होना चाहिए।

आचरण की सार्थकता जीवन का तत्त्व है और जीवन का परमार्थ सुख की प्राप्ति है। युग-युग से मनुष्यों ने सुख के स्वरूप को परिभाषित करने का यत्न किया है और उसकी प्राप्ति के उपायों को खोजने का। मनुष्य की कहानी सुख की खोज में इस यात्रा का ही विवरण है जिसमें कि साध्य और साधन अनुभव के बढ़ने के साथ विकसित हुए हैं। किन्तु इतिहास तर्कशास्त्र नहीं है और उसकी स्वच्छन्द गति को पूरी तौर से किसी भी गतिशास्त्र के अन्दर नहीं बाँधा जा सकता चाहे वह हेगेलियन हो चाहे मार्क्सियन।

मनुष्य पूर्णतया बौद्धिक प्राणी नहीं है और संस्कृति के इतिहासकार को भावनाएँ और आग्रह, अज्ञान और संयोग—इन सबकी शक्ति का भी विचार करना होगा। ज्ञान का सर्वांगीण अथवा संतत विकास नहीं हुआ है, और न ही उपलब्ध ज्ञान ने हमेशा पूरी तौर से भावनाओं और आचरण के व्यवहारिक रूप को अनुप्राणित किया है और, फिर आकस्मिक घटनाएँ अनेक बार सभ्यता की नाज़ुक कहानी पर दुर्भाग्य सी टूट पड़ी हैं। कोई भी ईमानदार इतिहासकार यह नहीं सोच सकता कि उसके निरूपण में तर्क-पद्धति की अनिवार्यता है या कि कला-सुलभ एक निराली और सूक्ष्मतर अतर्क्य

प्रणाली है। मानव अतीत के उलझे और खंडित ब्यौरे में बुद्धि को पराजित करने वाली अहेतुकता की एक प्रतीति दुर्निवार है। सच तो यह है कि मानव-जीवन और इतिहास में सार्थकता और निरर्थकता, बुद्धिग्राह्य सहेतुकता और बुद्धिविमोहक आकस्मिकता की मिली-जुली प्रतीति होती है और इसका कारण यह है कि मानव-जीवन एक साथ ही भौतिक भी है, आध्यात्मिक भी; कार्य-कारण;-नियत प्राकृतिक जगत् में होते हुए भी एक अप्राकृत अथवा लोकोत्तर लक्ष्य की ओर उद्दिष्ट है। यदि हम मनुष्य को एक देही मात्र मानें तो उसकी सत्ता एक यंत्रवत् और जड़-जगत् के एक विशाल निर्जीव विस्तार में सर्वथा महत्त्वहीन हो जायगी। यदि मनुष्य एक विशुद्ध प्राकृत प्राणी है और हम सब प्रकृतिवादी हैं तो इतिहास कार्य-कारण की एक नियत श्रृंखला है, उतनी ही दुर्भेद्य जितनी कि क्षुद्र और तुच्छ। वस्तुतः ऐसी स्थिति में इतिहास अब भौतिक अथवा प्राणि-विज्ञान का अंग .बन जायगा क्योंकि मनुष्य और समाज सिर्फ प्राकृतिक संस्थान रह जायँगे। "प्राकृतिक इतिहास" जिन विद्याओं को कहते हैं उन्हें क्रम और सार्थकता विकास के सिद्धांत से प्राप्त होती है किन्तु ठीक-ठीक कहने पर विकास के अन्दर लक्ष्य, प्रेरणा और चेतना निहित हैं। लेकिन, हमें पहले सांख्य से एकमत होकर कहना होगा कि प्रकृति का विकास पुरुष के लिए होता है और फिर अंततोगत्वा यह कहना होगा कि परमार्थतः प्रकृति और पुरुष अभेद्य होने चाहिए।

हम प्रकृति-बद्ध प्राणियों के रूप में जन्म ग्रहण करते हैं और यह नहीं जानते कि किस लक्ष्य के लिए व्यग्र रहते हैं। परन्तु, विकास की सारी प्रक्रिया इस ओर है कि यद्यपि आत्मा की अपनी स्वतंत्रता, ज्ञान और पूर्णता में अभिव्यक्ति पशु जीवन में अबोध पूर्वक विकास द्वारा प्रकट होती है तथापि मनुष्य जीवन और समाज में प्रगति के लिए घोर प्रयास किये बिना विकास संभव नहीं। और इसी कारण इतिहास में प्रगति प्रकृति का नियम नहीं है। गतिरोध तथा विपरीत गति इतिहास में उतने ही लक्षित किए जा सकते हैं जितनी कि प्रगति। देही और प्राणी होने के नाते मनुष्य एक जड़ और अभ्यस्त चक्रसरीखा यांत्रिक जीवन व्यतीत करता है, जिसमें क्रियाएं और अनुभूतियाँ एक अंतहीन क्रम से अपने को दुहराती जाती हैं और जहाँ कि इतिहास सही अर्थ में है ही नहीं बल्कि चक्राकार प्राकृतिक समय का ही राज्य है। मानसिक और आध्यात्मिक विकास की एक उन्नत अवस्था में ही प्रत्येक अनुभव की स्वलक्षणता सार्थक रूप से स्पष्ट होती है। ऐतिहासिक परम्परा की विलक्षणता और प्रगति की संभावना तभी प्रासंगिक होती हैं जब कि मनुष्य का आध्यात्मिक इतिहास निरूपणीय हो।

मनुष्य की इस द्विस्वभावता का यह परिणाम है कि संस्कृति के विकास में हमेशा ही एक आंतरिक और एक वाह्य कारण-परम्परा विचारणीय रहती है। प्रत्येक संस्कृति का प्रारम्भ एक विशिष्ट आध्यात्मिक विकास की अवस्था तथा प्राकृतिक

सीमाओं के अनुकूल साध्य और साधनों की धारणा के साथ होता है। संस्कृति का प्राण उसके समस्त विकास के मूल में स्थित वह दृष्टि है जो मनुष्य के परमार्थ-सुख और उसकी प्राप्ति के साधनों का समष्टि रूप में निर्देश करती है। इस प्रारम्भिक निर्देशन और निष्ठा की तर्कसम्मत व्याख्या और व्यवहारयोग्य विशदीकरण के द्वारा संस्कृति का विकास होता है। इसमें कुछ हाथ बाहरी चुनौतियों को जवाब देने की आवश्यकता का भी होता है। जब तक एक संस्कृति जीवित रहती है उसमें अपने वातावरण से तत्त्वाहरण और नवीन सृष्टि के द्वारा विकसित होने की क्षमता रहती है। किन्तु यह स्मरणीय है कि सांस्कृतिक तत्वाहरण कभी भी दो विभिन्न संस्कृतियोंका संश्लेषण नहीं हो सकता। जिसे प्रायः सांस्कृतिक समन्वय कहा जाता है वह वस्तुतः एक जीवन्त संस्कृति के द्वारा अपने प्रयोजनोंके अनुरूप साधनों का आत्मासात्करण होता है। यदि एक संस्कृति मौलिक साध्यों को उधार ले ले तो यह कहना होगा कि वह मुमूर्षु है और दूसरी संस्कृति उसके गर्भ से अथवा उसके स्थान पर जन्म ग्रहण कर रही है। किसी भी संस्कृति की एकता उसके परमार्थिक आदर्शों की एकता होती है और वह तभी तक जीवित रहती है जब तक स्वातन्त्र्यपूर्वक नई सृष्टि कर सकती है और अपनी निजी दिशा में विकसित हो सकती है।

भारतीय संस्कृति के लिए मूल तत्त्व रही है आध्यात्मिक साधना की एक जीवन्त परम्परा जिसके द्वारा पारमार्थिक अभेद का अधिकाधिक साक्षात्कार होता आया है। इसमें अनुभव की अन्तर्मुखी और ऊर्ध्वमुखी वृद्धि होती रही है जिसने परिच्छिन्न भेदमय जगत् से अपरिच्छिन्न अभेद की ओर द्वार खोला है। इस विद्या का गुरु-शिष्य-परम्परा के द्वारा विकास होता रहा है। वेदान्त–सम्मत ज्ञान और योग-सम्मत क्रिया भारतीय संस्कृति के प्राण रहे हैं। संस्कृति की इस लोकोत्तर प्रेरणा से ही वैराग्य और संन्यास, तितिक्षा और सहिष्णुता, अहिंसा और करुणा, समन्वय और उदारता के महत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ है। एक पारमार्थिक अभेद-दर्शन के ही कारण व्यक्तिगत और सामाजिक भेदों की ओर भारतीय इतिहास में इतनी उदार सहनशीलता रही है। योग में यह स्वीकार करना अनिवार्य है कि भिन्न मनुष्यों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ भिन्न होती हैं और उनके लिए अनुकूल उपाय अपेक्षित हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में सर्वसाधारणता और औसत का हिसाब काम नहीं दे सकता। वहाँ स्वभावसिद्ध वैलक्षण्य परम नियामक होता है। इस तत्त्व के ठीक-ठीक बोध होने के कारण ही भारतीय धार्मिक और सांस्कृतिक परम्पराओं में सबके लिए समान मार्ग का आग्रह नहीं है।

बाहर से भारतीय संस्कृति के लिए प्रमुख चुनौती विदेशी आक्रमण रहे हैं। उनके उत्तर में बार-बार उदार समन्वय का यत्न किया गया है किन्तु साथ ही साथ विषमताओं और असमन्वित संघर्षों में वृद्धि हुई है जिन पर अक्सर मन समझाने

अर का आवरण डाल दिया गया है। एक सर्वांगीण समन्वित सामाजिक संस्थान की खोज ने सदा उपस्थित सुरक्षा की खोज की कठिनाइयों को और जटिल बना दिया है। इन्हें हल करने के लिए विभिन्न भौतिक और सामाजिक साधनों का विभिन्न युगों में आविष्कार हुआ है।

भारतीय संस्कृति व्यक्तित्व के एक कल्पनाशील और भावनाप्रवण, उदार और सौम्य आदर्श पर जोर देती रही है। यह आदर्श देश के प्रत्येक युग के महान् नेताओं में, बुद्ध से गाँधी तक, प्रत्यक्ष होता रहा है। भारतीय संस्कृति का जीवित रहना ऐसे महापुरुषों को अवतारित करने की शक्ति के साथ बँधा हुआ है। अन्य आध्यात्मिक प्रक्रियाओं के बोध की भाँति संस्कृति का बोध भी उसमें वस्तुतः अथवा मनस्तः भाग ग्रहण करने के द्वारा ही हो सकता है। इतिहासमें प्रस्तुत संस्कृति का विवरण व्याख्यात्मक हो सकता है अथवा व्यंजनापूर्ण सार्थक वर्णन। दोनों ही दशाओं में यदि पाठक स्वयं संस्कृति के मूल आकरों से अथवा जीवन्त यथार्थ से अपरिचित हो तो उसका बोध निरे ऐतिहासिक विवरण से अपूर्ण रहेगा। सांस्कृतिक तथ्यों का वर्णन अथवा आलोचना तभी पाठक के लिए ठीक-ठीक सार्थक हो पाती है जब उन तथ्यों से पाठक का कम से कम अंशतः साक्षात् परिचय हो। उदाहरण के लिए बिना काव्य अथवा दर्शन पढ़े उनका इतिहास-गत सामान्य विवरण पढ़ना बहुत लाभकर नहीं है।

अनेक प्राचीन ग्रंथों के रचना-काल के अनिश्चित होने के कारण तथा प्रस्तुत इतिहास के अन्तर्गत देश और समय के विपुल विस्तार की तुलना में उपलब्ध तथ्यों की न्यूनता के कारण प्राचीन भारतीय संस्कृति का सूक्ष्म अथवा असंदिग्ध युग-विभाजन करना कठिन है। वंशावलियों का तिथि-क्रम सांस्कृतिक इतिहास के लिए पूर्णसार्थक तिथि-क्रम नहीं बन सकता। मौलिक सांस्कृतिक परिवर्तन मंद गति से समुपबृंहण, रूपान्तरीकरण तथा पुर्नव्याख्यान के द्वारा हुआ है, क्रान्तिकारी अन्यथाकरण के द्वारा नहीं। सामाजिक-आर्थिक तथा निर्माण-पद्धति-जन्य परिस्थितियाँ अल्प परिवर्तन के साथ दीर्घ युगों तक संरक्षित रही हैं। दूसरी ओर व्यक्तियों और घटनाओं तथा वास्तविक नियम-विस्तर के विषय में हमारी सूचना अत्यन्त दरिद्र है। हमारे मुख्य साहित्यिक आकर, अनामक और अतिथिक हैं। उनमें विचारों और आदर्शों की अभिव्यक्ति है, न कि सामाजिक अथवा कानूनी यथार्थ की। ऐसी परिस्थितियों में भारत की प्राचीन संस्कृति का ऐतिहासिक विवरण युगक्रम के अनुसार कठिन है।

प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय संस्कृति के एक समन्वित रूप को बुद्धिस्थ करके उसके अन्तर्गत भेदों का यथा-संभव ऐतिहासिक विकास दिखलाया गया है।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त और विशद परिचय देने में समर्थ होगी। हिन्दी में प्रकाशित इस प्रकार की अन्य पुस्तकों से निस्संदेह यह अधिक सफल है तथा अँग्रेजी में भी समान आकार और प्रयोजन की इससे तुलनीय पुस्तकें विरलें ही हैं।

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय।

गोविन्द चन्द्र पाण्डेय

विषय-सूची

---

* तारांकित अंश डॉ० ब्रजनाथ सिंह यादव द्वारा लिखे गये हैं शेष डॉ० लल्लनजी गोपाल ने लिखे हैं।

गोरखपुर विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत
भारतीय संस्कृति का पाठ्यक्रम

1. The pattern of Indian Culture, its meaning and formation.
2. Social Institutions; domestic life and organisations; important Samskaras; Varnasrama organisations; the village and corporate life; the position of women.
3. Education : ideals, methods and subjects (Vidyas and Kalas).
4. Principal religions of India and their contribution to Indian culture.
5. A brief outline of Indian literature; (a) Sacred literature, the Vedas and Upanishads; the Gita and the Puranas; the Tripitakas, the Jaina Agama (b) Indian literary classics, Vyasa, Valmiki, Kalidasa, Tulsidasa, Rabindranath Tagore.
6. Outline of Indian art; Buddhist sculpture and architecture; Ajanta, Hindu Temple architecture; Mughal architecture and modern trends.
7. Dance, Drama and Music in Indian life.
8. The impact of West on Indian culture.
9. Science and its impact on life.

भारतीय संस्कृति

अध्याय १

भारतीय संस्कृति : विशेषताएँ और विकास

भारत का अतीत अति गौरवपूर्ण था। उसकी संस्कृति का प्रकाश दूर-दूर के देशों में फैला हुआ था। एशिया के कई देशों ने प्राचीन काल में भारत से सभ्यता का पाठ पढ़ा था। ऐसी प्रगति पर किसी भी देश को गर्व हो सकता है।

आज भी विश्व में भारत के प्राचीन गौरव के लिये श्रद्धा है। विश्व के इतिहास में जो विषम परिस्थिति उपस्थित हुई है उससे बचने के लिये वह भारत की ओर ही आशा पूर्ण नेत्रों से देख रहा है। अपनी सांस्कृतिक-निधि के कारण भारत इस स्थिति में है कि विश्व का पथ-पदर्शन कर सके। इसीलिये भारत के सांस्कृतिक सन्देश को अच्छी प्रकार से सुनने और समझने की आवश्यकता है।

भारतीयों का भी अपने अतीत के प्रति अनुराग बढ़ रहा है। यह भावना सुन्दर तो है लेकिन यही सब कुछ नहीं है। हमारा अतीत भव्य था, यह ठीक है। लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि अपने अतीत के उत्कर्ष से हम स्फूर्ति लें और देश के पुनरुज्जीवन के लिये अपने भविष्य को भी स्वर्णिम बनाने के लिये प्रयत्न करें। खेद की बात लेकिन यह है कि कुछ वर्गों में मिथ्याभिमान की भावना जो प्रगति में बाधक होती है बढ़ रही है। कुछ व्यक्ति इसी से सन्तोष पाते हैं कि सभी प्रकार के आधुनिक आविष्कारों और संस्कृति के तत्त्वों को प्राचीन भारत में ही उत्पन्न हुआ सिद्ध करें। इसीलिये यह और भी आवश्यक हो जाता है कि हम अपनी संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों का आलोचनात्मक अध्ययन करें, उनके गुणों और उनकी विशेषताओं को समझें और पिछली त्रुटियों और भूलों को सुधार कर अपने प्राचीन गौरव के अनुरूप ही अपने वर्तमान को सुधारें और भविष्य का निर्माण करें।

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

प्राचीनता—भारतीय संस्कृति का इतिहास अति प्राचीन है। इस संस्कृति की कथा विश्व की अनेक प्रसिद्ध प्राचीन संस्कृतियों से बहुत पहले प्रारंभ होती है। इस

संस्कृति के कई विशिष्ट और प्रमुख अंगों का विकास ईसा से कई शताब्दियों पूर्व हो गया था। जब कि विश्व के अन्य देशों में बर्बरता व्याप्त थी, इस देश में संस्कृति का आलोक पूर्ण-प्रखरता से फैल चुका था। ग्रीस (यूनान) और रोम की सभ्यताओं के जन्म और विकास की कहानी भारतीय संस्कृति के उद्भव के बाद प्रारंभ होती है। आधुनिक काल में जो उत्खनन (Excavations) हरप्पा, मोहेंजोदड़ों और दूसरे स्थानों पर हुए हैं, उनसे भारतीय संस्कृति की प्राचीनता और भी बढ़ जाती है, और उसे मिस्र, मेसोपोटामिया और दूसरी नदी-घाटी की सभ्यताओं की समानता प्राप्त हो जाती है।

चिरस्थायिता भारतीय संस्कृति की दूसरी प्रमुख विशेषता है। यह विशेषता प्राचीनता के ही समानान्तर चलती है। भारतीय संस्कृति की धारा अक्षुण्ण है और बिना रुके अभी तक बहती चली आ रही है। निश्चय ही समय-समय पर भारतीय संस्कृति में नये-नये तत्त्वों का समावेश होता रहा है, किन्तु इसका मूल और आन्तरिक स्वरूप सदैव एक ही रहा है। शताब्दियों के परिवर्तनों के बाद भी भारतीय संस्कृति की आत्मा वही रही है। सांस्कृतिक तत्त्वों की परम्परा का अबाधित होना भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है जो अन्य देशों की सभ्यता में दुष्प्राप्य है। भारत का अतीत उसके वर्तमान में जीवित है। भारतीय संस्कृति के विभिन्न शताब्दियों के इतिहास एक ही सूत्र में पिरोये हुए हैं। इस विशेषता का वास्तविक महत्त्व तब मालूम होता है जब हम इसका अध्ययन अन्य देशों की संस्कृति की तुलना की पृष्ठभूमि में करते हैं। रोम, यूनान, सुमेर और बैबीलोनिया की भव्य संस्कृतियाँ नष्ट होकर अतीत की कथा मात्र रह गईं। मिस्र की गौरवपूर्ण सभ्यता के तत्त्व उस देश की सांस्कृतिक स्मृति से पूर्णतया विलुप्त हो गये थे। आधुनिक मिस्र के निवासी को उसके देश की ही प्राचीन सभ्यता आज विदेशी प्रतीत होती है, आज के जीवन से वे उसमें कोई साम्य नहीं पाते। इन सबके विपरीत आधुनिक भारत के सांस्कृतिक जीवन के मूल आधार अब भी वही हैं जो प्राचीन भारत में थे। इतने वर्षों के बाद भी संस्कृत-भाषा और उसका साहित्य भारतीयों के लिए मृत नहीं है। आज भी संस्कृत-साहित्य भारतवर्ष के लिए सांस्कृतिक चेतना एवं स्फूर्ति का स्रोत बना हुआ है। आधुनिक भारत की भाषाएँ संस्कृत से उत्पन्न हुई हैं, संस्कृत भाषा ही उनके उद्भव एवं विकास का मूल स्रोत है। इसी प्रकार वैदिक काल से आधुनिक काल के सभी प्रमुख दार्शनिकों और दर्शन-सिद्धांतों में विवेच्य प्रश्नों और उनके प्रति दृष्टिकोण में आश्चर्यजनक साम्य और तारतम्य की परम्परा दृष्टिगत होती है। भारतीय संस्कृति के इतिहास की इस लम्बी अवधि में सदैव ही रामायण, महाभारत और गीता के आदर्शों ने सामाजिक जीवन को प्रभावित किया है। इतने सब विदेशी प्रभावों के होते हुए आज भी एक भारतीय का जीवन गृह्य-सूत्रों और दूसरे धार्मिक ग्रन्थों पर आधारित है।

भारतीय संस्कृति की इस विशेषता के आधार भूत कारणों की विवेचना करते हुए इस संस्कृति के अन्य प्रमुख तत्त्वों का अध्ययन भी करें।

सहिष्णुता भारतीय संस्कृति की सर्व प्रसिद्ध विशेषता है। अपने इसी गुण के कारण भारतीय संस्कृति अब तक सजीव और सक्रिय बनी हुई है। भारतीय संस्कृति के इस गुण का महत्त्व इसलिए और अधिक बढ़ जाता है क्योंकि सभ्यता का दम्भ भरने वाले कई देशों ने आधुनिक काल में भी विरोधी धर्म, समाज और वर्ग के प्रति असहिष्णु होकर बर्बर लोगों जैसे व्यवहार किये हैं। इतिहास के पृष्ठ ऐसी शोचनीय घटनाओं से भरे पड़े हैं। जरा से मतान्तर के कारण ही निरीह लोगों की हत्या से कई देशों और धर्मों ने अपने को अपयश का भागी बनाया है। ऐसी धर्मान्धता और संकुचित दृष्टिकोण का अभाव, भारतीय संस्कृति की प्रमुख एवं गौरवपूर्ण विशेषता है।

सभी धर्मोंके प्रति सहिष्णुता की इस भावना का रहस्य भारतीय संस्कृति के उस प्रमुख विचार में मिलता है जिसके अनुसार सर्वशक्तिमान् ईश्वर अव्यक्त और अचिन्त्य है जो मानव बुद्धि के परे है, और विभिन्न धर्म और उपासना-पद्धतियाँ उस ईश्वर तक पहुँचने के मार्ग हैं। गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।

अर्थात् 'हे पार्थ! सभी मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं।' इस विचार में आस्था एवं विश्वास होने के कारण धार्मिक वैमनस्य की संभावना समाप्त हो जाती है। लक्ष्य के एक होने पर साधन की विभिन्नता गौण हो जाती है। इस भारतीय विश्वास का सर्व प्रथम प्रतिपादन ऋग्वेद के एक वाक्य में मिलता है जिसके अनुसार सत् एक है—एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋग्वेद)—किन्तु ज्ञानी लोग उसका बहुत प्रकार से वर्णन करते हैं। इसी विचार को गीता में श्रीकृष्ण ने कई स्थल पर व्यक्त किया है। जैन-धर्म ने तो सहिष्णुता की भावना को दार्शनिक रूप से प्रतिपादित किया है। जैन-सिद्धांत के अनुसार किसी भी कथन में पूर्ण सत्य नहीं होता। किसी भी विषय पर सब प्रकार के कथन हो सकते हैं और अपने विषय-दृष्टिकोण से सभी कथनों में कोई न कोई सत्य निहित होता है। सहिष्णुता के इस आदर्श को सही रूप में मानने वाले सम्राट अशोक ने अपने द्वादश शिला-अभिलेख में बड़े ही सुगम और सुन्दर रूप से लोगों के सम्मुख रखा है। भारतीय इतिहास में धार्मिक विद्वेष के जो स्थल मिलते हैं वे अपवाद मात्र ही हैं; अन्यथा विभिन्न सम्प्रदाय और मत-मतान्तर परस्पर मित्रता और सहिष्णुता के साथ रहे हैं। केवल भारतीय धर्म ही नहीं अपितु विदेशों से आये धर्म भी सदैव भारत में उदार व्यवहार के भागी हुए हैं। इसीलिए विदेशों में संहार और आघात से पीड़ित कई धर्म के अनुयायियों ने भारत में शरण ली और उनका उन्मुक्त सत्कार हुआ।

ग्रहणशीलता—इसी विशेषता से संबंधित दूसरी विशेषता यह है कि भारतीय संस्कृति अपने को विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल बनाने और बाह्य प्रभावों से कुछ तत्त्व ग्रहण करके चिर नूतन और चिर सक्रिय बनी रही है। बाह्य तत्त्वों को आत्मसात् कर भारतीय संस्कृति ने समय के अनुकूल अपने को बनाया। इसी कारण अन्य प्राचीन संस्कृतियों के विपरीत भारतीय संस्कृति आज तक जीवित रह सकी। स्थिरता अथवा जड़ता से कोई भी वस्तु कुछ काल के बाद समाप्त हो जाती है। नये बाह्य-तत्त्व उसे सभी परिस्थितियों में जीवित रहने की शक्ति देते हैं। इसी गुण के कारण भारत की संस्कृति विभिन्न बाह्य आक्रमणों से नष्ट नहीं हुई। इन आक्रमणकारियों की सुविधा के लिए कुछ परिवर्तन कर भारतीय संस्कृति ने उन्हें भी अपना बना लिया। भारत में जो भी आक्रमणकारी जातियाँ आईं वे इसके प्रभाव से ऐसी रंग गईं कि अपना पृथक अस्तित्व बिल्कुल ही खो बैठीं। सामाजिक-जीवन, वेश-भूषा, खान-पान, शासन-व्यवस्था, भाषा, कला और धार्मिक आदर्शों एवं सिद्धान्तों पर इन विदेशी आक्रमणकारियों के प्रभाव के कुछ अंशों को हम सरलता से देख सकते हैं। विदेशियों से इन तत्त्वों को ग्रहण करने में भारतीय संस्कृति ने कोई संकुचित दृष्टिकोण नहीं दिखलाया। किसी भी स्थान अथवा स्रोत से ग्राह्य वस्तु को स्वीकार करने में भारतीय संस्कृति अपनी हीनता नहीं समझती थी बल्कि निःसंकोच ऐसे ऋण को स्वीकार करती थी। इस प्रवृत्ति का सुन्दर उदाहरण हमें वराहमिहिर नाम के प्राचीन खगोल-विशेषज्ञ के कथन में मिलता है जहाँ यवनों को म्लेच्छ बतलाते हुये भी वह स्वीकार करता है कि उनमें ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान होने के कारण वे ऋषियों की तरह आदर के पात्र हैं। इस सहिष्णुता के कारण जो विभिन्न जातियों और धर्मों का भारत में सम्मिश्रण हुआ उससे भारतीय संस्कृति में विशालता, व्यापकता और विविधता आई। भारत में प्रचलित भाषाओं की संख्या १७९ और बोलियों की ५४४ बतलाई जाती है। इसी प्रकार से छोटी-बड़ी सभी जातियों की संख्या जोड़ने पर २००० के लगभग पहुँचती है। भारत के लोग किसी एक ही नस्ल के नही हैं। आर्य, द्रविड़, किरात, मुण्डा और दूसरी नस्लों के परस्पर सम्मिश्रण से यहाँ कई मिश्रित नस्लें भी बनी हैं। भारतवर्ष को उसके आश्रय में पले धर्मों की अधिकता के कारण धर्मों के संग्रहालय की संज्ञा दी जा सकती है। इसी प्रकार रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा और सामाजिक विधानों में भी स्थान-स्थान पर हमें भेद के दर्शन होते हैं।

सांस्कृतिक एकता—कुछ विदेशी विद्वानों ने इस विविधता के वन में फँस कर यह संशय किया है कि भारत केवल एक भूखण्ड मात्र है और इसकी संस्कृति में एकता का अभाव है। किन्तु यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है। निश्चय ही इन सभी विविधताओं के पीछे एक मौलिक और आधारभूत एकता दिखलाई पड़ती है। विभिन्न प्रकार की भौगोलिक दशाओं के होते हुए भी यह सुस्पष्ट है कि उत्तर में हिमालय की

उत्तुङ्ग पर्वतमाला और दक्षिण में हिन्द महासागर की तरङ्गों ने भारत को एक पृथक भौगोलिक इकाई बना दिया है। प्राचीन काल से ही भारतवासी सम्पूर्ण भारत की एकता को मानते आ रहे हैं। भारत की एकता और अखण्डता भारतीयों के धार्मिक विश्वास से स्पष्ट परिलक्षित हैं। उनकी पवित्र सात नदियाँ, पर्वत और पुरिकाएँ देश के विभिन्न भागों में स्थित हैं और देश के एक भाग के निवासी दूसरे प्रदेश के पवित्र स्थानों के लिये समान श्रद्धा और प्रेम की भावना रखता है। उदाहरण के लिये इन सात पवित्र नदियों में गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी के नाम हैं। लेकिन गोदावरी, नर्मदा और कावेरी को पवित्र समझने वालों के लिये गंगा, यमुना, सिन्धु और सरस्वती भी उतनी ही पावन हैं। इस प्रकार से भारतीयों के समक्ष भारत की एकता की कल्पना सदैव मूर्तिमान रहती थी। प्राचीन काल में यातायात की असुविधा के समय भी पर्यटक, धर्मोपदेशक, तीर्थ यात्री और विद्यार्थी इस एकता की पुष्टि में सहयोग देते थे। यद्यपि सम्पूर्ण भारत राजनैतिक दृष्टि से एकता के सूत्र में बहुत थोड़े अवसरों पर और अल्पकाल के लिये ही बँध सका था किन्तु राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञों के अनुष्ठान के द्वारा सार्वभौम, सम्राट् और चक्रवर्ती पद के महत्त्वाकांक्षी राजा सदैव इस अनुभूति को व्यक्त करते थे कि भारत का विस्तृत भूखण्ड एक है। भाषाओं की अधिकता होते हुये भी यह बात उल्लेखनीय है कि सभी एक ही साँचे में ढली हुई हैं। अधिकांश की वर्णमाला एक ही है, सभी भाषा पर संस्कृत भाषा का प्रभाव दिखलाई पड़ता है जो उन्हें बहुत अर्थों में समान बना देता है। इसी प्रकार से जो विविध जातियाँ भारत में आईं वे तो कुछ परस्पर सम्मिश्रण के कारण और कुछ एक ही जैसी भौगोलिक परिस्थिति में एक ही जैसे आहार के कारण एक पृथक इकाई बन गये हैं जो संसार के दूसरे प्रदेशों में रहने वालों से स्पष्ट ही भिन्न मालूम पड़ते हैं।

वास्तव में भारत में एकता की भावना का जन्म और विकास अधिकांशतः सांस्कृतिक कारणों से है। भारत के सांस्कृतिक चेतना से पूर्ण धार्मिक-ग्रन्थ एकता को ही प्रश्रय देते हैं। भारत के विभिन्न प्रान्तों के निवासियों से वेद, उपनिषद, स्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत और गीता समान रूप से धार्मिक ग्रंथ के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। ये ही ग्रंथ धार्मिक आदर्श का प्रतिपादन करते हैं। रामायण और महाभारतके पात्र सभी के लिए अनुकरणीय कार्य दिखलाते हैं। उनके आराध्य देवी और देवता भी एक ही हैं। इसी प्रकार से धर्मशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित सामाजिक व्यवस्था भी पूरे देश में एक ही समान है। जाति, वर्ण, भोजन आदि के नियम भी मूल रूप से एकही हैं। दूसरे सामाजिक विषयों में भी प्राचीन ग्रंथोंमें वर्णित व्यवस्था के कारण जो सांस्कृतिक एकता भारतमें दिखलाई पड़ती है वह इतनी गहराई तक चली गई है कि वाह्य रूप से दीखने वाली विविधता के कारण अशक्त हो जाते हैं।

धर्म-प्रधानता—भारतीय संस्कृति धर्म-प्रधान रही है और संसार में अपनी

इसी विशेषता के कारण उसका आदर है। मनुष्य की सभी क्रिया-कलापों का अन्तिम लक्ष्य धर्म-संचय करना है। भारतीय संस्कृति के सभी अंगों, तत्त्वों और स्वरूपों पर उसके धर्म-प्रधान होने की स्पष्ट छाप है। भारत में इसी कारण से स्वर्ग और परलोक को इहलोक की तुलना में अधिक महत्त्व मिला।

कुछ पाश्चात्य विद्वान इसी आधार पर यह दोषारोपण लगाते हैं कि भारतीय संस्कृति में वैराग्य और संन्यासको इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि इहलोक के जीवन के प्रति उदासीनता और इसके फलस्वरूप निष्क्रियता की भावना को प्रश्रय मिला किन्तु एकांगी होने का यह लांछन सही नहीं है। भारतीयों ने सदैव ही पारमार्थिक और व्यावहारिक का अन्तर समझा। पारमार्थिक सुख को सर्वोच्च सुख मानते हुए भी वे जानते थे, इहलोक के सुखऔर कल्याणकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। महाभारत में तो एक स्थान पर कहलाया गया है कि मनुष्य लोक में जो श्रेय है वही परम महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन भारत में व्यापारी धनोपार्जनके लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे और उसके लिए सुदूरस्थ विदेशों की कष्टपूर्ण यात्रा से मुख नहीं मोड़ते थे। महत्त्वाकांक्षी राजा भी दिग्विजय और चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना के लिए कटिबद्ध रहते थे।

सर्वांगीणता—वास्तव में भारतीय संस्कृति ने सर्वांगीण विकास को ही अपना लक्ष्य बनाया है। मनुष्य जीवन की सभी प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर विलक्षण समन्वय की सफल चेष्टा की गई है। भारतीय संस्कृति में मनुष्य के लक्ष्य के रूप में चार पुरुषार्थ बतलाये गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें मोक्ष अन्तिम लक्ष्य है। संसार में मनुष्य को धर्म, अर्थ और काम का ही पालन करना चाहिये। इन तीनों में धर्म को निश्चय ही प्रधानता मिली है किन्तु अर्थ और काम का उचित महत्त्व छीन नहीं लिया गया। कहा भी गया है कि धर्म, अर्थ और काम का समान रूप से पालन करना चाहिये; जो एक ही में लिप्त रहता है वह निन्द्य है। इस प्रकार से भारतीय संस्कृति ने ऐहिक और पारलौकिक तथा शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं का सुन्दर समन्वय किया।

भारतीय संस्कृति का विकास

प्रागैतिहासिक काल--भारत में मानव के अस्तित्व के चिह्न प्रागैतिहासिक काल में भी मिलते हैं। पंजाब में सोननदी की घाटी से प्रारम्भिक-पाषाण काल (४००,००० से २००,००० ईस्वी पूर्व) के पत्थर के औजार प्राप्त हुए हैं। दक्षिणी भारत से भी बहुत से पत्थर के टुकड़े मिले हैं जो आदि मानव के औजार थे।

पूर्व-पाषाण-काल एवं उत्तर-पाषाण-काल की प्रागैतिहासिक संस्कृति के अवशेष देशभर में स्थान-स्थान पर मिलते हैं। पर विकसित संस्कृति के प्रथम अवशेष सिन्धु की घाटी में हरप्पा (पंजाब) और मोहेंजोदड़ो (सिन्ध) नामक स्थानों में ही

प्रचुर रूप में प्राप्त हुए हैं। आजकल ये स्थान पाकिस्तान में हैं। इस संस्कृति की अवधि २८५० ई० पू० से १८०० ई० पू० तक मानी जाती है। यह संस्कृति नगरों की संस्कृति थी। उन्नत नागरिक जीवन के अवशेष—भग्न इमारतें, सोने, चाँदी और ताँबे के आभूषण, गृहस्थी के उपकरण, मुहरें मूर्तियाँ आदि—मिले हैं। अधिकांश विद्वान इस संस्कृति को आर्येतर जातियों द्वारा निर्मित मानते हैं। इसका सम्बन्ध पश्चिमी एशिया की संस्कृतियों से भी था। यह संस्कृति एकदम नष्ट नहीं हुई क्योंकि आज भी इसके अवशेष भारतीय जीवन में मिलते हैं। कुछ देवी और देवता जो आज भी पूजे जाते हैं, उसी संस्कृति से सम्बन्धित हैं। इसका आर्यों तथा वैदिक संस्कृति से क्या सम्बन्ध था इस पर यथोचित प्रकाश नहीं पड़ सका है।

भौगोलिक स्थिति का महत्व—भारतीय संस्कृति के निर्माण में अनेक जातियों, महान विभूतियों और आदर्शों का हाथ तो रहा ही है, भौगोलिक स्थिति का महत्त्व भी कम नहीं रहा है। भारत के उत्तर में १६०० मील लम्बा और औसतन २५० मील चौड़ा हिमालय पर्वत एक ऊँची दीवार के रूप में मानव-सभ्यता के आदि-काल से ही खड़ा है। हिन्दमहासागर इस देश के दक्षिणी भाग को तीन ओर से घेरता है। इन स्पष्ट भौगोलिक सीमाओं ने उसे संसार से अलग कर एक भौगोलिक इकाई का रूप दिया है जो इस देश की सांस्कृतिक-एकता और विशिष्टता की तथा परम्पराओं की निरन्तरता की भौतिक पृष्ठभूमि रही है। एक भौगोलिक इकाई होते हुये भी इस विस्तृत देश में सदा से अनेक प्रकार की जलवायु और जातियाँ रही हैं। भेद में अभेद के इस रूप की छाप भारतीय संस्कृति की भी एक बहुत बड़ी विशेषता बनी। भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर खैबर, बोलन आदि पहाड़ी दर्रे थे जिनके द्वारा समय-समय पर आर्य, यवन, शक, हूण, तुर्क आदि विदेशी आक्रमणकारी इस देश में आये और उन्होंने भी भारतीय संस्कृति के निर्माण में योगदान दिया।

पूर्व वैदिक काल—भारतीय संस्कृति का क्रमबद्ध इतिहास ऋग्वैदिक काल से ही मिलता है जब आर्य पंजाब में बसे थे। प्राचीनता के साथ-साथ भारतीय संस्कृति में निरन्तरता भी मिलती है। यूनान, रोम, मिस्र और सुमेर की प्राचीन संस्कृतियाँ समय के प्रवाह में बह चुकी हैं, आज वहाँ निवास करनेवाली जातियों के जीवन से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। पर भारतीय संस्कृति आज भी जीवित है और उसकी परम्परायें आज भी भारतीय जीवन में विद्यमान हैं।

भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम ग्रंथ आर्यों का ऋग्वेद है। अधिकांश विद्वान इसका काल द्वितीय सहस्राब्दी ईसा पूर्व मानते हैं। ऋग्वेद कालीन संस्कृति को पूर्व वैदिक कालकी संस्कृति कहा जाता है। यह युग उन सामाजिक और धार्मिक परम्पराओं का स्रोत है जिनकी आगे आनेवाले इतिहास पर एक अमिट छाप पड़ती है। वर्ण-व्यवस्था का बीज इसी युग में मिलता है। धार्मिक चिन्तन, विश्वास और कर्म की जो

सरिता इस युगमें प्रवाहित हुई वह शताब्दियों बाद आज तक किसी न किसी रूप में विद्यमान है। विष्णु, सूर्य आदि उस युग के देवताओं की आज भी उपासना होती है। उस युग के यज्ञ कालान्तर में पूजा में परिवर्तित होगये जो आज भी प्रचलित हैं। ऋग्वेद की भाषा ही बाद में लौकिक संस्कृत के रूप में परिणत हुई जिससे अन्य भाषायें निकलीं। इस काल में सभ्यता का केन्द्र पंजाब था जहाँ से आर्य लोग पूर्व की ओर बढ़ रहे थे। उन्हें आर्येतर जातियों से संघर्ष भी करना पड़ता था।

उत्तर वैदिक काल—उत्तर वैदिक काल (१२००-८०० ई० पू०) में अन्य तीन वेदों की तथा ब्राह्मणों, आरण्यकों और प्रमुख उपनिषदों की रचना हुई। इस युग में समाज के चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र का रूप स्पष्ट हो जाता है। धर्म के क्षेत्र में पहले तो यज्ञों की पद्धति का विकास दृष्टिगोचर होता है फिर उपनिषदों के चिन्तन की ज्ञान-मार्गी धारा का उदय होता है। ब्रह्म और आत्मा का तादात्म्य स्थापित किया जाता है। उपनिषदों में वैदिक-तत्व-चिन्तन का चरम विकास मिलता है। ये बाद के अनेक दर्शनों के स्रोत बनते हैं। इनका आदर्श भारतीय जन जीवन को आज भी अनुप्राणित करता है। इस युग में आर्य-संस्कृति का और अधिक प्रसार होता है। पहले इसका केन्द्र कुरुक्षेत्र था; फिर काशी, कोसल और विदेह इसके केन्द्र बन गये। आर्य और आर्येतर संस्कृति का समन्वय और सामञ्जस्य इस काल की प्रधान विशेषताओं में से है। कर्म का सिद्धान्त इसी काल में उपनिषदों के दर्शन में आता है जो सम्भवतः मुनियों और श्रमणों की संस्कृति से ग्रहण किया गया था[1]। आज तक यह सिद्धान्त भारतीय जीवन-दर्शन का केन्द्र-बिन्दु बना हुआ है। वैदिक धर्म प्रवृत्ति-प्रधान था पर जब वैदिक और अवैदिक तत्वों का सम्मिश्रण हुआ तो इस काल में निवृत्ति अथवा संसार-त्याग और सांसारिक बन्धन से मुक्ति का आदर्श भी वैदिक धर्म में स्वीकार किया जाने लगा। इस प्रकार प्रवृत्ति-निवृत्ति-प्रधान उभयात्मक धर्म का प्रतिपादन किया गया जो वैदिक-धारा की और भारतीय संस्कृति की भी एक प्रधान विशेषता बनी। संन्यास-आश्रम के आदर्श की प्रतिष्ठा भी इसी सम्मिश्रण का परिणाम है। आगे वर्णाश्रम-व्यवस्था के अध्याय में इस पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। आर्यों का आर्येतर जातियों से मिश्रण भी हो रहा था। राजनैतिक क्षेत्र में भी इस युग में उन्नति हुई। बहुत से राज्य बने, शासन प्रणाली विकसित हुई तथा ऐतरेय ब्राह्मण में समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के एकछत्र साम्राज्यके रूप में भारत की राजनैतिक एकता के आदर्श की कल्पना हुई।

सूत्रों का काल—उत्तर वैदिक काल के पश्चात् सूत्रों का काल आता है जो लगभग ८०० ई० पू० से प्रारम्भ होता है। सूत्र-ग्रंथों में धार्मिक, सामाजिक और साहित्य सम्बन्धी शास्त्रीय नियमों को क्रमबद्ध रूप से कम से कम

१. Pande, G. C., Studies in the Origins of Buddhism, pp. *260, 286*.

शब्दों में पिरोया गया जिससे उन्हें कण्ठाग्र करने में सरलता हो। इस काल में आर्य-संस्कृति का भारत में एक विस्तृत भूभाग पर प्रसार हो चुका था। अनेक आर्येतर जातियाँ भी प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत आ रही थीं। आर्य-संस्कृति के क्षेत्र को आर्यावर्त की संज्ञा दी गई थी। अब व्यवस्था की आवश्यकता थी। सूत्रों में हम जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में व्यवस्था तथा भेद में अभेद स्थापित करने का प्रयास पाते हैं। श्रौत-सूत्रों में यज्ञ सम्बन्धी धार्मिक विधि-विधानों को व्यवस्थित किया गया। गृह्य-सूत्रों द्वारा कौटुम्बिक जीवन को नियमित किया गया। धर्म-सूत्रों में वर्ण-व्यवस्था एवं परम्परा प्राप्त आचार तथा व्यवहार के प्रतिपादन द्वारा सामाजिक जीवन को एक साँचे में ढाला गया। इनमें राजा के अधिकार और कर्त्तव्य को भी निर्धारित किया गया। कुछ विद्वान कहते हैं कि हिन्दू समाज को व्यवस्थित रूप सूत्रों के काल में मिला। यही व्यवस्था मूलतः आज तक विद्यमान है। सूत्रों की परम्परा कई शताब्दियों तक चलती रहती है। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' नामक सूत्र-ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में प्रादेशिक भाषाओं के ऊपर संस्कृत को अन्तर्क्षेत्रीय भाषा के रूप में रख कर देश की सांस्कृतिक एकता को एक सुदृढ़ आधार प्रदान किया गया। यही ग्रन्थ सदैव के लिये संस्कृत भाषा का नियामक बन गया। बादरायण का वेदान्त सूत्र (५०० ई० पू०–२०० ई० पू०) भी सूत्र-परम्परा में आता है। इसमें उपनिषदों का दर्शन सूत्रों में पिरोया है।

छठीं शताब्दी ईस्वी पूर्व की बौद्धिक और धार्मिक क्रान्ति : निवृत्तिपरक धार्मिक आन्दोलन—इसी बीच आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। आर्यों की संस्कृति का प्रसार कुछ समय के लिये रुक गया था। मुद्राओं के चलन से नगरों और नागरिक सभ्यता का उदय होने लगा। यह ध्यान देने योग्य बात है कि वैदिक काल और सूत्रों की आर्थिक व्यवस्था का आदर्श ग्रामीण था। संभवतः आर्थिक परिवर्तनों से व्यापारियों के मध्यम वर्ग का भी इस काल में उदय हुआ हो। सातवीं शताब्दी के १६ महाजन-पदों में से कुछ तो राजतंत्र थे और कुछ गणतन्त्र। राजतन्त्रों और गणतन्त्रों में भी संघर्ष प्रारम्भ हो गया। आर्य और आर्येतर धार्मिक आदर्शों का सम्पर्क और संघर्ष भी सघन हो गया था। श्रमणों और तपस्वियों के अनेक संघ थे जिनके धार्मिक आदर्श अवैदिक थे। इन्हीं परिस्थितियों के बीच एक बौद्धिक और धार्मिक क्रान्ति की लहर छठीं शताब्दी ई० पू० में आती है। इस शताब्दी में अन्य देशों में भी धार्मिक क्रांति की लहरें दौड़ी। भारत में बौद्ध-धर्म का उदय होता है और जैन-धर्म का भी उत्थान होता है जो निवृत्तिपरक धार्मिक आन्दोलन के द्योतक हैं। बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों में वैदिक और अवैदिक सांस्कृतिक धाराओं का समन्वय[१] दृष्टिगोचर होता है। जैन-धर्म

१. Pande, G. C., Studies in the Origins of Buddhism.

में श्रमण-संस्कृति के अवैदिक तत्त्व ही प्राचीन थे यद्यपि उनमें भी समन्वय का रूप मिलता है। इन दोनों धर्मों का भारतीय संस्कृति के निर्माण और विकास में विशेष हाथ रहा है। बौद्ध-धर्म इस देश की संस्कृति को एक विशिष्टता प्रदान करता है। मानवता और अहिंसा के आदर्श जन-जीवन में व्याप्त होते हैं। कालान्तर में बौद्ध-धर्म एशिया के अन्य देशों में भी फैलता है और भारत को अन्य देशों का धर्म-गुरु एवं सांस्कृतिक आदर्श बनने का श्रेय मिलता है। पंचशील का सिद्धान्त जो आज भी अन्तराष्ट्रीय सम्बन्धों की आधारशिला बना है बौद्ध धर्म की देन है। बौद्ध-धर्म से अनुप्राणित हो भारतीय कला भी विकास के पथ पर अग्रसर हुई। दर्शन और शिक्षा के क्षेत्र में भी बौद्ध-धर्म की अनुपम देन रही।

प्रथम मगध साम्राज्य (मौर्यकाल)—इसके पश्चात् राजनैतिक शक्तियों के विकास और संघर्ष का युग आता है जिसके फलस्वरूप भारत का राजनैतिक एकीकरण होता है। चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व के द्वितीयार्द्ध का समस्त विश्व के इतिहास में एक विशेष महत्व है। इस काल में यूनान में सिकन्दर का साम्राज्य स्थापित होता है, जिसने ईरान की राजनैतिक शक्ति को कुचलकर भारत में भी प्रवेश किया। पंजाब और सिन्ध कुछ दिनों के लिये उसके साम्राज्य में आ गये। इस समय मगध के शासक नन्द वंश के थे जिन्होंने एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित कर भारत के राजनैतिक एकीकरण का प्रयत्न किया था। इसी बीच भारतीय राजनैतिक इतिहास के रंगमंच पर चन्द्रगुप्त मौर्य (३२४-३०० ई० पू०) का उदय हुआ। उसने पंजाब और सिन्ध को यूनानियों के चंगुल से मुक्त कर तथा मगध के शासक को हराकर मौर्य साम्राज्य का निर्माण किया जो उत्तर पश्चिम में ईरान की सीमा तक और दक्षिण में मैसूर तक था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक विकसित केन्द्रीय शासन-पद्धति की भी नींव डाली। अशोक (२७३-२६६ ई० पू०) ने साम्राज्य को और विस्तृत किया तथा बौद्ध-धर्म को अपनाया। उसने विदेशों में दूत भेजे। उसके साम्राज्य में दक्षिण के कुछ भाग को छोड़कर समस्त भारत था। इस प्रकार समुद्र पर्यन्त पृथ्वी के एकछत्र साम्राज्य के जिस आदर्श की कल्पना ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलती है, उसे मौर्यकाल में वास्तविकता का रूप मिलता है। अशोक के उत्कीर्ण स्तम्भ आज भी देश में अनेक स्थानों पर मिलते हैं। अपने महान् व्यक्तित्व तथा मानवता और सहिष्णुता के आदर्श के कारण वह विश्व-इतिहास की अग्रगण विभूतियों में माना जाता है।

मौर्यकाल में राजनैतिक एकता की पृष्ठभूमि में सांस्कृतिक उन्नति एवं एकता का अवसर प्राप्त हुआ। आर्य-संस्कृति का प्रसार दक्षिण में पहले से ही हो रहा था। इस काल में राजनैतिक एकता के कारण उत्तर और दक्षिण के सांस्कृतिक सम्बन्ध और गहरे हुये। भारत का विदेशों से सम्पर्क स्थापित हुआ। व्यापार और उद्योग की उन्नति होने लगी। कला का भी विकास हुआ। अशोक के स्तम्भों, गया के पास की

आजीविक गुफाओं और भरहुत तथा साँची की चित्रकला में हम मौर्य कला के उत्कृष्ट नमूने पाते हैं। अशोक के काल में भारतीय संस्कृति और धर्म का प्रसार विदेशों में भी हुआ।

राजनैतिक विच्छिन्नता का युग : विदेशी आक्रमणकारी--मौर्यों के बाद दूसरी शताब्दी ई० पू० से लेकर चौथी शताब्दी के प्रारम्भ तक राजनैतिक विच्छिन्नता का युग आता है। इस काल के प्रारम्भ में दक्षिण के शातवाहनों ने भी उत्तर में अपना राज्य-विस्तार किया, फिर पार्थियन, शक सीथियन और कुषाण आक्रमणकारी देशमें आते हैं। प्रथम शताब्दी ई० में कनिष्क का कुषाण-साम्राज्य काफी विस्तृत था। इस काल में भी भारत के अन्य देशों के साथ व्यापारिक और अन्य सम्पर्क बढ़े। कनिष्क ने बौद्ध-धर्म अपनाया और उसके संरक्षण में वह धर्म मध्य-एशिया और अन्य भागों में फैला। वैष्णव और शैव-धर्मों की भी इस युग में उन्नति हुई। इस काल में पौराणिक (वैष्णव तथा शैव) और महायान (बौद्धधर्म की एक शाखा) धर्मों का विकास होने लगा। इनमें सार्वजनिक आकर्षण और लोकप्रियता थी। पार्थियन, कुषाण आदि विदेशियों ने भी इन्हें ग्रहण किया। इन धर्मों से कला को भी प्रचुर प्रेरणा मिली। भारतीय संस्कृति के स्वरूप को निर्मित करने में इन दोनों धाराओं का बहुत बड़ा हाथ है। बौद्ध-कला—विशेष रूप से गान्धार-कला—की उन्नति इस काल में हुई। विदेशी जातियों के आने के कारण सामाजिक व्यवस्था की समस्या फिर सामने आई। इसी युग में मनुस्मृति की रचना हुई जिसमें तत्कालीन सामाजिक विभिन्नताओं को चातुर्वण्य की व्यवस्था में स्थान दिया गया। शकों और यवनों को क्षत्रिय के रूप में ग्रहण किया गया। भारतीय समाज और धर्म ने विदेशियों को आत्मासात् कर ग्रहणशीलता का परिचय दिया।

द्वितीय मगध साम्राज्य (गुप्त काल)—चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ में मगध में केन्द्रीकरण की शक्ति का पुनरुत्थान होता है। गुप्त-साम्राज्य की स्थापना होती है जो लगभग २०० वर्षों तक रहता है। समुद्रगुप्त (३४०-३८० ई०) ने अपनी सामरिक प्रतिभा द्वारा साम्राज्य का विस्तार किया। उसने दक्षिण में भी अपनी विजय-पताका फहराई। उसके पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३८०-४१३ ई०) के समय में गुप्त-साम्राज्य का वैभव अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इस काल में भारतीय संस्कृति परिमार्जित होती है। भारत की सांस्कृतिक एकता की भावना दृढ़ होती है। उसका सर्वाङ्गीण विकास राजनीति, साहित्य, धर्म, दर्शन, विज्ञान, कला, वास्तुकला, व्यापार और औपनिवेशिक प्रसार में दृष्टिगोचर होता है। इस युग में कालिदास जैसे महाकवि, असङ्ग और वसुबन्धु जैसे दार्शनिक तथा आर्यभट्ट और वराहमिहिर जैसे ज्योतिषी और गणितज्ञ हुये। गणित के क्षेत्र में शून्य और दशमलव पद्धति के प्रयोग विश्व को इस काल की देन हैं। इस काल की कलात्मक प्रतिभा अजन्ता के भित्तिचित्रों में परिलक्षित

होती है। धर्म के क्षेत्र में महाभारत और प्रमुख पुराणों का संकलन किया गया। इसी युग में हिन्दू धर्म को वह रूप मिला जो आजतक विद्यमान है। वैष्णव धर्म की उन्नति हुई। बौद्ध दर्शन के विकास का भी यह स्वर्ण-युग था। बौद्ध विहार नालन्दा को विश्वविद्यालय होने का गौरव प्राप्त हुआ। देश में बहुत से धर्म थे पर धार्मिक सहिष्णुता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। भूमध्य सागर के देशों से और पूर्वी उपनिवेशों से व्यापार द्वारा देश की आर्थिक समृद्धि की अभिवृद्धि हुई। चीन, मध्य-एशिया, जावा, सुमात्रा इण्डोचीन, अनाम, बोर्नियो आदि देशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ।

दक्षिण के वाकाटक राजवंश का भी इस सांस्कृतिक विकास में हाथ रहा है।

छठीं शताब्दी के मध्य में आन्तरिक दुर्बलता एवं हूणों के आक्रमणों के प्रभाव से गुप्त साम्राज्य का पतन हुआ। विकेन्द्रीकरण की शक्तियाँ पुनः अपना कार्य करने लगती हैं। थानेश्वर के नरेश हर्ष (६०६-६४७) ने कुछ समय के लिए उनकी गति को रोका पर बाद में फिर वही स्थिति आगई। हर्ष को बाण जैसे विद्वान के संरक्षण का गौरव प्राप्त है।

हर्षोत्तर काल—हूणों और गुर्जरों के आक्रमणों के प्रभाव के कारण सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था जर्जर हो गई थी। इस काल में चौहान, परमार, चंदेल आदि राजपूत वंशों का उदय हुआ। सामन्तवाद का पूर्ण विकास भी इसी काल में होता है। इस काल में प्राचीन परम्पराओं को दृढ़ बनानेका प्रयास हुआ है। जाति-प्रथा की कठोरता बढ़ती है। सहिष्णुता और ग्रहण-शीलता भी कम हो जाती है। नालन्दा और अन्य बौद्ध-विहार इस युग में भी शिक्षा के केन्द्र बने रहे। पर जन-साधारण की शिक्षा का ह्रास होगया। संस्कृत-साहित्य के अनेक ग्रन्थ इस काल में लिखे गये पर उनमें रूढ़िवादिता झलकती है। इस काल का महाकाव्य नैषधीय चरित संस्कृत-परम्परा में अन्तिम महाकाव्य माना जाता है। कल्हण की राजतरंगिणी इस काल का एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है। स्मृतियों पर भी अनेक भाष्य लिखे गये। याज्ञवल्क्य स्मृति पर मिताक्षरा नामक भाष्य और जीमूतवाहन का दायभाग नामक धर्म-निबन्ध बारहवीं शताब्दी में लिखे गये। ये आज दिन तक हिन्दू समाज के नियामक बने हैं। अपभ्रंश साहित्य का भी इस काल में विकास होता है। इस कार्य में जैन विद्वानों का हाथ अधिक था। राजपूत सम्राटों के दरबार में अनेक विद्वानों और कलाकारों को आश्रय मिलता था। इस युग की कला में अश्लीलता एवं रूढ़िवादिता मिलती हैं। बौद्ध-धर्म का पतन हो रहा था और बुद्ध को अवतार मानकर हिन्दू-धर्म उसे आत्मसात् कर रहा था। बौद्ध-धर्म तथा अन्य धर्मों में भी तन्त्र-मन्त्र अधिक आ-गये थे। बारहवीं शताब्दी में निम्बार्क, जयदेव और रामानुज ने वैष्णव भक्ति को

जन-आन्दोलन का रूप दिया। जैन-धर्म के प्रभाव की भी वृद्धि गुजरात और राजपूताने में हुई। दक्षिण में शैव-धर्म की विशेष उन्नति हुई।

दर्शन के क्षेत्र में भी इस युग में उन्नति होती रही। प्रसिद्ध दार्शनिक शंकराचार्य (७८८–८२० ई०) का उदय दक्षिण में हुआ। इन्होंने निर्विशेष-वेदान्त की परम्परा को पराकाष्ठा पर पहुँचाया। पूर्व मध्यकाल में उत्तरी भारत में वाह्य देशों से सम्पर्क का प्रयत्न नहीं हुआ। इसी काल में इस्लाम का भारत में प्रवेश होता है। राजनैतिक और सामाजिक दुर्बलता के कारण इस काल के अन्त से तुर्कों के पैर उत्तरी भारत में जमने लगे और राजपूत-राज्य समाप्त होने लगे।

दक्षिण में इस युग में भी वाह्य देशों से व्यापार हो रहा था। चोलों ने एक विस्तृत राज्य स्थापित किया था एक सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली का विकास किया।

पूर्व मध्यकाल—तेरहवीं शताब्दी में तुर्क-अफगान-शासन की स्थापना के बाद से भारतीय इतिहास में पूर्व-मध्ययुग का सूत्रपात होता है। हिन्दू-धर्म और इस्लाम के मूलभूत धार्मिक और सामाजिक आदर्शों में अन्तर था। पहले संघर्ष अवश्याम्भावी था। रक्षात्मक प्रवृति के कारण हिन्दू समाज में संकीर्णता और रूढ़िवादिता दृढ़ होने लगी। कुछ निम्नजातियों ने इस्लाम को अपनाया। कालान्तर में हिन्दुओं और मुसलमानों में सामञ्जस्य, सहयोग और सहिष्णुता की भावना भी बढ़ने लगी जो धर्म, कला, साहित्य और अन्य क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होती है। कबीर, नानक, दादू, नामदेव आदि धर्म-सुधारकों पर इस्लाम का प्रभाव स्पष्ट है। इन सन्तों ने समाज-सुधार का भी प्रयत्न किया। रामानन्द, वल्लभाचार्य और चैतन्य के द्वारा भक्ति की लोकप्रिय परम्परा का भी विकास होता है। इन सन्तों और भक्तों ने प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य की भी वृद्धि की। इन्होंने विरोधी राजनैतिक परिस्थितियों में भी हिन्दू-संस्कृति के आदर्श को सुरक्षित रखा।

कतिपय मुस्लिम नरेशों ने भी देश के साहित्य को प्रोत्साहन दिया इस्लाम पर भी हिन्दू-धर्म का प्रभाव पड़ा। सूफी-मत पर बौद्ध-धर्म और वेदांत की गहरी छाप रही।

संगीत और भवन-निर्माण कला के क्षेत्र में भी हिन्दू और मुस्लिम तत्त्वों का समन्वय और सम्मिश्रण हुआ। भवन-निर्माण-कला में इस समन्वय के कारण एक ओर तो मुस्लिम कला की सादगी और कठोरता कम हुई और दूसरी ओर हिन्दू कला की प्रचुर अलंकारिता संक्षिप्त हो गई। इस प्रकार हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ने देश के सांस्कृतिक विकास में हाथ बटाया।

उत्तर मध्य-काल—मध्य युग के द्वितीय चरण में मुगलों का शासन स्थापित होता है। अकबर के शासनकाल (१५५६-१६०५ ई०) में भारत में राजनैतिक एकता की पुनः स्थापना होती है जिसमें हिन्दुओं के प्रति धर्म-सहिष्णुता और नीति का पालन होता है तथा अकबर के राज्याभिषेक (१५५६ ई०) से लेकर औरंगजेब की मृत्यु

(१७०७ ई०) तक का १५० वर्षों का काल सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इस काल में मुगल दरबार संस्कृति का केन्द्र रहा। अकबर के दरबार में विद्वानों और धर्म गुरुओं को संरक्षण मिला। मध्ययुग के प्रथम चरण में जिन सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ वे इस युग में पूर्णरूप से विकसित होती रहीं। भक्ति-परम्परा में हिन्दी-साहित्य के दो अमर कलाकार तुलसीदास और सूरदास इसी काल में उत्पन्न हुये। भक्ति-आन्दोलन का भारतीय साहित्य, समाज एवं संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस काल में प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य सम्पन्न हुये।

भवन-निर्माण-कला के क्षेत्र में मुगलकाल की देन अनुपम है। ताजमहल, मोती मस्जिद आदि भव्य इमारतें आज भी इस देश के लिए गौरव की वस्तुएँ हैं। संगीत कला और चित्रकला में भी प्रगति हुई। इस युग में मध्य-भारत, राजपूताना और कुछ अन्य क्षेत्रों में प्राचीन भारतीय चित्रकला का पुनरुत्थान होता है जिसे राजपूत शैली की संज्ञा दी जाती है। इस काल की हिन्दू-वास्तु-कला में राजपूत और ईरानी तत्त्वों का सम्मिश्रण मिलता है।

विदेशों से व्यापार द्वारा देश की आर्थिक समृद्धि की अभिवृद्धि भी इस काल में हुई। १६ वीं और १७ वीं शताब्दी में भारत उद्योग के क्षेत्र में विश्व के प्रमुख देशों में था।

इस काल में बनारस हिन्दू-संस्कृति और संस्कृत-शिक्षा का केन्द्र था। धर्म-शास्त्र, वेदान्त तथा अन्य विषयों पर ग्रन्थ लिखे गये। कुछ मुगल सम्राट् भी संस्कृत-साहित्य से प्रभावित थे और संस्कृत के विद्वानों का आदर करते थे।

जब औरंगजेब ने धार्मिक उदारता के आदर्श को त्यागकर मुस्लिम-धर्म-राज्य के आदर्श को अपनाया तो उसने हिन्दुओं की सहानुभूति खो दिया। मराठों, सिक्खों और राजपूतों ने राष्ट्रीय विद्रोह किये। इस प्रकार मुगल साम्राज्य का पतन होने लगा।

मध्ययुग के सांस्कृतिक प्रभाव--लगभग ६ सौ वर्षों के मुस्लिम शासन-काल के सांस्कृतिक प्रभाव बहुत महत्वपूर्ण हैं[1]। इस काल में मध्य-एशिया, चीन और पूर्वी द्वीप समूहों से सम्पर्क बढ़ा। समुद्री व्यापार की वृद्धि हुई। दो सौ वर्षों के मुगल-शासन-काल में भारत के अधिकांश भाग में एक ही शासन-पद्धति और राजकीय भाषा रही और आन्तरिक शान्ति तथा सुरक्षा भी अधिकांश समय तक बनी रही। वर्तमान लगान-व्यवस्था में इस शासन-पद्धति के कुछ अवशेष विद्यमान हैं। भारतीय और मुस्लिम कला के सम्मिश्रण से एक नवीन शैली की कला का विकास हुआ। हिन्दुस्तानी या रेखता देश की अन्तर्क्षेत्रीय भाषा हो गई। शान्ति एवं आर्थिक समृद्धि के कारण हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य समृद्ध हुए। अरबी और फारसी के शब्दों से प्रादेशिक भाषाओं के शब्द-भण्डार समृद्ध हुये। १६ वीं शताब्दी में उर्दू

१. Sarkar, J. N., *India Through the Ages* (4th edition, chap. IV).

भाषा भी अस्तित्व में आई, उच्च वर्ग की वेष-भूषा और सामाजिक व्यवहार में मुसलमानों के प्रभाव के कारण एकरूपता आई। इस्लाम के प्रभाव के कारण कबीर, नानक आदि सन्तों के सम्प्रदाय स्थापित हुये। सन्तों ने धर्म-सुधार के साथ-साथ जाति-प्रथा की कुरीति का भी विरोध किया। भारतीय-वेदान्त-दर्शन के प्रभाव से मुसलमानों के सूफी-दर्शन का और विकास हुआ। इससे हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के निकट आये। इस काल में अकबरनामा आदि अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखे गये जिससे ऐतिहासिक-साहित्य की वृद्धि हुई। युद्ध-कला पर भी प्रभाव पड़ा। साधारण सांस्कृतिक स्तर भी ऊँचा हुआ। मुस्लिम प्रभाव के कारण कुछ विलासिता के उपकरणों में भी वृद्धि हुई।

मध्यकाल का अन्त तथा आधुनिक काल—मुगल साम्राज्य के पतन के साथ ही देशी और विदेशी शक्तियों में राजनैतिक-शक्ति और साम्राज्य-विस्तार के लिये होड़ चलती है। घोर राजनैतिक और आर्थिक अव्यवस्था के बीच १८ वीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध में मध्ययुगीन संस्कृति निष्प्राण होने लगती है[१]।

इसी बीच अंग्रेजी सत्ता के पैर भारत में जम गये। पाश्चात्य संस्कृति एवं विचारों का प्रभाव देश में आने लगा। फलस्वरूप १९ वीं शताब्दी से एक नवीन युग प्रारम्भ हुआ जिसे आधुनिक युग कहते हैं। यह नवाभ्युत्थान का युग था। नवीन विचारों के कारण नये-नये आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। योरप की वैज्ञानिक उन्नति का प्रभाव भी देश पर पड़ा। शिक्षा, धर्म, साहित्य, समाज, कला, अर्थ-व्यवस्था, राज-नीति इत्यादि सभी क्षेत्रों में प्रगति दृष्टिगोचर हुई और देश का आधुनीकरण हुआ। भारत अंग्रेजों का दास था पर उसकी राजनैतिक एकता इस काल में भी बनी रही। पुनर्जागरण के कारण देश में राष्ट्रीय चेतना का विकास होने लगा और स्वतंत्रता-संग्राम का जन्म हुआ। पर ब्रिटिश कूटनीति ने हिन्दुओं और मुसलमानों में विभेद उत्पन्न कर दिया। भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के सम्बन्ध में अन्तिम अध्याय में विचार किया जायगा। गाँधीजी के नेतृत्व में देश को स्वतंत्रता मिली (१५ अगस्त १९४७) पर उसका विभाजन होगया और पाकिस्तान का राज्य अलग बन गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने सहस्रों वर्षों के इतिहास में भारत अनेक बार उन्नति के शिखर पर चढ़ा और कई बार पतन के गर्त में भी गिरा। पर उसकी समन्वय-पूर्ण और विकासमयी संस्कृति की धारा निरन्तर प्रवाहित होती रही। आज भारत के सामने अनेक समस्याओं में एक महान समस्या यह भी है कि वह अपने सांस्कृतिक उत्तराधिकार के दायित्व को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में किस प्रकार निभावे।

---

१. Panikkar, K. M., *A Survey of Indian History*, p. 214.

पठनीय सामग्री

Roy, D. N., *The Spirit of Indian Civilization.*
Mookerji, R. K. , *Fundamental Unity of India.*
Panikkar, K. M., *A Survey of Indian History.*
Sarkar, J. N., *India Through the Ages.*
Pande, G. C., *Studies in the Origins of Buddhism.*
Nehru J. L., *Discovery of India.*
Raichaudhuri, Majumdar & Dutt, *An Advance History of India.*
Majumdar & Pusalkar, *Vedic Age.*
Dutt, *Indian Culture.*
Aurobindo, *Foundation of Indian Culture.*
अग्रवाल, वासुदेव शरण, भारत की मौलिक एकता।
मुकर्जी राधाकुमुद, हिन्दू सभ्यता।

अध्याय २

सामाजिक संस्थाएँ

कौटुम्बिक जीवन एवं व्यवस्था

कुटुम्ब का प्रारम्भिक स्वरूप एवं उसका विकास (ऐतिहासिक पृष्ठभूमि)—सामाजिक संस्थाओं में कुटुम्ब का विशिष्ट महत्त्व है क्यों कि समाज कुटुम्ब का लघु रूप है। कुटुम्ब सामाजिक-जीवन की मूलभूत इकाई है। कुछ विद्वानों का मत है कि सभ्यता के उदय के साथ ही कुटुम्ब की व्यवस्था का सूत्रपात हुआ। आर्यों का प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद है। यह भारतीय संस्कृति का भी प्राचीनतम ग्रंथ है। इसमें आर्यों की कौटुम्बिक व्यवस्था का रूप हमें दिखाई देता है। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि आर्यों की कौटुम्बिक व्यवस्था का आधार पितृसत्ता थी अर्थात् पिता कुटुम्ब का अध्यक्ष माना जाता था।

वैदिक साहित्य से यह ज्ञात होता है कि संयुक्त-परिवार का उदय उस युग में हो चुका था। पिता को कुटुम्ब के ऊपर समुचित नियंत्रण का अधिकार प्राप्त था। कुछ विद्वानों का मत है कि "कुल" शब्द ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही स्वतन्त्र रूपसे व्यक्तिगत कुटुम्ब के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः इससे यह निष्कर्ष निकल सकता है कि उत्तर-वैदिक-कालमें व्यक्तिगत कुटुम्ब का समुचित विकास हो चुका था। संयुक्त-परिवार में पिता, माता, भाइयों और बहनों के अतिरिक्त कभी-कभी अन्य सम्बन्धी भी रहते थे जैसे स्त्री की माँ (ऋग्वेद १०।३४।३), इत्यादि। कुटुम्ब में सभी एक घर में रहते थे, सभी वहीं भोजन करते थे, सभी का धर्म एक था तथा कुटुम्ब की सम्पत्ति पर सबका अधिकार रहता था। वैदिक काल में अग्निहोत्र इत्यादि यज्ञ कुटुम्ब के नित्य प्रति के जीवनके प्रधान अंग थे।

इस प्रकार वैदिक काल में ही संयुक्त परिवार का स्वरूप स्थिर हो गया था। उत्तरोत्तर इस कौटुम्बिक व्यवस्था में वृद्धि होती गई। सूत्रों में हम बहुत से विधानों और संस्कारों द्वारा कौटुम्बिक जीवन को व्यवस्थित करने का प्रयास देखते हैं। पर ई० पूर्व० छठी शताब्दी में जब बौद्ध और जैन धर्मों का उदय एवं उत्थान हुआ तो गृह-त्याग और मठ-जीवन का आदर्श समाज के सामने आया। जैसा कि स्पष्ट है, कुटुम्ब-व्यवस्था की ये विरोधी शक्तियाँ थीं जिनसे कौटुम्बिक व्यवस्थाको निश्चित रूप से धक्का पहुँचा होगा। पर गृह्यसूत्र और धर्मशास्त्र कौटुम्बिक जीवन में आस्था उत्पन्न कर विरोधी शक्तियों का निराकरण करने लगे। धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इनमें कौटुम्बिक व्यवस्था का विशद रूप मिलता है। अधिकांशतः

हर्षोत्तर काल (७०० ई० से १२०० ई०) में धर्मशास्त्रों अर्थात् स्मृतियों—विशेषकर मनु और याज्ञवल्क्य—पर भाष्य लिखे गये जिनमें संयुक्त-कुटुम्बसे सम्बन्धित नियमों की विस्तारपूर्वक व्याख्या हुई तथा कुछ अन्य नियमों का भी निर्देश किया गया। यही व्यवस्था सदियों बाद वर्तमान काल तक अधिकांश रूप में विद्यमान है। प्राचीन सूत्रकार दाक्षिणात्यों की कुछ भिन्न प्रकार की कौटुम्बिक प्रथा का उल्लेख करते हैं।

प्राचीन कुटुम्ब-व्यवस्था के कुछ प्रमुख रूप

(१) कुटुम्ब-संगठन—कुटुम्ब-संगठन का जो रूप वैदिक काल में मिलता है उसी ने कालान्तर में विशद रूप प्राप्त किया। धर्मशास्त्रों से विदित होता है कि संयुक्त-कुटुम्ब का क्षेत्र संकुचित नहीं था क्योंकि साधारणतः संयुक्त-परिवार में माँ-बाप और बच्चों के अतिरिक्त तीन पीढ़ी तक के व्यक्ति सम्मिलित माने जाते थे। कुल बढ़कर वंश के रूप में परिणत हो जाते थे। सम्पत्ति-विभाजन में जो तीन पीढ़ी से अधिक दूर रहते थे उनका भी भाग माना जाता था।

पिता संयुक्त-कुटुम्ब का अध्यक्ष था। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में उसका कुटुम्ब तथा उसकी सम्पत्ति पर अत्यधिक अधिकार था। पर बाद में पिता के अधिकार सीमित होने लगे।[१] अधिकार के सीमित होने के बावजूद भी पिता की प्रतिष्ठा कुटुम्ब में अक्षुण्ण रूप से विद्यमान रही होगी। कुटुम्ब में माता का स्थान भी श्रद्धा-युक्त था।

स्त्री, संतति और अन्य सगे सम्बन्धियों के अतिरिक्त कुटुम्ब में दास और नौकर भी रहते थे, प्राचीन रोम की भाँति भारत में भी दास समाज के अंग थे। प्राचीन ग्रन्थों और धर्मशास्त्रों से विदित होता है कि दास कई प्रकार के थे। मनु ने सात प्रकार के दासों का उल्लेख किया है, जैसे खरीदा हुआ दास, युद्ध में विजित दास, इत्यादि। दासों को व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार प्रायः नहीं था। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण आचार्यों के कुटुम्बों में विद्यार्थी भी रहते थे।

(२) विवाह—वंश की रक्त-पवित्रता के सम्बन्ध में विशेष आग्रह के कारण विवाह का महत्त्व कौटुम्बिक व्यवस्था में विशेष था।

कुछ ग्रन्थों में बहुपतित्व (Polyandry) की प्रथा की भी झलक मिलती है। महाभारत में द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की स्त्री थी। एक ही स्त्री कुटुम्ब के कई व्यक्तियों की स्त्री होती थी। मेयर इत्यादि विद्वानों का मत है कि यह अनार्य संस्कृति का प्रभाव है। इस प्रथा के अवशेष आज तक कुमायूँ की पहाड़ियों में, पंजाब की पर्वतीय जातियों में और दक्षिण में ट्रावनकोर, कोचीन (वर्तमान केरल) प्रान्त की कुछ जातियों में विद्यमान हैं।

पुरुष के लिए बहुविवाह (Polygamy) का निषेध धर्मशास्त्रों में नहीं है।

---

१. Jolly, *Hindu Law and Customs*, p. 83

परन्तु एक ही स्त्री धार्मिक कार्यों में पति को सहयोग दे सकती थी। इससे पता चलता है कि एक-पत्नीव्रत की ही प्रथा साधारण रूप से थी। मनु आदि स्मृतिकार बहुविवाह का स्पष्ट विरोध न करते हुए भी एक-पत्नीव्रत के ही पक्ष में हैं (•मनुस्मृति ११.५)। एक से अधिक पत्नियों का भार केवल राजा, सामंत-सरदार और धनी व्यक्ति ही वहन कर सकते थे।

गृह्यसूत्रों से ज्ञात होता है कि विवाह वयस्क होने पर होता था पर बाद में बाल-विवाह की भी प्रथा चल पड़ी।

निकट सम्बन्धियों (सपिण्ड), सगोत्र और समान प्रवर के साथ विवाह वर्जित था। पर इन सभी नियमों का पूर्ण रूप से सदैव पालन नहीं होता था। इसके भी अनेक उदाहरण हैं। विवाह के लिए जन्म-जाति की समानता आवश्यक समझी जाती थी। पर यह नियम भी पहले सिद्धान्त रूप में अधिक था। अन्तर्जातीय एवं मिश्रित विवाह भी होते थे। उच्च जाति का पुरुष शास्त्रों के नियम के अनुसार निम्न जाति की स्त्री से विवाह कर सकता था। इसे अनुलोम विवाह कहते थे। यह प्रथा धीरे-धीरे कम होती गई। दहेज की वर्तमान प्रथा इस वीभत्स रूप में नहीं थी। "शुल्क" शब्द का उल्लेख धर्मशास्त्रों में आता है। पर यह एक प्रकार का उपहार था जो वर को वधू से या वधू को वर से मिलता था। मनु विवाह-संबंध के विच्छेद के विरुद्ध हैं। पर कौटिल्य कुछ हद तक उसके पक्ष में हैं। विवाह-सम्बन्ध का उद्देश्य वासना-तृप्ति ही नहीं था। उसका आध्यात्मिक महत्व भी था। मनु के अनुसार विवाह-सम्बन्ध शाश्वत होता है। नियोग की प्रथा भी थी जिसके अनुसार जिस विधवा के लड़के नहीं रहते थे वह निकट संबंधी से विवाह कर सकती थी। विवाह पहले बड़ी सन्तान का होता था और फिर छोटी का।

विवाह के प्रकार—गृह्यसूत्रों के काल से ही आठ प्रकार के विवाह माने जाने लगे। प्रथम चार नियमानुकूल माने गये हैं। ये निम्नलिखित हैं :—

(१) ब्राह्म—यह आदर्श विवाह था। इसमें समान जातिवाले श्रेष्ठ व्यक्ति को कन्या उपहार के साथ दी जाती थी।

(२) दैव—इस विवाह में कन्या पुरोहित को दी जाती थी।

(३) प्राजापत्य—इस विवाह में केवल कन्यादान होता है। किसी प्रकार का उपहार या दहेज नहीं दिया जाता था। इसमें विवाह का प्रस्ताव वर की ओर से होता था।

(४) आर्ष—इसमें वर, वधू के पिता को एक गाय और बैल उपहार स्वरूप देता था।

अन्य चार प्रकार के विवाह धर्म-ग्रन्थों में निषिद्ध माने गये हैं। इन्हें आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच की संज्ञा दी गई है। आसुर विवाह में कन्या क्रय की जाती थी। गान्धर्व पुरुष और कन्या की इच्छा और अनुमति से होता था; यह प्रेम-विवाह था।

राक्षस-विवाह में युद्ध के बाद कन्या का हरण होता था। पैशाच-विवाह बलात्कार के रूप में था। यह विवाह की कोटि में नहीं आता यद्यपि धर्मशास्त्रों में इसे भी एक प्रकार का विवाह माना गया है।

रामायण, महाभारत और प्राचीन महाकाव्यों में स्वयंवर-प्रथा का भी उल्लेख मिलता है। पर धर्मशास्त्रों में इसका उल्लेख नहीं है। हर्षोत्तर काल (७०० से १२०० ई०) में भी राजपूतों में स्वयंवर कभी-कभी होता था। इसमें कन्या वर का स्वतन्त्र चुनाव उन व्यक्तियों में से करती थी जिन्हें उसका पिता आमन्त्रित करता था।

(३) सम्पत्ति—उत्तराधिकार एवं विभाजन—संयुक्त परिवार की सम्पत्ति का अध्यक्ष पिता होता था। इसका उल्लेख हो चुका है कि प्रारम्भिक काल में पिता का अधिकार परिवार की सम्पत्ति पर अधिक था। पर बाद में वह कम होने लगा। बारहवीं शताब्दी में याज्ञवल्क्य स्मृति के भाष्यकार विज्ञानेश्वर ने मिताक्षरा में यह मत व्यक्त किया है कि पुत्रों को अधिकार है कि वे पिता से सम्पत्ति का विभाजन करा लें। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बाद में पिता का अधिकार कुटुम्ब की सम्पत्ति पर उस रूप में नहीं रह गया। पर सम्पत्ति पर अधिकार के सम्बन्ध में पूर्व-मध्यकाल के धर्म-शास्त्रकारों में भी मतभेद है। विज्ञानेश्वर ने लिखा है कि पुत्रों और पौत्रों का कुटुम्ब की सम्पत्ति में अधिकार रहता है। इसके विरुद्ध उसी युग के धर्मशास्त्रकार जीमूतवाहन ने दायभाग में यह मत व्यक्त किया है कि पिता के मरने के बाद ही उनको अधिकार मिलता है। पर दोनों इस पर एक मत हैं कि पिता सम्पत्ति का निरंकुश अधिकारी नहीं होता है।

संयुक्त कुटुम्ब की सम्पत्ति में कुटुम्ब के सदस्यों की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं सम्मिलित रहती थी। कम से कम मध्यकाल से लेकर आगे तक व्यक्तिगत कमाई, दान इत्यादि इसी प्रकार की सम्पत्ति समझी जाती थी। इस प्रथा का उदय बाद में ही हुआ क्योंकि मनु के विधान में पुत्र, स्त्री और दास की सम्पत्ति कुटुम्ब के अध्यक्ष की मानी गई है। स्त्री-धन स्त्री की व्यक्तिगत सम्पत्ति था। यह वह दहेज (शुल्क) या उपहार होता था जो उसे मिलता था। इसका वह स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग कर सकती थी। पूर्व-मध्यकाल के धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री-धन के दायरे को विस्तृत किया और उस पर विस्तारपूर्वक विचार किया।

उत्तराधिकार—उत्तराधिकार के नियम जटिल थे। ऐसा प्रतीत होता है कि स्थानीय और कौटुम्बिक रीति-रिवाजों के द्वारा प्रायः उत्तराधिकार निर्धारित होता था। धर्म-शास्त्रों में उत्तराधिकार की विवेचना के सम्बन्ध में बारह प्रकार के पुत्रों का उल्लेख है। इसमें दत्तक पुत्र भी सम्मिलित हैं। स्वाभाविक उत्तराधिकारी वयस्क पुत्र होते थे जो विवाहिता पत्नी से उत्पन्न रहते थे। चौथी पीढ़ी तक के निकटस्थ सम्बन्धी भी उत्तराधिकारी माने जाते थे। ज्येष्ठाधिकार के सिद्धान्त के अनुसार साधा-

रण रूप से आयु में बड़ा ही उत्तराधिकारी होता था। कुछ धर्मशास्त्रों के अनुसार उत्तराधिकार-निर्णय में धार्मिक ज्ञान की श्रेष्ठता का भी ध्यान रखा जाता था। अधिकांश रूप से धर्मशास्त्रों का मत है कि स्त्री को उत्तराधिकार का अधिकार नहीं रहता। पर याज्ञवल्क्य की एक उत्तराधिकार के अधिकार सम्बन्धी तालिका में स्त्री और कन्या का नाम पुत्र के बाद ही आता है। मिताक्षरा में भी इसी मत की पुष्टि की गई है।

सम्पत्ति का विभाजन—धर्मशास्त्रों में संयुक्त कुटुम्ब के विभाजन के सम्बन्ध में नियमों का निर्देश किया गया है। प्रायः पिता की मृत्यु के बाद ही विभाजन होता था पर पिता के जीवित रहते हुए भी जब पुत्र वयस्क हो जाते थे तो विभाजन हो सकता था। दोनों प्रकार के विधान धर्मशास्त्रों में मिलते हैं। दायभाग में प्रथम मत का निर्देश है और मिताक्षरा में दूसरा मत व्यक्त किया गया है। संयुक्त कुटुम्ब के विभाजन के पहले पुत्र का कुटुम्ब छोड़कर चला जाना नियम-विरुद्ध माना जाता था। प्रायः बड़े पुत्र को बीसवाँ भाग अधिक मिलता था। कुछ व्यक्तिगत सम्पत्ति, जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है, विभाजन के क्षेत्र में नहीं आती थी।

प्राचीन भारतीय संयुक्त कुटुम्ब के जीवन का आदर्श

धर्मशास्त्रों और अन्य ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि आदर्श कुटुम्ब के वातावरण में निःस्वार्थ, श्रद्धा, पारस्परिक सहयोग, दया, सहानुभूति, धैर्य, सन्तोष, विनम्रता, आदि सद्‌गुणों का निर्माण होता था। विद्वान् ब्राह्मणों के कुटुम्ब विद्या और ज्ञान के दीपक थे। विद्यार्थी ऐसे कुटुम्बों में रहकर विद्याध्ययन करते थे। बालक, निर्बल एवं वृद्ध का विशेष ध्यान रखते थे। पितृभक्ति और मातृभक्ति पर बड़ा बल दिया जाता था। स्त्री के लिए पति-परायणता परम धर्म माना जाता था। उच्छृंखल आचरण पर पति उसे दण्ड भी दे सकता था। कुटुम्ब के आचार-विचार अथवा कुलधर्म को शास्त्रों ने भी मान्यता प्रदान की है। अतिथि-सत्कार प्रत्येक कुटुम्ब का कर्त्तव्य था। वैदिक-काल से ही अतिथि-सत्कार का विशेष महत्त्व समझा जाता था। अतिथि को भोजन न देना निन्दास्पद समझा जाता था।

पंच-महायज्ञ—गृहस्थ के दैनिक कार्यक्रम में पंच महायज्ञों का वैदिक काल से ही बड़ा महत्त्व था। मनु ने भी इनके महत्त्व पर प्रकाश डाला है। ये पाँच महायज्ञ संस्कारों के अन्तर्गत आते हैं।

अन्य संस्कारों के सम्बन्ध में आगे बताया जायगा। मनु ने इन पंच-महायज्ञों की, जो प्रतिदिन करने पड़ते थे, निम्नलिखित रूप से व्याख्या की है:—

(१) ब्रह्मयज्ञ—वेद का अध्ययन और अध्यापन।

(२) पितृयज्ञ—मृत पितरों के निमित्त तर्पण।

(३) देवयज्ञ—देवताओं के निमित्त घृत आदि को अग्नि में डाल कर हवन करना।

(४) भूतयज्ञ—प्राणियों, जैसे कुत्ते, कृमि, असहाय आदि के लिए भोजन डालना। (गृहस्थ का कर्त्तव्य इस प्रकार समस्त प्राणिमात्र के प्रति था।)

(५) मनुष्य यज्ञ—अतिथि-सत्कार।

पितरों को श्राद्ध देना भी गृहस्थ का विशेष कर्त्तव्य था। यह यज्ञ का ही रूप था। मृत पितरों को पिण्ड-दान किया जाता था। बाद में चलकर श्राद्ध-क्रिया बहुत कुछ कुटुम्ब के स्वरूप को निर्धारित करने लगी। दायभाग (बारहवीं शताब्दी) में जो पिण्ड-दान में सम्मिलित हो सकते थे उन्हें ही सपिण्ड या निकट सम्बन्धी माना गया है।

गृहस्थ के ऊपर तीन ऋणों का भार होता था—पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण और देव-ऋण। प्रथम सन्तानोत्पत्ति द्वारा, द्वितीय स्वाध्याय द्वारा और तृतीय यज्ञ द्वारा चुकाया जाता था। प्रथम का सामाजिक महत्त्व था क्योंकि उसके द्वारा समाज का क्रम चलता था। द्वितीय का महत्त्व सांस्कृतिक विकास के लिए था। तृतीय का उद्देश्य धार्मिक था।

भारतीय समाज में कुटुम्ब का महत्त्व एवं उसका वर्तमान रूप—भारतीय समाज में कुटुम्ब का विशेष स्थान रहा है। वास्तव में संयुक्त परिवार एवं जातियों एवं उप-जातियों के स्तम्भों पर ही समस्त भारतीय समाज का ढाँचा खड़ा रहा है। कुल-धर्म अर्थात् कुटुम्ब के आचार-विचार और नियमों को धार्मिक और राजनैतिक मान्यता प्राप्त थी। अतः परम्परा में आबद्ध कुटुम्ब का वही संगठन युगों तक चलता रहा। इससे समाज में सदैव प्रायः एकरूपता रही है। कुटुम्ब का भारतीय संस्कृति और सामाजिक ढाँचे के स्वरूप को बनाये रखने में बड़ा हाथ है परन्तु इसके कारण कुछ दूषित रूढ़ियाँ भी सदैव के लिए स्थिर हो गई हैं।

आजकल आर्थिक दबाव के कारण संयुक्त कुटुम्ब की प्रथा को बड़ा धक्का पहुँचा है। एक कुटुम्ब के लोग न तो प्रायः एक ही स्थान पर रह सकते हैं और न एक ही वृत्ति का पालन कर सकते हैं। वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों में संयुक्त कुटुम्ब का पुराना ढाँचा बहुत दिन तक नहीं टिक सकता। हिन्दू मैरिज एक्ट (१९५५ ई०) के कारण भी कुटुम्ब की प्राचीन व्यवस्था अब परिवर्तन के मार्ग पर है।

संस्कार

कौटुम्बिक जीवन में संस्कारों का विशेष महत्त्व था। मनु के अनुसार गर्भाधान, जातकर्म, चौल, उपनयन आदि संस्कार शरीर को विशुद्ध कर उसे आत्मा का उपयुक्त स्थान बनाते हैं। शबर का भी मत है कि संस्कार उसे कहते हैं जिसके सम्पादित होने पर कोई वस्तु या व्यक्ति किसी उद्देश्य-विशेष के लिए उपयुक्त बनता है। यह शब्द इस अर्थ में प्राचीन वैदिक साहित्य में शायद ही मिले। पर गृह्यसूत्रों और गौतम, आपस्तम्ब आदि धर्म-सूत्रों (६०० ई० पू० से २०० ई० पू०) में इसका प्रयोग प्रायः मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि इसी युग के आस-पास संस्कार-पद्धति का विकास हुआ। व्यक्ति को किसी उद्देश्य के लिए उपयुक्त

बनाने के निमित्त संस्कार सम्पादित किये जाते थे। आगे चलकर धर्मशास्त्रियों ने उपयुक्तता की भी व्याख्या की। दो प्रकार की उपयुक्तता मानी गई। एक उपयुक्तता तो वह है जो दोषों के दूर होने से उत्पन्न होती है; दूसरी उपयुक्तता वह है जो नवीन गुणों के आविर्भाव से आती है।

प्रधान संस्कार--संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में मतभेद है। गौतम ने ४० संस्कारों का उल्लेख किया है। मनु और कुछ अन्य धर्मशास्त्रकार संस्कारों की संख्या न देकर यही कहते हैं कि गर्भाधान से लेकर श्मशान (अन्त्येष्टि) तक संस्कारों का उल्लेख मिलता है।

गर्भाधान (गर्भ स्थापित करने के निमित्त), पुंसवन (लड़का होने के निमित्त) और सीमन्तोन्नयन (गर्भ में बच्चे की सुरक्षा के लिए) बच्चे के जन्म के पहले सम्पादित होते थे।

जातकर्म बच्चे के पैदा होनेपर होता था। जन्म से दसवें या बारहवें दिन बच्चे का नाम रखते थे। इसे नामकरण संस्कार की संज्ञा दी गई है। जन्म के चौथे महीने बालक को घर से बाहर उद्यान में ले जाते थे। इसे निष्क्रमण-संस्कार कहते थे। कर्णवेध संस्कार में बालक के कान बेधे जाते थे। इसके समय के सम्बन्ध में कई मत हैं। यह या तो जन्म के सातवें या आठवें या दसवें या बारहवें दिन होता था, या सातवें, आठवें या दसवें महीने में होता था। जन्म से ६ महीने बाद बच्चे को चावल खिलाते थे इसे अन्न-प्राशन-संस्कार कहा गया है। यह संस्कार महत्त्वपूर्ण माना गया है। तीन वर्ष बाद चूड़ाकर्म या चौल संस्कार का अनुष्ठान होता था जब बच्चे के सिर के बाल काटते थे। चूड़ा-कर्म लड़के का ही होता था। काणे महोदय के अनुसार बालक की प्रारम्भिक शिक्षा विद्यारम्भ संस्कार से होती थी। यह तीसरे या आठवें वर्ष के बीच में होता था।

उपनयन—उपनयन संस्कारों में सर्व-प्रधान माना गया है। यह संस्कार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों तक ही सीमित था। इस संस्कार की प्राचीनता उस युग से आती है जब आर्य ईरान तक ही बढ़े थे और भारत नहीं पहुँचे थे। स्मृतियों में उपनयन संस्कार के ही सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक मिलता है। उपनयन का शाब्दिक अर्थ होता है—'समीप ले जाना'। इसका तात्पर्य है गुरु के समीप शिक्षार्थ ले जाना या बालक को विद्यार्थी-जीवन के निकट ले जाना। ब्राह्मण-बालक के लिए प्रायः आठ वर्ष की आयु ही इस संस्कार के लिए उपयुक्त मानी गई है। कहीं-कहीं पर क्षत्रियों के लिए ११ वर्ष और वैश्यों के लिए १२ वर्ष का विधान है। पहले यह संस्कार लड़कियों का भी होता था। पर बाद में जब स्त्री-शिक्षा का ह्रास हो गया तो यह संस्कार भी लुप्त हो गया। शिक्षा का द्वार खोलने के निमित्त ही इस संस्कार का अनुष्ठान होता था।

इस संस्कार का सामाजिक महत्त्व यह था कि इसके बाद बालक यज्ञोपवीत

धारण कर 'द्विज' कहलाता था। उपनयन संस्कार से उसका दूसरा जन्म माना जाता था। इसके बाद से ही बालक अपने वर्ग और समाज का पूर्ण सदस्य बनता था।

उपनयन का आध्यात्मिक महत्त्व यह था कि बालक को वेद के अध्ययन का अधिकार मिलता था। बालक सावित्री-मन्त्र का उच्चारण कर सकता था। इसके बाद से शिक्षा देनेवाला आचार्य उसका आध्यात्मिक पिता माना जाता था और सावित्री उसकी माता। उपनयन के बाद वह ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर वर्षों तक वेद और अन्य शास्त्रों का अध्ययन गुरु के यहाँ करता था। भिक्षाटन से वह जीवन निर्वाह करता था।

विवाह और अन्य संस्कार—विद्यार्थी विद्याध्ययन के पश्चात् जब लौटता था तो समावर्तन संस्कार का अनुष्ठान होता था।

इसके बाद विवाह-संस्कार होता था। महत्त्व की दृष्टि से विवाह-संस्कार का स्थान उपनयन के बाद ही आता है। कुछ विद्वान् विवाह को ही सर्वप्रधान संस्कार मानते हैं। विवाह के बाद ब्रह्मचारी गृहस्थ बनता था और गृहस्थ-जीवन के भार को वहन करता था। विवाह के सम्बन्ध में पहले ही बहुत कुछ कहा जा चुका है।

गृहस्थ का कर्त्तव्य था कि वह होम और वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान करता रहे। पंच-महायज्ञों के सम्बन्ध में पहले ही लिखा जा चुका है। इन संस्कारों को दैव संस्कार कहा गया है क्योंकि ये यज्ञ से सम्बन्धित हैं और अन्य दूसरे संस्कारों—ब्राह्म संस्कारों—से भिन्न हैं।

अन्तिम संस्कार श्मशान या अन्त्येष्टि संस्कार कहा गया है। गौतम आदि धर्मशास्त्रकार तो इसे संस्कारों के अन्तर्गत नहीं मानते।

संस्कारों का महत्त्व—संस्कारों का जो हाथ मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में है उसके सम्बन्ध में स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में अधिक विवेचन नहीं मिलता। संस्कारों के उद्देश्य के सम्बन्ध में भी अधिक विस्तार नहीं मिलता। पर बहुत प्राचीन काल से ही मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों के अंकुरित और विकसित होने के लिए संस्कार आवश्यक समझे जाते थे। वे भिन्न-भिन्न अवसरों पर उन वांछित आन्तरिक परिवर्तनों के बाह्य-प्रतीक माने जाते थे जिनके द्वारा मनुष्य समाज में रहने के लिए उपयुक्त बनता था। प्रत्येक संस्कार का इस दृष्टि से अपना एक उद्देश्य और महत्त्व था। कुछ संस्कारों का मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी था, जैसे, उपनयन संस्कार जीवन के नवीन रूप के प्रारम्भ होने की भावना को मन में अंकित करता था जिससे व्यक्ति उस दिशा में अधिक प्रयत्नशील होता था। उपनयन का आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व भी था क्योंकि व्यक्ति इस संस्कार के द्वारा विद्वानों के सत्संग में आता था और शिक्षा का द्वार उसके लिए खुल जाता था। नामकरण, अन्नप्राशन आदि संस्कार बच्चे के प्रति माता-पिता के स्नेह की अभिव्यक्ति करते थे और ये उत्सव के रूप में मनाये जाते थे। गर्भाधान आदि कुछ संस्कारों में रहस्यात्मक और प्रतीकात्मक तत्त्व थे। विवाह-

संस्कार के पीछे वंश और समाज के क्रम को चलाने के लिए संयम, त्याग एवं पारस्परिक प्रेम द्वारा आत्मोन्नति के लिए दो व्यक्तियों की एकता और सहयोग की भावना विद्यमान थी।

वर्तमान काल में संस्कारों का रूप—वर्तमान काल में उपनयन और विवाह-संस्कार तो किसी न किसी रूप में किये जाते हैं, पर अन्य संस्कारों की प्रथा उठ सी गई है। स्मृतियों के विधान के अनुसार ये बहुत कम सम्पादित होते हैं। नामकरण और अन्नप्राशन भी अभी तक विद्यमान हैं पर इनका वह प्राचीन रूप नहीं रह गया है। मध्यकाल से ही इनके स्वरूप में परिवर्तन आ गया था। बंगाल और कुछ अन्य भागों में तो नामकरण और अन्नप्राशन एक ही दिन मनाये जाते हैं। बहुत जगह चौल और उपनयन संस्कार एक ही दिन होते हैं और समावर्तन कुछ दिनों ही बाद होता है। शिक्षा का वह प्राचीन आदर्श बहुत पहले के युग से ही लुप्त होने लगा था। अतः समावर्त्तन अर्थात् शिक्षा प्राप्त करके लौटने पर जो संस्कार होता था उसका महत्त्व कुछ नहीं रह गया है। कभी-कभी संस्कारों को न करके प्रायश्चित-स्वरूप पुरोहित को कुछ धन दे दिया जाता है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था

वर्णाश्रम-व्यवस्था का अर्थ एवं उसका उद्देश्य—वर्णाश्रम-व्यवस्था हिन्दू-समाज का मूल आधार रही है। वर्णाश्रम का तात्पर्य है वर्ण-व्यवस्था एवं आश्रम-व्यवस्था। इसे वर्णाश्रम-धर्म भी कहते हैं। धर्म का तात्पर्य यहाँ आचार-व्यवहार का मानदण्ड है। समाज परम्परागत चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—में विभाजित किया गया था। यही वर्ण-व्यवस्था या वर्ण-धर्म था। आश्रम-व्यवस्था व्यक्तिगत जीवन के चार विभागों की व्यवस्था थी। आश्रम भी चार माने गये हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। वर्ण-व्यवस्था के आदर्श के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एक निश्चित सामाजिक धर्म या कर्त्तव्य का पालन करता हुआ आत्महित के साथ-साथ सामूहिक एवं सामाजिक हित की अभिवृद्धि के लिये प्रयत्नशील होता था। इस प्रकार वर्ण-धर्म का पालन सामाजिक हित की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। आश्रम-धर्म के पालन द्वारा मनुष्य में वे गुण एवं शक्तियाँ उत्पन्न होती थीं जिनसे वह सामाजिक हित का कार्य सुचारु रूप से सम्पादित कर सकता था। आश्रम-धर्म का महत्त्व इस दृष्टि से वैयक्तिक था। समाज के वर्गीकरण की इस प्रकार की व्यवस्था होते हुए भी सामाजिक एकता एवं सामूहिक हित की भावना सर्वोपरि थी क्योंकि स्वयं वर्गीकरण का लक्ष्य समाज की प्रगति और सामूहिक हित की अभिवृद्धि था।

वर्ण-व्यवस्था—कर्त्तव्यों और वृत्तियों के विभाजन एवं वितरण द्वारा धर्मशास्त्रों में एक व्यवस्थित समाज के निर्माण का आदर्श उपस्थित किया गया जिसका

आधार श्रम-विभाजन का सिद्धान्त था। इस प्रकार सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक कर्त्तव्योंका विभाजन कर दिया गया। समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णों में विभाजित किया गया। इसीलिये इसे चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था भी कहते हैं। इसका उद्देश्य समाज में उच्छृंखल होड़ को रोकना था।

व्यवसाय और जन्म के आधार पर समाज का वर्गीकरण प्राचीन ईरान, रोम, जापान आदि देशों में भी प्रचलित था। आजकल भी श्रम-विभाजन के अनुसार समाज का वर्गीकरण अन्य देशों में देखा जा सकता है। सोवियत रूस में पहले वर्गहीन समाज की स्थापना हुई थी। पर आजकल वहाँ भी किसी न किसी रूप में वर्गों का उदय दृष्टिगोचर हो रहा है। भारतीय वर्ण-व्यवस्था किसी अन्य समाज के साधारण वर्गीकरण से भिन्न है। पहली बात तो यह है कि वर्ण-व्यवस्था को धर्मशास्त्रों में दार्शनिक आधार प्रदान किया गया है। कर्म के सिद्धान्त को लागू करके यह कहा गया कि किसी विशेष वर्ण या जाति में जन्म लेना प्राक्तन (पूर्वजन्म के) कर्मों का फल है। अतः मनुष्य को उसी जाति या वर्ण के कर्त्तव्यों में संलग्न होना चाहिये और इसी के द्वारा संसार से मुक्ति मिलती है। दूसरे, कालान्तर में समाज के इन वर्गों में कठोरता आ-गई। ये ठोस बनकर जातियों में परिणत होने लगे। धीरे-धीरे एक वर्ग के लोग आपस में ही रोटी-बेटी का सम्बन्ध करने लगे।

वर्ण और जाति—वर्ण शब्द पहले रङ्ग के अर्थ में प्रयुक्त होता था। बाद में शरीर के गौर या काले रंग के आधार पर जन-समुदायों के लिए प्रयुक्त होने लगा। ऋग्वेद में आर्य-वर्ण और दास-वर्ण का उल्लेख मिलता है। आर्य गौर वर्ण के थे और दास काले। तत्पश्चात् वर्ण शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्गों का बोधक हो-गया। प्रारम्भ में यह व्यवस्था कर्म और गुण के ही आधार पर थी। पर पाणिनि के 'ब्राह्मणजातीय' शब्द के प्रयोग से यह ज्ञात होता है कि पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में ये वर्ण ठोस होकर जाति का रूप धारण करने लगे थे। इसके पश्चात् भी कभी-कभी याज्ञ-वल्क्य आदि धर्मशास्त्रकार वर्ण और जाति के अन्तर को स्पष्ट करते हैं। वर्ण-विभाजन का आधार कर्म और जाति का जन्म था। गीता में भी आता है कि चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर थी—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

परन्तु मनु (२०० ई० पू० से २०० ई०) ने वर्ण और जाति को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है और जन्म को ही उसका आधार माना है।

इससे यह ज्ञात होता है कि वर्ण-व्यवस्था पहले गुण और कर्म के आधार पर थी और बाद में इसका आधार जन्म हो गया। मनु के काल तक वर्ण और जाति समानार्थक शब्द हो गये। आज भी वर्ण का अर्थ साधारण रूप से जाति ही माना जाता है।

वर्ण या जाति की उत्पत्ति के सिद्धान्त—वर्ण या जाति की उत्पत्ति के सिद्धान्तों में पहला तो धर्मशास्त्रों का दैवी सिद्धान्त है। धर्मशास्त्रों के अनुसार यह व्यवस्था दैवी है और अनादिकाल से चली आ रही है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में भी यह उल्लेख है कि उस विराट् पुरुष (स्रष्टा) का मुख ब्राह्मण था, भुजायें क्षत्रिय बनाई गईं; उसकी जंघायें वैश्य बनीं और उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।

वर्तमान विचारकों ने वर्ण या जाति की उत्पत्ति की समस्या पर समाज-शास्त्र के दृष्टिकोण से भी विचार किया है। कुछ विद्वान् प्रारम्भिक जातिगत (racial) विभिन्नताओं से जाति की उत्पत्ति बताते हैं। कुछ का कथन है कि व्यवसाय-सम्बन्धी विशिष्टता के कारण विभिन्न जातियाँ बन गईं। कुछ औद्योगिक श्रेणियों (guilds) से जातियों की उत्पत्ति मानते हैं। कुछ के अनुसार आदिकाल में भी कबीलों (tribes) में अपने समूह में ही या अपने समूह के बाहर विवाह की प्रथा प्रचलित थी और कुछ निषेध के नियम भी थे; इन्हीं का हाथ जातियों के निर्माण में था। कुछ विद्वानोंके अनुसार भारत में आने के पहले भी आर्यों में श्रम-विभाजन के आधार पर वर्ण-व्यवस्था के बीज विद्यमान थे। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि द्रविड़ आदि आर्येतर जातियों के प्रभाव से ही जाति-प्रथा की उत्पत्ति हुई।

वास्तव में कोई एक कारण जाति-प्रथा जैसी जटिल समस्या को नहीं सुलझा सकता। ऐसा मालूम होता है कि समय-समय से नाना कारणों के संघात से जातियों का उदय हुआ। जब हम जाति-प्रथा के ऐतिहासिक विकास पर दृष्टिपात करेंगे तब यह स्पष्ट हो जायगा।

चातुर्वर्ण्य व्यवस्था पर ऐतिहासिक दृष्टि—ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि पूर्व-वैदिक काल में समाज पुरोहित (ब्राह्मण), राजन्य (क्षत्रिय) और विशः (साधारण जनता) में विभक्त था। ब्राह्मण धर्म-कार्य करते थे। राजन्य युद्ध, रक्षा एवं शासन का कार्य करते थे। साधारण लोग खेती एवं पशु-पालन करते थे। अवेस्ता नामक ग्रंथ के साक्ष्य से विदित होता है कि प्राचीन ईरान में भी समाज का वर्गीकरण अथर्व (पुरोहित), रथेस्थ (सैनिक), वस्त्र्य फसुयन्त (कुटुम्ब के अध्यक्ष) और हुइति (मोटा काम करने वालों) में था।

उत्तर-वैदिक काल में अथर्ववेद, ब्राह्मण-ग्रंथ, आरण्यक एवं उपनिषदों की रचना हुई। इस काल में शूद्रों का चतुर्थ वर्ग के रूप में उदय हुआ। कुछ विद्वानों का मत है कि जो पहले के दास और दस्यु थे और जिन्हें आर्यों ने पराजित किया था वही इस युग में शूद्र कहे जाने लगे। पर आर्य और आर्येतर जातियाँ एक दूसरे से बिल्कुल अलग नहीं रह सकीं। उनका मिश्रण प्रारम्भ हो गया था। अतः अन्ततोगत्वा शूद्र शब्द जाति विशेष का बोधक न होकर उन सब के लिये प्रयुक्त होने लगा जो सांस्कृतिक विकास में पीछे थे।

छठी से लेकर तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक के काल में गौतम, बौधायन, वशिष्ठ, आपस्तम्ब आदि धर्म-सूत्रों की रचना हुई। इनमें चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त को अधिक व्यावहारिक रूप देकर समाज को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया। प्रत्येक वर्ण के व्यवसाय निश्चित किये गये और वर्ण-व्यवस्था की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य माना गया। इसी युग में बौद्ध-धर्म का उदय हुआ! बौद्ध-धर्म ने जाति-प्रथा अर्थात् वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया पर यह पूर्ण रूप से सफल न हो सका।

धर्मसूत्रों के बाद धर्मशास्त्रों का काल आता है। धर्मशास्त्रों में मनुस्मृति (२०० ई० पू० से २०० ई०) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक मानी गई है। इस युग में चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त को व्यवस्थित और व्यापक रूप दिया गया जो आज तक आदर्श माना जाता है। उसे समस्त समाज पर लागू किया गया और सामाजिक विभिन्नताओं को उसी के द्वारा सिद्ध किया गया। शक आदि जो विदेशी आक्रमण-कारी आये उन्हें समाज की इसी व्यवस्था में स्थान मिला। मनु ने शकों को क्षत्रिय माना है जो अपने आचार से च्युत हो गये थे। वर्ण केवल चार थे पर विभिन्न व्यवसायों के कारण जातियाँ बहुत सी बनती जा रही थीं। उन सब की उत्पत्ति वर्ण-संकर अर्थात् वर्णों के मिश्रण द्वारा बताई गई। धर्मशास्त्रों ने वर्ण-व्यवस्था का जो सिद्धान्त निर्धारित किया वही आगे आने वाले सभी कालों के लिये आदर्श बन गया।

पर यह ध्यान देने योग्य बात है कि गुप्तकाल तक वर्ण-व्यवस्था में उतनी कठोरता और रूढ़िवादिता नहीं आई थी। विवाह और खान-पान के सम्बन्ध में कट्टरता नहीं थी; ये अपने वर्ग तक ही नहीं सीमित थे। स्मृतियों ने भी अनुलोम-विवाह अथात् उच्च वर्ण के पुरुष का निम्न वर्ण की कन्या के साथ विवाह वैध बताया था। अभिलेखों एवं अन्य ग्रन्थों से भी अन्तर्जातीय विवाह के उदाहरण मिलते हैं। कुछ उदारता का कारण बौद्ध-धर्म का प्रभाव भी था।

गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् हूणों और गुर्जरों के आक्रमणों के प्रभाव से समाज की व्यवस्था को एक धक्का पहुँचता है। बहुत से अभिलेख एवं ग्रन्थ इस बात की पुष्टि करते हैं कि इस काल में चातुर्वण्र्य व्यवस्था की स्थापना के प्रयत्न समस्त उत्तरी भारत में होने लगे। आठवीं शताब्दी के बाद से नई स्मृतियों की रचना बन्द हो जाती है। अब प्राचीन स्मृतियों पर भाष्य लिखे जाते हैं। इस युग में रूढ़िवादिता बढ़ती गयी। अनुलोम-विवाह भी बन्द होने लगे। शौचाचार की भावना के कारण खान-पान का दायरा अपने वर्ग में भी संकुचित होने लगा। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी के राजपूतकालीन अभिलेखों एवं ग्रन्थों से यह विदित होता है कि ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों की अनेक उपजातियाँ बन गई थीं। शुक्ल, चतुर्वेद, दीक्षित आदि ब्राह्मणों की उपजातियों के नाम मिलते हैं। क्षत्रियों के भी चौहान, परमार, चन्देल आदि ३६ वंश हो गये थे। इसी काल में राजकर्मचारी वर्ग जो कायस्थ कहलाता था,

जातिके रूपमें परिणत होने लगा। अरब विद्वान् अल्बेरूनी ने भी ग्यारहवीं शताब्दी में जाति-प्रथा की कठोरता के सम्बन्ध में अपने भारत-विवरण में लिखा है। अस्पृश्यता की कलुषित प्रथा का भी इसी युग में पूर्ण विकास होता है और आज तक यह प्रथा किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है। कुछ विद्वानों का कथन है कि जाति-प्रथा की जंजीरों में जकड़ा हुआ हिन्दू-समाज मुसलमानों का सामना नहीं कर सका और तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही उत्तरी भारत में उनका राज्य स्थापित हो गया। उनके आने के बाद हिन्दू समाज में आतंक और समाज-संकट की भावना बढ़ने लगी। फलस्वरूप समाज में संकीर्णता और विभेद बढ़ते गये। जाति-प्रथा कठोर होती गई। मध्यकाल में कबीर और कुछ अन्य सुधारकों ने इस प्रथा का विरोध किया। पर समाज पर उनका कोई विशेष प्रभाव न पड़ा।

वर्तमान काल में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द ने जाति-प्रथा के दोषों को समझा और समाज-सुधार की भावना को जाग्रत् किया। इस युग में दो धाराएँ थीं। स्वामी दयानन्द ने प्राचीन आदर्शों के अनुसार जाति को कर्मणा बताया अर्थात् उनके मत से जन्म द्वारा नहीं बल्कि कर्म या वृत्ति और गुण द्वारा जाति निर्धारित होती है। राजा राममोहन राय ने पाश्चात्य-सभ्यता से प्रभावित होकर जाति-प्रथा को सर्वथा दोषपूर्ण बताया और उसका विरोध किया। कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि १९०१ ई० की जनगणना के बाद से जातियों पर एक ठप्पा लग गया जिससे जाति-प्रथा की रूढ़ियाँ और स्थायी होने लगीं और जातीयता बढ़ने लगी। बीसवीं शताब्दी में महात्मा गाँधी ने स्पष्ट शब्दों में जाति-प्रथा और अस्पृश्यता को हिन्दू जाति का कलंक बताया। इन सब प्रभावों के कारण समाज में उदारतापूर्ण विचारों का जन्म हुआ। पाश्चात्य संस्कृति को भी इस परिवर्तन का श्रेय है। खान-पान के बन्धन शिथिल होने लगे। अन्तर्जातीय विवाह के भी कुछ उदाहरण शिक्षित समाज में मिलने लगे। आज समय के परिवर्तन के साथ जाति-प्रथा के बन्धन शिथिल होते जा रहे हैं।

धर्म-शास्त्रों के अनुसार वर्ण और उनके कर्त्तव्य—वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मणों को प्रथम स्थान दिया गया है। मनु के अनुसार उनका कर्त्तव्य अध्ययन, अध्यापन, अपने एवं दूसरों के लिए यज्ञ करना, दान लेना एवं दान देना था। ब्राह्मण के कर्त्तव्य का आदर्श उच्च था और इसके पीछे लोक-कल्याण एवं स्वार्थ-त्याग की भावना थी। भारतीय संस्कृति, धर्म और विज्ञान की उन्नतिके लिए प्राचीन काल में यह वर्ग सतत प्रयत्नशील रहा। विद्वान् ब्राह्मणों की कई कुल-परम्परायें बन गई थीं जिन्होंने भारतीय संस्कृति की थाती को सुरक्षित रखा। भारतीय संस्कृति के आज भी जीवित रहने का श्रेय बहुत कुछ इसी वर्ग को है।

ब्राह्मण पुरोहित, दार्शनिक, ज्योतिषी एवं कवि तो होते ही थे, राजनीति में

भी उनका हाथ रहता था। वे राजाओं के मन्त्री होते थे। शुंग (दूसरी शताब्दी ईसापूर्व) आदि कुछ ब्राह्मण-वंशों ने राज्य भी किया।

बाद में शिक्षा के ह्रास के कारण इन आदर्शों का भी पतन होने लगा।

दूसरा वर्ण क्षत्रियों का था। क्षत्रियों का प्रधान कर्त्तव्य प्रजारक्षण और युद्ध था। अधिकतर इस वर्ग के लोग ही राजा होते थे। क्षत्रियों की शिक्षा ब्राह्मणों द्वारा होती थी।

तृतीय वर्ण वैश्यों का था। उनका कर्त्तव्य कृषि, वाणिज्य, पशुपालन और कुसीद (सूद पर धन देना) था। समाज की सम्पत्ति का वे विकास करते थे। पूर्व-मध्यकाल में वैश्यों की स्थिति गिरने लगी। खेती करनेवाले शूद्र कहे जाने लगे।

ये तीनों वर्ण द्विज कहलाते थे। इनका उपनयन संस्कार और यज्ञोपवीत द्वारा एक जन्म और माना जाता था जो सामाजिक जन्म था। इसीलिये इन्हें द्विज (दो जन्मवाला) कहते हैं।

चौथा वर्ण शूद्रों का था। इनका उपनयन नहीं होता था। मनु ने उनके लिये दास्यवृत्ति (सेवा-कार्य) और शिल्पकर्म का विधान किया है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि छठी-सातवीं शताब्दी से खेती करनेवालों की भी गणना शूद्रों में होने लगी।

इन चारों वर्णों के अतिरिक्त ऐसे वर्ग भी थे जो निकृष्ट वृत्ति का पालन करते थे, जैसे चाण्डाल इत्यादि। ये समाज से बाहर थे और अस्पृश्य समझे जाते थे।

कालान्तर में व्यावसायिक समुदायों के बढ़ने के कारण और अन्तर्जातीय विवाहों के कारण अन्य वर्गों का भी उदय हुआ जिन्हें वर्णसंकर के सिद्धान्त द्वारा समाज-व्यवस्था में स्थान दिया गया। इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। कुछ व्यावसायिक वर्ग पहले से ही विद्यमान थे और समाज-व्यवस्था में उनका भी स्थान निश्चित किया गया। धर्मशास्त्रों में बहुत-सी संकीर्ण जातियों के नाम मिलते हैं जिनकी उत्पत्ति अनुलोम और प्रतिलोम विवाह द्वारा वर्णोंके मिश्रण से बताई गई है, जैसे, चर्मकार, धीवर, नापित (नाई), मणिकार (मणि का काम करनेवाले), रजक (धोबी) इत्यादि।

शक, पहलव, यवन आदि बाह्य आक्रमणकारियों को मनु ने क्षत्रिय बताया है जो आचार से च्युत हो गये थे। हूणों और गुर्जरों को भी बाद में समाज ने क्षत्रिय के रूप में ग्रहण किया।

पर जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, यह वर्ण-व्यवस्था प्रारम्भ में सिद्धान्त रूप में थी जिससे कि समाज के विभिन्न आर्थिक वर्गों में एक प्रकार का संतुलन बना रहे। व्यावहारिक जीवन में उसका अक्षरशः पालन न हो सकता था और न होता था। स्मृतियों से भी ज्ञात होता है कि एक जाति के सभी लोग एक ही वृत्ति का पालन नहीं

करते थे। इतिहास से भी इसकी पुष्टि होती है। शुङ्ग एवं वाकाटक ब्राह्मणों के वंश थे पर प्राचीन काल में उन्होंने राज्य किया और इस प्रकार उन्होंने क्षत्रिय के कर्त्तव्य का पालन किया।

वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व : गुण और दोष—प्राचीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था का आदर्श उच्च था। प्रत्येक वर्ण का कर्त्तव्य और उसकी वृत्ति निश्चित कर दी गई थी। समस्या का स्थायी हल श्रम-विभाजन के आधार पर समाज का वर्गीकरण था। फलतः श्रम की समस्या के कारण जो अनवरत अशान्ति और अस्तव्यस्तता समाज में रहती है वह उस काल में न थी। आज वृत्ति एवं व्यवसाय के लिये समाजों में एक तीव्र होड़ देखी जाती है; ऐसी स्थिति प्राचीन भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था के कारण नहीं उत्पन्न हो सकती थी। किसी के लिये अभाव होने की संभावना कम थी और प्रत्येक व्यक्ति अपनी वृत्ति का पालन करता हुआ अपनी शक्ति के अनुसार समाज-कल्याण के लिये श्रमदान करता था। इसीलिये कुछ विद्वान् इस व्यवस्था को प्राचीन वैज्ञानिक समाजवाद भी कहते हैं। यद्यपि कठोरतापूर्वक इसका पालन नहीं होता था फिर भी इसके द्वारा व्यावसायिक वर्गों में एक प्रकार का शक्ति-संतुलन बना रहता था।

पर समाज के इस वर्गीकरण के कारण समाज की एकता की उपेक्षा नहीं की गई थी। अनेकता और विभिन्नता में एकता स्थापित करना भारतीय संस्कृति की एक विशिष्टता रही है। वर्ण-व्यवस्था में भी वही भावना हम पाते हैं। प्राचीन ऋषियों ने मनुष्यों की शक्तियों और स्वभावों की भिन्नता और उनके जीवन की आवश्यकताओं की भिन्नता को मानकर उसके आधार पर समाज का वर्गीकरण करके भी समाज की एकता के आदर्श का प्रतिपादन किया। विभिन्न वर्गों के सहयोग पर ही समाज की उन्नति आधारित थी। ऋग्वेद के उस पुरुष-सूक्त में चारों वर्ण उसी विराट्-पुरुष के विभिन्न अंग बताये गये हैं। इसमें वर्णों की अभिन्नता तथा अन्योन्याश्रित सम्बन्ध का ही आदर्श है।

वर्ण-व्यवस्था का आदर्श केवल भौतिक नहीं था। भारतीय जीवन का सर्वोत्तम लक्ष्य मुक्ति अर्थात् सांसारिक जाल से छुटकारा माना गया था। वर्ण-व्यवस्था का उद्देश्य ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना था जिनमें समाज के सभी व्यक्ति अपना-अपना कर्म करते हुए सामूहिक रूप से उसी चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर हों। मुक्ति और वर्ण-व्यवस्था में क्या तर्कपूर्ण सम्बन्ध हैं इस पर कुछ लोग संदेह कर सकते हैं। पर इस आदर्श के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

वर्ण-व्यवस्था के कारण व्यवसायगत विशिष्टता आती थी। एक ही व्यवसाय एक जाति में चलता जाता था जिससे लोग उस व्यवसाय में विशेष निपुणता प्राप्त कर लेते थे। इसके अतिरिक्त जातियों के स्थिर हो जाने से उनकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्परायें बनी रहीं और समय के प्रभाव से वे घुल नहीं सकीं। हिन्दू-समाज एवं संस्कृति

के आज भी जीवित रहने का यह एक प्रधान कारण है। देश की सांस्कृतिक निधि की उन्नति होती रही।

पर वर्ण-व्यवस्था का यह आदर्श प्राचीन काल में था। हर्षोत्तर काल या राजपूत काल (७०० ई० से १२०० ई०) से, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, वर्ण-व्यवस्था का रूप बदलने लगा। भेद में अभेद अर्थात् विभिन्नता और विविधता में एकता का आदर्श लुप्त होने लगा। समाज की विभिन्न जातियाँ अपने दायरे में ही सीमित होकर एक-दूसरे से अलग हो गईं। जातियों में भी बहुत-सी उपजातियाँ बन गईं। शूद्रों पर प्रतिबन्ध बढ़ने लगे और उनकी अवस्था गिरती गई। दलित वर्ग के प्रति अस्पृश्यता की भावना भी बढ़ने लगी। जातिगत होड़ भी प्रारम्भ हो गई। जातियाँ सामाजिक कर्त्तव्य को भूलकर अपने-अपने अधिकारों को सुरक्षित करने के प्रयत्न में लग गईं। जातीयता की भावना तीव्र होने लगी। यह सब अधिकतर शिक्षा के ह्रास के कारण हुआ। इस प्रकार विभेद की सृष्टि के कारण समाज की व्यवस्था बिगड़ गई और उसकी एकता नष्ट हो गई। हिन्दू-समाज नाममात्र को रह गया। वह कई जातियों और उपजातियों का समूहमात्र रह गया। सामाजिक एकता के न रहने और संकुचित जातीयता के बढ़ जाने से राष्ट्रीय-चेतना का नितान्त अभाव बहुत दिनों तक बना रहा। इससे हिन्दू-समाज को अनेक ठोकरें खानी पड़ीं। किसी उच्च सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप जब विकृत हो जाता है तो वह अधिक घातक होता है। वर्ण-व्यवस्था का उच्च आदर्श इसी प्रकार रूढ़िवादिता के चंगुल में फँस गया। भारत में आने पर मुसलमानों में भी जाति-प्रथा का विकास हो गया।

यही शोचनीय अवस्था पिछली शताब्दी तक विद्यमान थी। पर समाज-सुधार आन्दोलनों और कुछ वैधानिक परिवर्तनों के फलस्वरूप जाति-बन्धन में धीरे-धीरे शिथिलता आ चली है। पर आज भी अनेकों संकीर्ण रूढ़ियों एवं परम्पराओं में आबद्ध हजारों जातियाँ सामाजिक जीवन के स्वच्छन्द प्रवाह से दूर हैं। इसीलिये कुछ विद्वान[1] कहते हैं कि आज हिन्दू-समाज निर्णय के द्वार पर है।

आश्रम-व्यवस्था

'आश्रम' शब्द संस्कृत की 'श्रम्' धातु से निकला है जिसका अर्थ है प्रयास करना या परिश्रम करना; आश्रम का अर्थ जीवन का विभाग है जिसमें मनुष्य प्रयास करता है। चार आश्रम इस प्रकार हैं—

(१) ब्रह्मचर्य
(२) गृहस्थ
(३) वानप्रस्थ

१. Panikkar, K. M. *Hindu Society at Cross Roads*

(४) संन्यास

पहले ही यह देखा जा चुका है कि आश्रम-व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था से सम्बन्धित थी। जिस प्रकार समाज चार वर्णों में विभाजित किया गया उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन के भी चार विभाग बताये गये[१]। जब व्यक्ति का यज्ञोपवीत हो जाता था तो वह ब्रह्मचर्य और तप का जीवन व्यतीत करता हुआ गुरु के घर अध्ययन करता था। इस काल में वह वेदों का विशेष अध्ययन करता था। ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते थे—उपकुर्वाण और नैष्ठिक। उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य-आश्रम के बाद गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करते थे पर नैष्ठिक जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचारी रहते थे। विद्याध्ययन के पश्चात् ब्रह्मचारी घर लौटता था और विवाह कर गृहस्थ-जीवन में प्रवेश करता था। व्यावहारिक दृष्टि से गृहस्थ-आश्रम बड़ा महत्त्वपूर्ण था क्योंकि अन्य तीन आश्रमों का आर्थिक-दृष्टिकोण से यही आधार बनता था। अन्य सभी आश्रमों के लोगों का गृहस्थ द्वारा ही पालन होता था। इस आश्रम में भौतिक-जीवन के उपभोग के साथ कर्त्तव्य भी निभाने पड़ते थे। गृहस्थ के तीन ऋणों और गृहस्थ-जीवन के आदर्शों के सम्बन्ध में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। पौत्रों का मुख देख लेने के पश्चात् अधेड़ आयु में गृहस्थ वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। अरण्य में जाकर वह तपस्या और ध्यान द्वारा सांसारिक इच्छाओं और बन्धनों से मुक्त होने का प्रयत्न करता था। अन्त में पूर्ण वृद्ध हो जाने पर वह अपनी कुटी छोड़ कर संन्यास ग्रहण कर लेता था और परिव्राजक बन जाता था। इस अवस्था में उसके सारे सांसारिक बंधन छूट जाते थे।

कुछ विद्वानों का मत है कि आश्रमों का विभाजन एक आदर्श था जिसका व्यावहारिक जीवन में पालन बड़े पैमाने पर नहीं होता था। परन्तु यह आदर्श सदैव प्राचीन-समाज में विद्यमान था और बहुत लोगों ने इसके पालन का प्रयत्न भी किया। यूँनानी लेखकों के विवरण से ज्ञात होता है कि कुछ भारतीय तपस्वियों ने, जो संसार को त्यागकर कुटियों में रहते थे, अपने विचक्षण ज्ञान से सिकन्दर को भी आश्चर्य-चँकित कर दिया था। आश्रमों का संबंध चारों पुरुषार्थों से भी माना जाता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का संबंध धर्म से था, गृहस्थ का अर्थ और काम से और वानप्रस्थ एवं संन्यास का मोक्ष से।

---

१. कुछ विद्वानों के मत से उत्तर-वैदिक काल और धर्मसूत्रों के काल में आश्रम-व्यवस्था का विधान किया गया। पर आधुनिक गवेषणाओं के पश्चात् यह महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकला है कि चार आश्रमों की व्यवस्था बौद्ध-काल के पहले की नहीं हो सकती और चारों आश्रमों की उत्पत्ति एक साथ नहीं हुई। पहले ब्रह्मचर्य और गृहस्थ का विधान था। बाद में वानप्रस्थ का विधान किया गया। तत्पश्चात् तपस्वी मुनियों के प्रभाव से जब वैदिक समाज में तपस्या का प्रभाव बढ़ने लगा तो संन्यास-आश्रम का विधान किया गया। देखिये—डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डे, स्टडीज इन दि आरिजिन्स ऑफ बुद्धिज़म, पृ० ३२२-२६।

कभी-कभी एक आश्रम के बाद ही दूसरे में प्रवेश किया जाय यह आवश्यक नहीं था। मानव-जीवन का चतुर्थ भाग प्रत्येक आश्रम की अवधि मानी जाती थी।

स्त्रियों की दशा

ऐतिहासिक दृष्टि—स्त्री-दशा किसी भी देश की संस्कृति एवं सभ्यता का एक मानदण्ड मानी जाती है। भारत में भी हमें स्त्रियों की उन्नत दशा का परिचय मिलता है। पूर्व-वैदिक-काल में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही सामाजिक और धार्मिक अधिकार प्राप्त थे। उनकी भी शिक्षा पुरुषों की भाँति होती थी और वे भी प्रारम्भ में ब्रह्मचर्य का पालन करती थीं। उनके सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार को मान्यता नहीं प्राप्त थी, पर वे स्वतन्त्र रूप से यज्ञ कर सकती थीं और सामाजिक तथा धार्मिक सभाओं में उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसके विपरीत अन्य प्राचीन संस्कृतियों में स्त्री-दशा का यह उन्नत रूप नहीं मिलता। प्राचीन रोमन और यूनानी समाज में स्त्रियाँ पुरुषों की सम्पत्ति मानी जाती थीं। इस काल में १६ या १७ वर्षों की अवस्था में कन्याओं का विवाह होता था। प्रेम-विवाह की भी प्रथा प्रचलित थी। इस काल में कुछ विदुषी स्त्रियों ने वैदिक ऋचाओं की भी रचना की थी।

उत्तर-वैदिक-काल (१२०० ई० पू० से ८०० ई० पू०) में भी स्त्रियों की अवस्था उन्नत थी। उच्च वर्ग में उनका भी उपनयन संस्कार प्रचलित था। कुछ स्त्रियाँ धर्म और दर्शन में विशेष निपुणता प्राप्त करती थीं, कुछ अध्यापन-कार्य करती थीं। बृहदारण्यक उपनिषद् से ज्ञात होता है कि गार्गी ने अपने युग के महान् दार्शनिक याज्ञवल्क्य से वाद-विवाद किया था। यज्ञ इत्यादि धार्मिक कार्यों में स्त्रियों का सहयोग आवश्यक रहता था।

पर सूत्रों, महाकाव्यों और स्मृतियों के काल (८०० ई० पू० से ५०० ई० पू०) में स्त्रियों की दशा साधारणतया गिरने लगी। उनके उपनयन की प्रथा हट गई। स्त्री-शिक्षा की भी उपेक्षा होने लगी। शक-सीथियनों के प्रभाव के कारण सती-प्रथा का भी प्रचार होने लगा। कुछ राजवंशों में पर्दा-प्रथा भी चल पड़ी। इस काल से विवाह की आयु भी घटा दी गई। विधवा-विवाह और नियोग की प्रथा भी ५०० ई० के आस-पास बन्द हो गई। स्त्रियों को पति के दासतापूर्ण नियन्त्रण में रहने का आग्रह होने लगा; पर्दे की प्रथा भी चल पड़ी।

५०० से १८०० ई० तक उत्तरकालीन धर्म-शास्त्रों एवं स्मृतियों पर भाष्यों का काल माना जाता है। इस काल में स्त्री-दशा गिरती गई। पर स्त्री के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों को मान्यता प्रदान की गई। मिताक्षरा (बारहवीं शताब्दी) में स्त्री-धन का क्षेत्र विस्तृत किया गया। इसमें उत्तराधिकार एवं विभाजन की सम्पत्ति भी सम्मिलित की गई। साधारणतः स्त्रियों को इस युग में शूद्रों की कोटि में रखा

गया। बाल-विवाह की प्रथा के कारण उनकी शिक्षा का प्रश्न ही नहीं था। सती-प्रथा राजपूत काल में और व्यापक हो गई। मुसलमानों के आने के साथ तेरहवीं शताब्दी से पर्दे की प्रथा बढ़ने लगी। इस युग में स्त्रियों की संगीत और नृत्य की शिक्षा भी कम हो गई।

परन्तु कुछ राजवंशों में स्त्रियों की दशा इस युग में भी सन्तोषजनक थी। कश्मीर के इतिहास से ज्ञात होता है कि राजपूत काल में सुगन्धा और दिद्दा प्रसिद्ध रानियाँ थीं।

बीसवीं शताब्दी तक सती-प्रथा बन्द हो गई। पर स्त्रियों की ऐसी ही दशा कुछ समय पहले तक चलती रही। किन्तु अब उनकी दशा में पर्याप्त सुधार हो गया है। उन्हें पुरुषों के समान ही उन्नति करने का अवसर और अधिकार प्राप्त है।

प्राचीन प्रमुख ग्रन्थों में स्त्रियों का स्थान—यद्यपि स्त्री-दशा गिरती जा रही थी, स्त्रियों के सामाजिक एवं आर्थिक अधिकार कम होते जा रहे थे, कुछ लोग उनके चरित्र की कटु आलोचना करते थे तथा उन्हें निम्नदृष्टि से देखने लगे थे, फिर भी स्त्री के महत्त्वपूर्ण आदर्श की प्रतिष्ठा शास्त्रों एवं महाकाव्यों में मिलती है।

प्राचीन भारत में स्त्रियों के महत्त्व को समझा गया था। शतपथ ब्राह्मण में स्त्री को पुरुष की अर्धाङ्गिनी बताया गया है (अर्धो ह वा एष आत्मनो—५।२।१।१०)। महाभारत में स्त्री को धर्म, अर्थ और काम का मूल बताया गया है (भार्या मूलं त्रिवर्गस्य—आदिपर्व ७४।४०)।

मनुस्मृति एवं महाभारत आदि ग्रन्थों में गृहिणी-पद का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। महाभारत में आता है कि बिना गृहिणी के गृह नहीं कहा जा सकता। कुटुम्ब-संयोजन में स्त्री का उत्तरदायित्व महत्त्वपूर्ण था। हर प्रकार के धार्मिक एवं पारिवारिक कार्य में उसका पति के साथ रहना आवश्यक माना जाता था। वह पुरुष की सहचरी थी।

मनु के अनुसार जहाँ स्त्रियाँ पूजी जाती हैं वहाँ देवता रमण करते हैं (यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।) स्त्री के मातृ-पद का भी गौरव उच्च था। मनु के अनुसार पिता का पद १०० आचार्य-पद के बराबर होता है और माता का पद १०० पिता से भी श्रेष्ठ होता है। महाभारत के शान्ति-पर्व में भी माता की प्रतिष्ठा देवी के रूप में की गई है और उसे सबसे बड़ा गुरु माना गया है। पाण्डव योद्धाओं में माता कुन्ती के प्रति इसी प्रकार की भक्ति थी।

मनु के अनुसार जिस कुल में स्त्रियाँ अपमानित होती हैं वह कुल विनष्ट हो जाता है। स्त्री का महत्त्व महाकवि कालिदास ने रघुवंश में निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है—

"गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।"

(तू मेरी गृहिणी, सचिव, सखी व ललित-कला सीखने में प्रियशिष्या थी)

स्त्री के कर्त्तव्य का आदर्श—पति सेवा और पति-परायणता स्त्री का परम कर्त्तव्य माना गया है। मनु (५।१५४) के अनुसार स्त्री को चाहिए कि वह पति को देवता माने। शाकुन्तल में कालिदास ने भी कहा है कि पति का स्त्री पर सर्वतोमुखी प्रभुत्व रहता है (उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी—शाकुन्तल, ५) मनु का आदेश है कि स्त्री को प्रसन्नचित्त होकर गृह के समस्त कार्य करने चाहिए। उसे घर का हिसाब-किताब भी रखना चाहिए।

मनुस्मृति और महाभारत में पतिव्रता के आदर्श की भूरि-भूरि प्रसंशा की गई है। मनु ने (९।१३) विवाहित स्त्री के लिए निम्नलिखित ६ दुर्गुणों को त्याज्य बतलाया है—मदिरापान, कुसंग, पति से दूर रहना, तीर्थभ्रमण, दिन में सोना और दूसरों के घर में रहना।

पति का कर्त्तव्य स्त्री के भरण-पोषण के लिये यथोचित प्रबन्ध करना था। देवल स्मृति (आठवीं शताब्दी) के अनुसार यदि स्त्री के ऊपर म्लेच्छ द्वारा बलात्कार होता था तो उसकी शुद्धि का विधान था।

विधवा की दशा—वैदिक काल में पति के मर जाने के उपरान्त स्त्री पुनर्विवाह कर सकती थी। नियोग की प्रथा भी थी जिसके अनुसार विधवा किसी निकटस्थ सम्बन्धी से विवाह करती थी। उत्तर-वैदिक-काल में भी ये प्रथाएँ विद्यमान थीं। ३०० ई० पू० से विधवाओं की दशा गिरने लगी। इसके फलस्वरूप ५०० ई० के आसपास से यह प्रथा धीरे-धीरे बन्द होने लगी। इससे विधवाओं की दशा और शोचनीय हो गई। १००० ई० के बाद से विधवा-विवाह बन्द-से हो गये। आठवीं शताब्दी के बाद से ही विधवा के सिर के बाल भी काट दिये जाते थे। वे अशुभ मानी जाने लगीं और उनके प्रति घृणा की दृष्टि समाज में बढ़ने लगी। बारहवीं शताब्दी तक पति की सम्पत्ति के उत्तराधिकार का उनका अधिकार मान लिया गया पर उनकी स्थिति गिरती ही गई। १८५६ ई० में विधवा-विवाह का कानून पास हो गया पर जनमत उसके विरुद्ध था। अतः समाज पर उसका प्रभाव बहुत दिन बाद बीसवीं शताब्दी में ही हुआ जब लोगों में उदार विचार आये।

सती-प्रथा—सती की अमानुषिक प्रथा वैदिक काल में नहीं थी। धर्म-सूत्रों और मनुस्मृति में भी सती-प्रथा का उल्लेख नहीं है। प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ में इस प्रथा का अस्तित्व प्रारम्भ होता है। सम्भवतः यह प्रथा शक और सीथियनों के प्रभाव से भारत में विकसित हुई। प्रारम्भ में इसका विरोध हुआ पर धीरे-धीरे यह व्यापक हो गई। पति के मरने पर विधवाएँ उसी के साथ चिता पर भस्म हो जाती थीं। राजपूत-

काल में इस प्रथा के कई उदाहरण मिलते हैं। मध्य-काल में भी यह प्रचलित थी। अकबर ने इसे रोकने का प्रयत्न किया। पर वह सफल न हो सका। १८२९ ई० में लार्ड विलियम बेंटिंक ने इस प्रथा को अवैध घोषित कर दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से यह प्रथा बन्द हो गई।

वर्तमान काल में स्त्रियों की दशा—वर्तमान काल में पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव और कुछ प्राचीन भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के कारण समाज में उदार विचार आ गये हैं। स्त्रियों को पुरुषों के समान ही राजनैतिक और सामाजिक अधिकार मिल गये हैं। स्त्री-शिक्षा में भी प्रगति हो रही है। १९५५ ई० के हिन्दू मैरिज ऐक्ट द्वारा विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद कुछ परिस्थितियों में वैध मान लिया गया है। इससे स्त्रियों पर पुरुषों का अनुचित बन्धन नहीं रह जायगा। विवाह के सम्बन्ध में भी पर्याप्त स्वतंत्रता मिल गई है। १९५६ ई० के हिन्दू सक्सेशन (उत्तराधिकार) ऐक्ट ने उन्हें कुटुम्ब की संपत्ति में भी अधिकार प्रदान कर दिया है। इन सब से स्त्री-दशा में उत्तरोत्तर सुधार होने की संभावना है।

सामुदायिक जीवन

वर्तमान संस्कृति के निर्माण में पारस्परिक सहयोग और सामुदायिक सक्रियता का बहुत बड़ा हाथ रहा है, किसी राष्ट्र के सामुदायिक जीवन के विविध रूप उसके सांस्कृतिक स्तर के द्योतक होते हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति में भी हम सामुदायिक जीवन का विकसित रूप पाते हैं। सामुदायिक जीवन के ये रूप आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होते हैं।

आर्थिक क्षेत्र में सामुदायिक जीवन के रूप—आर्थिक क्षेत्र में सामुदायिक जीवन का विशिष्ट विकास व्यापारियों और कारीगरों की संस्थाओं में हुआ था। पणि, गण और श्रेष्ठि शब्द वैदिक और उत्तर-वैदिक-काल के साहित्य में आते हैं। विद्वानों के अनुसार पणि व्यापारियों की संस्था थी। गण कारीगरों की संस्था को कहते थे और श्रेष्ठि इस गण का अध्यक्ष होता था। इससे ज्ञात होता है कि लगभग ८०० ई० पू० तक ये संस्थायें अस्तित्व में आ चुकी थीं। बौद्ध-जातकों (७वीं-६वीं श० ई० पू०) और प्राचीन धर्म-सूत्रों में भी श्रेणियों के उल्लेख आते हैं। अनेक प्राचीन अभिलेखों में भी श्रेणि शब्द-आता है। ये श्रेणियाँ एक ही व्यवसाय या उद्योगवालों की संस्थायें होती थीं। बौद्ध-जातकों में १८ श्रेणियों के नाम आते हैं। ये जुलाहों, किसानों, कुम्हारों, चर्मकारों, तेलियों आदि की श्रेणियाँ थीं। इन श्रेणियों की व्यवस्था पर इन ग्रन्थों से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

धर्मशास्त्रों, मनुस्मृति, नारद-स्मृति और बृहस्पति-स्मृति में श्रेणि या श्रेणियों की व्यवस्था विस्तारपूर्वक मिलती है। इससे प्रतीत होता है कि २०० ई० पू० से

७०० ई० के काल में इन संस्थाओं का पर्याप्त विकास हुआ। नासिक के एक अभिलेख (१२० ई०) में कुम्हारों की श्रेणि का उल्लेख है। मन्दसोर के एक अन्य अभिलेख (पाँचवीं शताब्दी) में जुलाहों की श्रेणि के सम्बन्ध में ज्ञातव्य सामग्री मिलती है।

श्रेणियों की व्यवस्था—ऊपर कहा जा चुका है कि श्रेणियों के अध्यक्ष या नेता होते थे। कभी-कभी उन्हें श्रेष्ठिन् या सेट्ठि कहते थे। अध्यक्ष को सार्थवाह (व्यापारियों के कारवाँ का नेता), प्रथम कुलिक (कारीगरों का प्रधान), ज्येष्ठक या मुख्य (सर्वप्रधान) भी कहते थे। पालि ग्रन्थों से पता चलता है कि अध्यक्ष को सलाह देने के लिए एक सभा भी होती थी। कभी-कभी अध्यक्ष का पद वंशानुगत होता था। श्रेणियाँ बैंक का भी कार्य करती थीं। इनको न्याय का भी अधिकार था अर्थात् अपने सदस्यों के सम्बन्ध में ये न्याय-कार्य भी करती थीं। उन पर आवश्यक कर भी लगाती थीं। ये नाप-तोल, वस्तुओं का मूल्य एवं मजदूरी भी निश्चित करती थीं। श्रेणियाँ अपने सदस्यों के सामाजिक जीवन को भी नियंत्रित करती थीं, विधवाओं और अनाथों की रक्षा का प्रबन्ध करती थीं तथा दान भी देती थीं। श्रेणियों के पास सैन्य-शक्ति भी थी और इस कारण कभी-कभी ये राज्य की निरंकुशता का विरोध भी कर सकती थीं। श्रेणियों के नियमों (श्रेणिधर्म) को राज्य भी मान्यता प्रदान करता था। ये श्रेणियाँ मध्ययुगीन योरुप के गिल्ड्स (Guilds) की तरह थीं। ये धीरे-धीरे जातियों के रूप में परिणत होने लगीं। श्रेणियों की सामूहिक भावना के कारण व्यवसायों और उद्योगों में विशेष कुशलता आती थी और उनके सदस्यों के हित सुरक्षित रहते थे।

हर्षोत्तर काल में एवं बाद तक भी श्रेणियों के उल्लेख उत्तरी एवं दक्षिणी भारत के अनेक अभिलेखों में आते हैं। उत्तरी भारत में राजपूत काल में सामन्तवाद के उदय के कारण श्रेणियों की शक्ति का ह्रास हो गया था, पर दक्षिण भारत में ये उन्नति करती रहीं। बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में दक्षिणी भारत में व्यापारियों और कारीगरों की श्रेणियाँ विद्यमान थीं। बहुत से अभिलेखों में उनके दान-कार्य का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार १२०४ ई० के वेलगाम अभिलेख से ज्ञात होता है कि ५०५ व्यापारियों की एक संस्था ने धर्म-कार्य में बहुत-सा धन दान दिया। मध्यकाल में श्रेणियाँ जातियों के रूप में परिणत हो चुकी थीं और उनमें पारस्परिक वैमनस्य के भी उदाहरण मिलते हैं।

वर्तमान काल में वही श्रेणियाँ विभिन्न जातियों के रूप में विद्यमान हैं। आजकल मजदूरों और कर्मचारियों के बहुत से अन्य संघ बन गये हैं जैसे डाकसंघ, रेल कर्मचारी संघ, इत्यादि।

साझेदारी—श्रेणियों के अतिरिक्त प्राचीन काल में व्यापारिक क्षेत्र में सामुदायिक जीवन के अन्य रूप भी मिलते हैं। जातकों, अर्थशास्त्र एवं स्मृतियों से ज्ञात होता है कि कई व्यापारी मिलकर साझेदारी के द्वारा भी व्यापार करते थे। कई आदमी अपनी-

अपनी सम्पत्ति लगाकर-व्यापार में साझेदार बन जाते थे और उसी अनुपात से व्यापार के लाभ में भी उनका भाग होता था।

व्यापारियों के संघ—व्यापारियों के संघों (Leagues) का भी उल्लेख जातकों में आता है। बहुत से व्यापारी मिलकर एक साथ व्यापार करने जाते थे। वला-हस्स जातक की एक कथा में ५०० व्यापारी अपना एक नेता चुनते थे और उसकी अध्यक्षता में जलमार्ग द्वारा लंका की यात्रा करते थे।

राजनैतिक क्षेत्र में सामुदायिक जीवन—राजनैतिक क्षेत्र में सामुदायिक जीवन का रूप राज्य के स्वरूप पर निर्भर रहता है। यदि राजतन्त्र रहा तो सामुदायिक जीवन की अभिव्यक्ति राजकार्य में सहायता और राजा के ऊपर वैधानिक नियन्त्रण की स्थापना में होती है। गणतन्त्र में सामूहिक जीवन का लक्ष्य स्वयं-शासन-संचालन होता है।

सबसे पहले हम राजतन्त्र के सामुदायिक जीवन पर विचार करेंगे। इस संबंध में राजा के निर्वाचन की प्रथा, जो वैदिक काल में किसी न किसी रूप में थी, महत्त्व-पूर्ण है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में राजा के निर्वाचन की प्रथा की झलक मिलती है। कुछ जातक-कथाओं, रामायण और महाभारत में भी हमें राजा के निर्वाचन का वर्णन मिलता है। रामायण के अयोध्याकाण्ड से मालूम होता है कि दशरथ ने राम के राज्या-भिषेक के लिए नगरों और ग्रामों के प्रमुख व्यक्तियों को आमंत्रित किया था। एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि बंगाल में पाल राजवंश के संस्थापक गोपाल को जनता ने चुना था। पर बाद के काल में राजाके निर्वाचन की प्रथा राजपद के वंशानुगत होने के कारण कम होती गई।

वैदिक काल में राजकार्य में सहायता एवं राजा के ऊपर नियन्त्रण के लिए सभा और समिति थी। अथर्ववेद में आता है कि सभा और समिति प्रजापति की दो पुत्रियाँ थीं। सभा छोटी होती थी और इसका सम्बन्ध अधिकतर न्याय-कार्य से होता था। समिति जन-साधारण की होती थी और इसके राजनैतिक कार्यों का क्षेत्र विस्तृत था। वैदिक काल के बाद राजा की शक्ति बढ़ने के कारण सभा और समिति का ह्रास हो गया। सभा का उल्लेख बाद के ग्रन्थों में भी आता है, पर बाद में इसका रूप स्थायी नहीं रह गया। इसके बाद प्रायः मंत्रिपरिषद् अर्थात् राजमंत्रियों की सभा राजकार्य में सलाह देने के लिए रह गई। राजपूत काल में जब सामन्तवाद का विकास हुआ तो सामन्तों की सभा का उदय हुआ। इसकी शक्ति के सामने राजा को भी झुकना पड़ता था।

ग्राम

राजतन्त्र में भी स्थानीय शासन में सामुदायिक सक्रियता अत्यधिक मात्रा में विद्यमान थी। ग्राम शासन की सबसे छोटी इकाई था। ऋग्वेद में भी ग्राम शब्द आता है। ग्राम का नेता ग्रामणी कहलाता था। ग्राम का अर्थ समूह होता है।

कई कुलों के समूह को ग्राम कहते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि पहले इधर-उधर विचरण करनेवालों के समूह थे और जब वे स्थान-स्थान पर बस गये तो ग्राम कहलाये। उत्तर-वैदिक-काल में पूग और गण, गाँवों और नगरों के स्थानीय संघ थे। जातकों में गाम-भोजक का नाम आता है। यह गाँव का मुखिया होता था। अर्थशास्त्र और मनु-स्मृति से भी यही ज्ञात होता है कि ग्राम सामुदायिक तथा राजनैतिक इकाई के रूप में थे। पूग और गण का नाम धर्म-शास्त्रों में भी आता है।

ग्राम-संघ के न्याय सम्बन्धी अधिकार—जातकों से ज्ञात होता है कि ग्राम-संघ के पास न्याय-सम्बन्धी और कार्य-सम्बन्धी अधिकार थे। इन अधिकारों को प्रायः गामभोजक कार्यान्वित करता था। परन्तु ग्राम के सभी लोग इन कार्यों में सहयोग देते थे। मनु ने भी ग्राम के मुखिया के न्याय सम्बन्धी अधिकारों का उल्लेख किया है। ग्रामसभायें इस प्रकार न्यायालय का कार्य करती थीं। कारीगरों की श्रेणियों के निर्णय पर पुनर्विचार का इन्हें अधिकार था। बहुत बड़े अपराध को छोड़कर अन्य सभी मामलों का निर्णय ग्रामसभाओं के न्यायालय में होता था। नारद-स्मृति में ग्रामसभाओं के न्याय-कार्य को सुचारु रूप से चलाने का विधान है। दक्षिणी भारत के कुछ अभिलेखों से भी ग्रामसभाओं की न्याय-व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। कुछ अन्य अभिलेखों में 'पञ्चमण्डली', 'पाञ्चाली' और 'पाञ्चालिका' शब्द आते हैं। ये आजकल की पंचायत के ही प्राचीन रूप माने जाते हैं।

ग्राम-संघ के कार्य—ग्राम का मुखिया ग्राम के प्रमुख व्यक्तियों की सहायता से कर वसूल करता था। स्थानीय लोगों की सहायता से शान्ति भी स्थापित करता था और ग्राम की रक्षा डाकुओं से करता था। ग्रामसभाओं के ये कार्य बाद के समय तक चलते रहे। बृहस्पति-स्मृति में ग्रामसभा के कर्त्तव्य विस्तारपूर्वक मिलते हैं। सभा अपने लिए एक भवन बनवाती थी, यात्रियों के लिए भी प्रबन्ध करती थी, उद्यान और सरोवर का निर्माण कराती थी, गरीबों की सहायता करती थी तथा कुएँ, तालाब और बाँध बनवाती थी। इन सबका व्यय सामुदायिक कोष से आता था। ग्राम-सभायें कर लगा सकतीं थीं और जुर्माने भी वसूल कर सकती थीं। उनके पास सामुदायिक सम्पत्ति भी होती थी।

ग्राम-संघ की कार्य-कारिणी—ग्राम-संघ की कार्य-कारिणी का अध्यक्ष गाँव का मुखिया होता था जिसे ग्रामणी, ग्राम-भोजक, ग्रामाधिप, ग्रामकूट, ग्रामपति, पट्टकिल आदि नामों से सम्बोधित किया जाता था। बहुत से अभिलेखों में भी ये शब्द आते हैं। कभी-कभी राजा उसकी नियुक्ति करता था और कभी-कभी यह पद वंशानुगत भी होता था। ग्राम-संघ के वैधानिक अधिकार नारद और बृहस्पति-स्मृति में विस्तार-पूर्वक मिलते हैं। ये अधिकार वही थे जो श्रेणियों के थे। गाँव का मुखिया एक सभा की सहायता से सब कार्य करता था। पर गाँव के सब लोग भी समय-समय पर इकट्ठे

होते थे, जिनके प्रति मुखिया और उसकी सभा उत्तरदायी होते थे। सभा का एक भवन होता था। सभा में लोग स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विचारों को व्यक्त करते थे। ग्रामसभा का हिसाब रखने के लिए ग्राम-दिविर या ग्राम-कायस्थ रहता था। अभिलेखों में ग्राम-महत्तर और ग्राम-महत्तम शब्दों का उल्लेख आता है। इनका हाथ स्थानीय शासन में काफी रहता था। उन्हें राज्य की ओर से भी मान्यता प्राप्त थी। कभी-कभी गाँव का मुखिया अत्याचारी भी हो जाता था।

राजपूत काल—राजपूत काल में उत्तरी भारत में ग्राम संघों की प्राचीन व्यवस्था का रूप बदलने लगा। सामन्तवाद के उदय के कारण छोटे-छोटे सामन्त सरदार, जिन्हें राजपुत्र या राजपूत कहते थे, गाँवों के स्वामी होने लगे और वही शासन का सब कार्य सामन्तवादी ढंग से करने लगे। इस प्रकार सामूहिक जीवन का ह्रास हो गया। जो सामन्त जितने अधिक ग्राम के स्वामी होते थे वे उतने ही बड़े माने जाते थे। शुक्रनीति नामक ग्रन्थ और अनेक अभिलेखों से इस अवस्था का ज्ञान होता है। परन्तु गुजरात और राजपूताने के अभिलेखों में 'पञ्चकुल' नामक ग्रामसभा का उल्लेख मिलता है। यह पञ्चकुल राजाज्ञाओं को घोषित कराता था और ग्राम की भूमि के दान, क्रय और विक्रय को मान्यता प्रदान करता था। पर पंचकुल की भी शक्ति सामन्त सरदारों के प्रभाव से कम हो चली थी। जैसा कि कश्मीर के इस युग के ग्रन्थों से ज्ञात होता है, ग्राम का हिसाब-किताब रखने के लिये ग्राम-दिविर और ग्राम-कायस्थ इस काल में भी थे; ये आजकल के पटवारी या लेखपाल की भाँति होते थे।

दक्षिणी भारत में ग्राम-संघ—वास्तव में उत्तर भारत में ग्राम-संघ की व्यवस्था के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अल्प ही है। दक्षिण भारत की ग्रामसभाओं की व्यवस्था एवं गतिविधि पर चोल अभिलेखों से समुचित प्रकाश पड़ता है। चोलों का शासन-काल दक्षिण में नवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी के मध्यकाल तक रहा।

गाँव की सभाओं का संगठन—चोल अभिलेखों से ज्ञात होता है कि गाँव की सभाएँ ऊर कहलाती थीं जिनमें गाँव के निवासी आवश्यकतानुसार इकट्ठे होते थे। ब्राह्मणों के गाँवों की सभा को महासभा कहते थे। महासभा में सदस्यों की संख्या ग्राम की आबादी के अनुसार रहती थी। एक गाँव की सभा में १००० सदस्य थे। कहीं-कहीं सभा-भवन भी रहते थे। पर प्रायः लोग मन्दिर या पेड़ के नीचे इकट्ठे होते थे।

गाँव की सभा के अतिरिक्त शासन-कार्य के लिए कमेटियाँ भी होती थीं। दान-कार्य, तालाबों, उद्यानों, खेतों और मन्दिरों के प्रबन्ध के लिए तथा रक्षा आदि के लिए अलग-अलग कमेटियाँ थीं। इसके अतिरिक्त प्रमुख व्यक्तियों की एक कमेटी अलग होती थी जो शासन के कार्य-विवरण रखती थी। इन कमेटियों में बच्चे, बूढ़े एवं कभी-कभी स्त्रियाँ भी होती थीं।

कमेटियों का चुनाव—इन समीतियों के निर्वाचन के लिए नियम बने हुए

थे। ग्राम कई क्षेत्रों में विभक्त रहता था। प्रत्येक क्षेत्र के लोग मिलकर चुनाव के लिए उम्मीदवारों के नामों की तालिका बनाते थे। प्रायः ३५ और ७० वर्ष के बीच की आयुवाले ईमानदार, योग्य एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति ही उम्मीदवार हो सकते थे। पहले सब उम्मीदवारों के टिकट एक बरतन में डालकर मिला दिये जाते थे। फिर एक बालक उन्हें एक-एक करके निकालता था। असावधानी और बेईमानी करने पर सदस्य कमेटियों से निकाल दिये जाते थे। पहले सदस्य २७ वर्ष के लिए ही निर्वाचित होते थे।

ग्रामसभाओं के अधिकार एवं कर्त्तव्य—दक्षिणी भारत में ग्रामसंघ शासन के प्रायः सभी कार्य करता था। उसके पास सामूहिक सम्पत्ति रहती थी जिसे वह सार्वजनिक कार्य के लिए बेच भी सकता था। उसके पास पर्याप्त न्याय-शक्ति भी थी। बड़े अपराधों का फैसला वह नहीं कर सकता था, पर छोटे अपराध, गाँव के सीमा सम्बन्धी विवाद इत्यादि के मामले ग्रामसंघ की ही अदालत में निर्णीत होते थे। सामूहिक दान का भी अधिकार उसे था। ग्रामसंघ कर और चुंगी भी लगाता था और बाजार के मूल्य भी नियत करता था। यह गाँव के निवासियों से बेगार भी करा सकता था; निर्माण-कार्य, सिंचाई और सड़कों की भी देखभाल ग्रामसंघ ही करता था। ऊपर कहा जा चुका है कि विशेष कार्य कमेटियों के हाथ में रहते थे। अकाल के समय ग्रामसभा लोगों को आर्थिक सहायता भी देती थी। भिक्षा का प्रबन्ध भी उसके ही हाथ में था। वह केन्द्रीय सरकार का कर भी वसूल करती थी। ग्रामसंघ का ग्राम की भूमि पर समुचित अधिकार था और आन्तरिक मामलों में राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। राज्य के कर्मचारी उसका हिसाब-किताब देखते थे। प्रत्येक राजाज्ञा, जिस ग्राम से सम्बन्धित होती थी उसकी ग्रामसभा में स्वीकृति के लिए जाती थी। राजा और ग्राम-सभा के सम्बन्ध प्रायः ठीक ही रहते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रामों का सामुदायिक जीवन भारतीय संस्कृति की विशिष्टता रही है। अधिकतर जनता गाँवों में ही रहती थी, और गाँवों की स्वायत्त-शासन-प्रणाली भारतीय प्रतिभा की उच्चता को प्रमाणित करती है। मध्य-युग में भी यह प्रणाली किसी न किसी रूप में विद्यमान रही। आजकल पंचायतों की व्यवस्था द्वारा उस प्राचीन आदर्श की पुनःप्रतिष्ठा की गयी है, पर शिक्षा की कमी अभी स्वायत्त-शासन के मार्ग में एक बाधा के रूप में है।

नगर

धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रों से ज्ञात होता है कि नगरों में भी सामुदायिक जीवन का विविध रूपों में विकास हुआ था। गण और पूग आदि संस्थायें नगरों में भी होती थीं। याज्ञवल्क्य स्मृति में निगम का नाम आता है जो नगर में व्यापारियों की संस्था थी। प्रयाग के पास भीटा नामक स्थान से प्राप्त एक मुहर पर 'सहिजितिये

निगमस' लेख मिला है जो दूसरी या चौथी शताब्दी की लिखावट में है। कुषाण और गुप्तकाल की मुहरों पर भी निगमों का उल्लेख है। राजपूत काल के भी अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कुछ नगरों में स्वायत्त-शासन के रूप विद्यमान थे।

अन्य सामुदायिक सभायें

ग्राम और नगरों के अतिरिक्त और बड़े क्षेत्रों की भी सामुदायिक सभायें थीं। चोल अभिलेखों से ज्ञात होता है कि जिलों की भी सभायें होती थीं। कुछ ग्रन्थों में पौर और जानपद का भी उल्लेख आता है। पर कुछ विद्वान् इसे पुर और नगरों की सभायें कहते हैं। कुछ अभिलेख भी इनकी पुष्टि करते हैं। पर पौर और जानपद की सभायें स्थायी सभायें नहीं थीं, न व्यापक रूप में इनका अस्तित्व ही था।

गणराज्यों का सामुदायिक जीवन--राजनैतिक क्षेत्र में सामुदायिक जीवन का उन्नत रूप हम प्राचीन गणराज्यों में पाते हैं। गणराज्यों के बीज वैदिक काल तक जाते हैं। बौद्ध-जातकों से हमें बहुत से गणराज्यों के अस्तित्व का पता चलता है। एक गणराज्य शाक्यों का था जो वर्तमान नेपाल की दक्षिणी सीमा पर था और जहाँ भगवान् बुद्ध उत्पन्न हुए थे। उसी काल में सबसे शक्तिशाली गणराज्य वज्जियों का था जिसमें लिच्छवि जाति भी सम्मिलित थी। एक बौद्ध-परम्परा के अनुसार इनकी सभा में ७७०७ राजा या परिवारों के अध्यक्ष थे। जैनसूत्रों से पता चलता है कि ३६ सरदारों की एक अन्तरङ्ग सभा भी थी जिसमें लिच्छवि, मल्ल आदि जातियों के लोग थे। सम्पूर्ण संघ का एक कार्याध्यक्ष होता था जो जीवन भर के लिए चुना जाता था। यूनानी लेखकों के विवरणों से भी ज्ञात होता है कि उत्तर-पश्चिम-भारत में सिकन्दर के आक्रमण के समय बहुत से गणराज्य विद्यमान थे। अर्थशास्त्र में भी गणराज्यों का उल्लेख है। पर स्मृतियों में राजतन्त्र को ही मान्यता प्रदान की गई है। यौधेय आदि बहुत से गणराज्य चौथी शताब्दी तक विद्यमान थे जिन्हें समुद्रगुप्तने जीता था। इस प्रकार मौर्यों एवं गुप्तों की साम्राज्यवादी नीति के कारण गणराज्यों का पतन होने लगा। राजपूत काल में जब सामन्तवाद का उदय हुआ तो राजपूताना के कुछ गण राजपूत जातियों में परिणत हो गये होंगे।

संघों का विधान एवं संगठन--संघ गणराज्यों के संगठन एवं विधान के सम्बन्ध में अधिक नहीं ज्ञात है। फिर भी प्रत्येक संघ में सम्पूर्ण राज्य क्षेत्रों में विभक्त था। प्रत्येक क्षेत्र शासन की इकाई था और आन्तरिक शासन में स्वतन्त्र था। इन क्षेत्रों के अध्यक्षों की एक महासभा होती थी। इस महासभा का एक सभापति होता था। यदि सभा बड़ी होती थी तो एक छोटी कार्यकारिणी सभा भी रहती थी जिसमें उसी सभा के चुने हुए सदस्य रहते थे। सभा में छोटे और बड़े सभी लोग रहते थे और संथागार में उसकी बैठक होती थी। छठवीं शताब्दी ई० पू० में भगवान् बुद्ध

ने भी लिच्छिवियों की इस सभा की प्रशंसा मुक्त-कण्ठ से की थी। सभाओं के अधिवेशन और कार्यक्रम जनतन्त्रीय ढंग पर होते थे। शाक्यों की सभा के अधिवेशन के सम्बन्ध में बौद्ध-ग्रन्थों से कुछ प्रकाश पड़ता है। सभा में सदस्यों की एक निश्चित संख्या आवश्यक होती थी। इस प्रकार कोरम-पूर्ति की वर्तमान प्रथा का रूप भी विद्यमान था। किसी प्रस्ताव का पहले एक से तीन बार तक पाठ होता था फिर उसपर स्वतंत्रतापूर्वक वाद-विवाद होता था। मतगणना लकड़ी की शलाकाओं द्वारा होती थी। मताधिक्य से कोई प्रस्ताव पास होता था। एक लेखक अधिवेशन की कार्यवाही का लेखा भी रखता था।

न्याय-कार्य के सम्बन्ध में लिच्छवि संघ की प्रथा उल्लेखनीय है। अभियुक्त क्रमशः ६ न्यायाधिकारियों द्वारा परीक्षित होता था। जब सभी के अनुसार वह दोषी ठहराया जाता था तो उसे एक लिखित दण्ड-विधान (पवेनु पोत्थक) के अनुसार दण्ड मिलता था। सबसे पहले अभियुक्त विनिचय महामत्त के न्यायालय में जाता था। अन्तिम न्यायालय राजा का था। प्रत्येक न्यायालय अभियुक्त को अपराध न सिद्ध होने पर मुक्त कर सकता था, पर जब उसे अपराधी पाता था तो दण्ड नहीं दे सकता था। अपितु अपने से ऊँचे न्यायालय को भेज देता था। इस प्रकार व्यक्ति की स्वतंत्रता सुरक्षित रहती थी और वह अनुचित रूपसे दण्डित नहीं हो सकता था। विश्व के इतिहास में न्याय की ऐसी व्यवस्था बहुत कम मिलती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जनतंत्रीय व्यवस्था, जो आज के युग का आदर्श मानी जाती है, प्राचीन भारत में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान थी।

धार्मिक क्षेत्र में सामुदायिक जीवन की अभिव्यक्ति—बौद्ध-ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि छठवीं शताब्दी ई० पू० के काल में श्रमण तपस्वियों, परिव्राजकों, आजीविकों और निर्ग्रन्थों के धार्मिक संघ विद्यमान् थे। भगवान् बुद्ध ने भी संघ की स्थापना की। संभवतः वे इस कार्य में अपने युग के श्रमण-तपस्वियों और मुनियों के संघों एवं राजनैतिक संघों से प्रभावित हुए होंगे। विद्वानों का मत है कि बौद्ध-संघ में भारतीय धार्मिक क्षेत्र के सामुदायिक जीवन की उच्चतम अभिव्यक्ति मिलती है।

बौद्ध-संघ के सदस्य १५ वर्ष के ऊपर की आयु के सभी स्त्री-पुरुष हो सकते थे। जाति या वर्ग का कोई भेद-भाव नहीं था। संघ में आने के बाद विशेष-अनुशासन को मानना पड़ता था। बौद्ध-संघ के अन्तर्गत बहुत से स्थानीय संघ थे। कोई केन्द्रीय संस्था नहीं थी जो इन स्थानीय संघों को व्यवस्थित करती। पर जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, समय-समय पर संघ की महासभायें होती थीं जिनमें विवादग्रस्त प्रश्नों पर विचार होता था। स्थानीय संघों की व्यवस्था जनतंत्रीय ढंग पर थी। । प्रायः गणराज्यों की ही व्यवस्था संघ में भी मिलती है। भिक्षु मठ में रहते थे। धर्म और अनुशासन सम्बन्धी प्रश्नों पर सभा में वोट द्वारा निर्णय किया जाता था। सभा में प्रायः लोग उपस्थित

रहते थे और अनुपस्थित होने पर अपनी सम्मति भेज देते थे। मठ के प्रबन्ध के लिए वे आपस में ही अधिकारी नियुक्त कर लेते थे। भिक्षुओं की सभा महीने के प्रत्येक पक्ष में ८वें, १४वें और १५वें दिन होती थी। इसमें प्रत्येक अपने दोषों को स्वीकार करते थे। जो दोषी रहते थे उनका न्याय होता था। वर्षा की ऋतु में ही भिक्षु एक स्थान पर तीन महीने रहते थे।

धर्मसंघों की प्रथा भारतीय इतिहास में बाद तक चलती रही। वैष्णवों और शाक्तों के संघ दक्षिणी भारत में राजपूत काल में बने। हिन्दूधर्म के मन्दिर धार्मिक सामुदायिक जीवन के केन्द्र थे जो मध्यकाल में भी विद्यमान थे। जैनों के भी मठ राजपूत काल में देश के अनेक भागों में उन्नति कर रहे थे। शंकराचार्य ने नवीं शताब्दी में जिन मठों की स्थापना की वे आजकल विद्यमान हैं। मध्यकाल में बहुत से अन्य धर्मों की भी उत्पत्ति हुई।

सामाजिक क्षेत्र में सामुदायिक जीवन के रूप—सामाजिक क्षेत्र में सामुदायिक जीवन की अभिव्यक्ति, कुटुम्ब-संगठन और वर्ण-व्यवस्था में दृष्टिगोचर होती है। इनके सम्बन्ध में ऊपर विचार किया जा चुका है।

पठनीय सामग्री

Jolly, Hindu Law and Customs
Prabhu, P. N., Hindu Social Organization
Kane, P. V., History of Dharmashastra
Hutton, J. H , Caste in India
Apte, V. M., Social & Religious Life in Grihyasutras
Agarwal, V. S., India as known to Panini
Fick, Richard., Social Organisation in N. E. India in Buddha's Time
Majumdar, R. C., Corporate life in Ancient India
Altekar, A. S., Position of Women in Ancient India
Pande, G. C., Studies in the Origins of Buddhism
Shastri, Shakuntla R , Women in the Sacred Laws
Shastri, Shakuntla R., Women in the Vedic Age
Munshi. K. M. (ed.), Indian Inheritence, Vol. III
Munshi, K. M. (General Ed.), Vedic Age
,, ,, ,, Age of Imperial Unity
,, ,, ,, Classical Age
,, ,, ,, Struggle for Empire
Raichaudhury & others, Advanced History of India
Panikkar, K. M., Hindu Society at Cross Roads
Garratt, G. T. (ed.) The Legacy of India (Oxford, 1938)

अध्याय ३

प्राचीन शिक्षा-पद्धति

प्राचीन शिक्षा-पद्धति के उद्देश्य— पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्म-कथा में एक स्थल पर भारतीय संस्कृति के विषय में कहा है कि ज्ञान की खोज ही इसकी प्रमुख विशेषता है। लेकिन साथ ही यह बात भी स्मरणीय है कि भारतीय 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग सांसारिक ज्ञान तक सीमित नहीं रखते थे। भारतीयों ने मानव-जीवन और संसार की गुत्थियों को सुलझाने, संसार के वास्तविक स्वरूप को समझने और जीवन-मरण की जटिल समस्याओं और आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये सदा प्रयत्न किया। भारतीय शिक्षा-पद्धति का विकास भी भारतीय संस्कृति के इसी प्रमुख उद्देश्य को सामने रख कर किया गया। आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझना ही मोक्ष का प्रधान साधन है। भारतीय विचारधारा में मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ बतलाया गया है। इसीलिये उसी विद्या को सफल माना गया है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो सके—सा विद्या या विमुक्तये (सुभाषित रत्न-भाण्डागार)। शिक्षा से मनुष्य को प्रकाश मिलता है। ज्ञान मनुष्य के लिये तीसरे नेत्र के समान है। जिसके पास ज्ञान की ज्योति नहीं है वह नेत्रविहीन-सा है। ज्ञान से अनेक संशयों का छेदन होता है और मनुष्य परोक्ष का भी दर्शन कर सकता है। इसीलिये विद्याहीन मनुष्य को पशु बतलाया गया है—विद्या-विहीनः पशुः (नीतिशतक)। बिना विद्या प्राप्त किये मनुष्य विप्र का पद नहीं पा सकता, वह केवल शूद्र या अधिक से अधिक द्विज ही कहलायेगा।

किसी प्राचीन ग्रन्थ में भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति के उद्देश्यों का आधुनिक शिक्षा-सिद्धान्त के अनुसार वर्णन नहीं मिलता। फिर भी विभिन्न उल्लेखों से हम यह समझ सकते हैं कि शिक्षा-पद्धति के पीछे क्या लक्ष्य, ध्येय अथवा आदर्श थे।

भारतीय शिक्षा केवल पुस्तक में निहित ज्ञान तक ही सीमित नहीं थी। शिक्षा तभी सार्थक है जब उससे विद्यार्थी में विवेक-बुद्धि बढ़े और उसे कार्य करनेमें सफलता मिले।

इसी प्रकार से शिक्षा केवल जीविकोपार्जन का साधन नहीं थी। सच्ची विद्या होने पर मनुष्य को उदरपूर्ति की चिन्ता न होनी चाहिये।

शिक्षा का आदर्श चरित्र का निर्माण था। नैतिक भावना का विकास करके मनुष्य के चरित्र को उदात्त और महान् बनाना भारतीय शिक्षा-पद्धति का एक प्रमुख उद्देश्य था। मनुस्मृति में एक स्थान पर कहा गया है कि केवल सावित्री-

मन्त्र को ही जाननेवाला विप्र यदि चरित्रवान् है तो अच्छा है, किन्तु अपने जीवन, खान-पान और स्वभाव में अनियंत्रित विप्र तीन वेदों का ज्ञाता होने पर भी अच्छा नहीं है। चरित्र के निर्माण के लिये उपदेशों के अतिरिक्त निरन्तर संयम और अनुशासन के जीवन का प्रभाव और राष्ट्रीय महापुरुषों के जीवन का आदर्श भी प्रयुक्त होता था। भारतीय शिक्षा-पद्धति को अपने इस ध्येय में आशातीत सफलता मिली। मेगस्थनीज, ख्वानच्वांग और मार्कोपोलो जैसे निष्पक्ष विदेशी यात्रियों ने अपने वर्णनों में भारतीयों की सचरित्रता और उच्च नैतिक जीवन की सराहना की है।

भारतीय-शिक्षा विद्यार्थी के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना चाहती थी। उसके व्यक्तित्व को दबाया नहीं जाता था बल्कि पूर्ण विकास का अवसर दिया जाता था। उसकी शारीरिक और बौद्धिक शक्तियों के समान विकास की ओर ध्यान दिया जाता था। मानसिक शक्तियों के विकास के लिये स्वस्थ शरीर का महत्त्व समझा जाता था। विद्यार्थी में आत्म-सम्मान की भावना बढ़ाई जाती थी। वह देश की संस्कृति का रक्षक था। उसका महत्त्व इतना अधिक था कि राजा उसे अपने से ऊँचा स्थान देता था। विद्यार्थी का आत्मविश्वास भी बढ़ाया जाता था। उपनयन के समय उसे बतलाया जाता था कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति में वह दैवी-शक्तियों की सहायता पायेगा। भिक्षावृत्ति के द्वारा वह अपनी सहायता स्वयं करता था। भविष्य की आशंका से उसमें नैराश्य नहीं उत्पन्न होता था। उसकी आवश्यकतायें सीमित थीं और राज्य और समाज उनकी पूर्ति करते थे। विद्यार्थी के व्यक्तित्व के विकास के लिये उसमें आत्म-संयम और आत्म-अनुशासन की भावना को भी महत्त्व दिया जाता था। विद्यार्थी का जीवन हर प्रकार से सीधा-सादा था। अच्छी आदतों के द्वारा उसे आत्म-संयम सिखाया जाता था। विद्यार्थी की विवेक और निर्णयात्मक बुद्धि की भी विकास का पूर्ण अवसर दिया जाता था।

शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी को उसके नागरिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का ज्ञान कराना भी था। समावर्तन संस्कार के अवसर पर गुरु दीक्षान्त-भाषण में इन सभी कर्त्तव्यों को बड़े प्रभावपूर्ण शब्दों में समझाता था। किसी भी व्यक्ति पर समाज के ऋण का बोध कराया जाता था। सन्तानोत्पत्ति और सन्तान को उचित शिक्षा देकर ही व्यक्ति समाज के प्रति अपने ऋण से उन्मुक्त होता है। मनुष्य को अपने स्वार्थ में ही लिप्त नहीं रहना चाहिये। पर-सेवा और पर-कल्याण के कार्य में भी उसके धन का समुचित भाग व्यय होना चाहिये।

शिक्षा सामाजिक सुख और कौशल की वृद्धि का भी ध्यान रखती थी। भारतीय समाज ने श्रम-विभाजन का सिद्धान्त स्वीकार किया था। इसीलिये भारतीय शिक्षा-पद्धति ने अपने सम्मुख यह उद्देश्य रखा था कि बिभिन्न उद्योग, व्यवसाय और विद्या

को नई पीढ़ी के लोगों में भली-भाँति विभाजित कर सके। समाज की सभी प्रकार की क्रियाओं के लिये लोगों को शिक्षा देने का उद्देश्य प्राचीन भारत में था।

शिक्षा देश की संस्कृति के संरक्षण और परिवर्धन का प्रमुख माध्यम है। शिक्षा के द्वारा ही देश की सांस्कृतिक चेतना और स्मृति का अस्तित्व बना रहता है। जिस प्रकार से सहस्रों वर्षों से पिता-पुत्र और गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा भारतवर्ष में वेद और दूसरे ग्रन्थ जीवित रखे गये उसकी समता विश्व की किसी दूसरी सभ्यता में नहीं मिलती। इसी विधि से व्यावसायिक कुशलता की भी रक्षा की गई।

अब हमें यह देखना है कि इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किस प्रकार के पाठ्य-क्रम बनाये गये, कैसी व्यवस्थाएँ की गईं और कैसी संस्थाओं का विकास किया गया।

पाठ्य-विषय—समय की गति के साथ धार्मिक और साहित्यिक विकास के अनुसार प्राचीन काल में पाठ्य-विषयों और पुस्तकों में परिवर्तन हुए। पूर्व-वैदिक काल में स्पष्ट ही वेदों की ऋचाओं को पाठ्य-विषय के रूप में प्रमुखता मिली होगी। इनके अतिरिक्त इतिहास, पुराण और नाराशंसी गाथायें तथा छन्द-शास्त्र, ज्यामिति और खगोल विद्या का कुछ ज्ञान भी अपेक्षित था। उत्तर वैदिक युग में यज्ञ सम्बन्धी क्रियायें जटिल होती गईं और वेद-मंत्रों की आवश्यकता भी बढ़ती गई। इनके कारण ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हुई। ये भी पाठ्य-विषय बना लिये गये। व्याकरण का भी अध्ययन इस युग में प्रारम्भ हो गया था। उपनिषद् और सूत्रकाल में वैदिक मन्त्रों के उच्चारण में अशुद्धि की आशंका को दूर करने के लिये पद-पाठ, क्रम-पाठ, जटा-पाठ और घन-पाठ बनाये गये। वैदिक-साहित्य के अध्ययन को सरल बनाने के लिये ६ वेदाङ्गों का विकास किया गया। इनके नाम हैं—व्याकरण, शिक्षा, कल्प, ज्योतिष, छन्द और निरुक्त। वैदिक-साहित्य की उत्तरोत्तर वृद्धि के कारण यह आवश्यक हो गया कि कुछ विद्यार्थी केवल वेदों को याद करें और कुछ उनकी व्याख्या से सम्बन्धित विषयोंका अध्ययन करें। इस युग के अन्त की ओर कई कारणों से वैदिक-साहित्य के अध्ययन की लोक-प्रियता कम हो गई थी। इसी समय दर्शन, धर्म शास्त्र, रामायण और महाभारत, भाषा-विज्ञान, व्याकरण, खगोल विद्या, मूर्तिकला, वैद्यक और पोतनिर्माण की कला में भी महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। इस युग में व्यवसाय और उद्योग के लिये लाभदायक शिल्प और विद्या की शिक्षा का साहित्यिक अध्ययन के साथ सुन्दर समन्वय और सम्मिश्रण किया गया था। तक्षशिला में विद्यार्थियों को वेदों के साथ ही साथ १८ शिल्पों की भी शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार साहित्य का एक साधारण विद्यार्थी भी स्वतन्त्र जीविकोपार्जन में समर्थ होता था। छान्दोग्योपनिषद् में नारद कहते हैं कि उन्होंने वेद-वेदाङ्ग, इतिहास, पुराण, गणित, ज्योतिष, नक्षत्र-विद्या, सर्प-विद्या, दैव, निधि, वाकोवाक्य, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, राजशासन-विद्या और एकायन-विद्या का अध्ययन किया है। इससे उस युग की पाठ्य-सामग्री का ज्ञान होता है।

बाद के युग में पूर्व समय की तुलना में वैदिक-साहित्य के अध्ययन की लोकप्रियता कम होती गई। इस काल में विशिष्ट विषयों में विशेष अध्ययन और योग्यता प्राप्त करने को महत्त्व दिया जाता था। उच्च अध्ययन के विषयों में प्रमुख थे—व्याकरण, ज्योतिष, काव्य, स्मृति, पुराण और दर्शन। चीनी यात्री युवाङ्-च्वाङ् और इत्सिंग और प्रसिद्ध अरब विद्वान् अल्बेरुनी ने प्राचीन काल में शिक्षा के पाठ्य-विषयों का विशद वर्णन किया है। इनसे पता चलता है कि वैदिक अध्ययन अधिक महत्त्वपूर्ण और जनप्रिय नहीं रह गया था और व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, पुराण और साहित्य विशेष रूप से उच्च शिक्षा के विषय माने जाते थे।

प्राचीन ग्रन्थों में और विदेशी यात्रियों के वर्णनों में भी प्रायः पाठ्य-सामग्री का निर्देश करते समय ४ वेदों, ६ वेदांगों, १० ग्रन्थों, १४ विद्याओं, १८ शिल्पों और ६४ कलाओं का उल्लेख किया गया है। ४ वेद जैसा कि सर्वविदित है ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं। ६ वेदांगों के नाम हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष। १० ग्रन्थों में विद्यार्थी के स्वयं के वेद, उसके ब्राह्मण और आरण्यक के साथ निघण्टु और ६ वेदांगों की भी गणना होती थी। १४ विद्याओं से विशेषतः तात्पर्य ४ वेदों, ६ वेदांगों और धर्मशास्त्र, पुराण, मीमांसा और तर्क का होता था। १८ शिल्पों का उल्लेख तो कई स्थानों पर मिलता है किन्तु दुर्भाग्य से उनके नामों की कोई सूची प्राप्य नहीं है। संभवतः ये शिल्प थे[१]—

१. गायन, २. वादन, ३. नृत्य, ४. चित्रकला, ५. गणित, ६. गणना (Accountancy), ७. यंत्र (Engineering), ८. मूर्तिकला, ९. कृषि, १०. पशुपालन, ११. वाणिज्य, १२. चिकित्सा, १३. वकालत और विधि नियम (Conveyancing and Law), १४. शासन-प्रबंध संबंधी शिक्षण, १५. धनुर्विद्या और सैनिक शिक्षा, १६. जादू, १७. सर्प विद्या और विष दूर करना, १८. निधि (गड़े धन का पता लगाना)।

६४ कलाओं की सूची[२]—कामसूत्र, कादम्बरी, शुक्रनीतिसार, बौद्ध ग्रन्थ, ललितविस्तर और सूत्रालङ्कार के अतिरिक्त कुछ अन्य टीकाओं में भी उद्धृत की गई है। इनमें से कुछ कलायें पाक-विद्या से संबंधित हैं, कुछ स्त्रियों के अपने शरीर के प्रसाधन के विषय में हैं, कुछ संगीत, नृत्य और चित्रकला जैसी ललित कलायें हैं। कुछ कलाओं में घर को सुसज्जित करने की विद्या बतलाई गई है। गृहस्थी के लिये उपयोगी बातें जैसे सिलाई, घर के सामानों की मरम्मत आदि का भी इस सूची में समावेश है। कुछ कलाओं के माध्यम से विभिन्न प्रकार की साहित्यिक कुशलता की वृद्धि होती थी। कुछ में शारीरिक व्यायाम और अवकाश के समय का मनोरंजन में उपयोग करने की कल

१. Altekar, A. S., Education in Ancient India (Fifth Ed.) p. 329.
२. Mookerji, R. K., Ancient Indian Education, p. 353 ff.

सिखाई गई है। बच्चों के लिये खिलौना बनाना भी एक कला थी। विभिन्न मूल्यवान धातुओं की परीक्षा भी एक पृथक् कला थी।

शिक्षा-व्यवस्था

ब्रह्मचर्य-आश्रम और शिक्षा संबंधी संस्कार—भारतीय समाज का संगठन करने वाले विचारकों ने आश्रमों और संस्कारों के द्वारा पूरे समाज में शिक्षा के प्रसार का आदर्श प्रस्तुत किया। ब्रह्मचर्य-आश्रम की स्थापना शिक्षा ही के लिये हुई थी। मूलतः इसका शाब्दिक अर्थ है वेद का अध्ययन। इस आश्रम की कल्पना बड़ी प्राचीन है। अथर्ववेद में एक स्थल पर ब्रह्मचर्य के गौरव का निर्देश है। इससे प्रतीत होता है कि अथर्ववेद की रचनाकाल तक ब्रह्मचर्य-आश्रम प्रतिष्ठापित हो चुका था।

संस्कारों की व्यवस्था भी आश्रमों के आदर्शों से संबंधित और उनकी पूरक है। उपनयन संस्कार के द्वारा ही ब्रह्मचर्य-आश्रम का प्रारम्भ होता था। उपनयन शब्द का अर्थ है समीप ले जाना अर्थात् शिक्षा के लिये बालक को गुरु के पास ले जाकर उसका शिष्य बनाना। इस प्रकार से इस संस्कार का उपयोग शिक्षा ही के लिये था और आधुनिक काल में विद्यालय में प्रवेश कराने जैसा था। प्रारम्भ में यह संस्कार अनिवार्य नहीं था किन्तु समय के साथ वैदिक-साहित्य में विभिन्न प्रकार की रचनाओं की वृद्धि के कारण यह आवश्यक होगया कि वैदिक-साहित्य को लुप्त होने से बचाने के लिये पूरे समाज का सहयोग लिया जाय। इसीलिये बाद में इस संस्कार को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के लिये अनिवार्य बना दिया गया। मनु-स्मृति में तो इस संस्कार को न करने वाले को व्रात्य अर्थात् पतित अथवा समाज से बहिष्कृत बतलाया गया है। इस प्रकार से उपनयन संस्कार के सहारे पूरे भारतीय समाज को साक्षर बनाने का उद्योग किया गया था। किन्तु कालान्तर में यह सिद्धान्त चल निकला कि कलियुग में केवल दो ही वर्ण हैं—ब्राह्मण और शूद्र। इस कारण से क्षत्रियों और वैश्यों का उपनयन संस्कार बन्द-सा हो गया। फलस्वरूप समाज में शिक्षितों की संख्या कम हो गई।

ब्रह्मचर्य-आश्रम और साथ ही शिक्षाकाल का अन्त समावर्तन संस्कार के द्वारा होता था। समावर्तन का अर्थ है लौटना। जब गुरु के घर से शिक्षा लेकर विद्यार्थी अपने घर लौटता था उस अवसर पर यह संस्कार होता था।

ब्रह्मचर्य-आश्रम के नियम—ब्रह्मचर्य-आश्रम में विद्यार्थी को कई नियमों का पालन करना पड़ता था। विद्यार्थी जीवन में आत्म-नियन्त्रण, सदाचार एवं सद्व्यवहार जैसे गुणों को अपने में लाना चाहिये। सरल जीवन और उच्च विचार ब्रह्मचारी के लिये आदर्श थे। ब्रह्मचर्य-आश्रम में सदाचार और संयम को विशेष महत्त्व दिया गया था। संयम के महत्त्व के कारण ही ब्रह्मचर्य शब्द जिसका पहले अर्थ

वेद का अध्ययन था आगे चलकर नियम और संयम से पूर्ण जीवन का द्योतक हो गया। आमोद-प्रमोद से भरा सुखमय जीवन विद्याध्ययन में बाधक है इस बात को भारतीय समझते थे। इसी से विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य-आश्रम में विलासिता और सुख के उपकरणों से दूर रखा जाता था। उसे या तो केशों का मुण्डन कराना अथवा जटा रखनी पड़ती थी जिससे केशों के प्रसाधन, तेल अथवा कंघी के उपयोग में समय नहीं लगाना पड़े। विद्यार्थी के लिये स्नान करना आवश्यक था लेकिन क्रीड़ा के लिये स्नान करना वर्जित था। इसी प्रकार से भोजन और वस्त्र भी सादे होते थे, केवल वे ही और उतनी ही वस्तुओं का उपयोग हो सकता था जो आवश्यक थीं। जूते, खाट और छाते का उपयोग भी वर्जित था। लेकिन इन नियमों का लक्ष्य विद्यार्थी को अकारण कष्ट देना नहीं था। स्वास्थ्य के लिये हानि की आशंका होने पर इन्हीं नियमों में परिवर्तन हो सकता था।

भिक्षा-वृत्ति—शास्त्रों में विद्यार्थी के लिये भिक्षा माँगना धार्मिक कर्त्तव्य बतलाया गया है। इस व्यवस्था से धनी और निर्धन दोनों प्रकार के विद्यार्थी बिना किसी कठिनाई के शिक्षा पा सकते थे। इसके द्वारा समाज को यह बोध कराया जाता था कि विद्यार्थी समाज की भावी आशा है और समाज और संस्कृति की रक्षा तथा विकास उसी के ऊपर निर्भर है जिससे उसकी शिक्षा की आवश्यकताओं को यत्नपूर्वक पूरा करना चाहिये। हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि यह नियम एक आदर्श था जिसके द्वारा विद्यार्थी में गर्व की भावना को दूर कर उसे नम्र बनाया जाता था और साथ ही उसे इस बात का निरन्तर ध्यान रखाया जाता था कि उसकी शिक्षा समाज की सहायता से ही सम्भव है जिससे वह समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का भली भाँति पालन कर सके। व्यवहार रूप से धनी परिवार के बालकों को भिक्षा-वृत्ति पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था। जो विद्यार्थी अत्यन्त निर्धन होते थे उन्हें ही भिक्षा माँगनी पड़ती थी। बड़े शिक्षा-केन्द्रों और विद्यालयों में विद्यार्थियों के लिये दान के धन से भोजन और वस्त्र आदि की व्यवस्था की जाती थी।

शुल्क—प्राचीन काल में शिक्षा के लिये शुल्क निर्धारित करने का नियम नहीं था। ऐसी व्यवस्था थी कि धन के अभाव के कारण कोई विद्यार्थी ज्ञान प्राप्त करने से वंचित न रह जाय। जो गुरु केवल धन-अर्जन की दृष्टि से ही शिक्षा देता था उसकी अतिशय निन्दा होती थी। प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्रों और विद्यालयों में प्रायः निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था थी। धनी विद्यार्थी शिक्षा प्रारम्भ होने से पहले गुरु को भेंट देते थे। निर्धन विद्यार्थी ऐसा करने में असमर्थ होने पर गुरु की सेवा करते थे। ऐसे विद्यार्थी दिन में तो गुरु की सेवा करते थे और रात्रि में गुरु से पढ़ते थे। कभी-कभी शिक्षा की समाप्ति पर विद्यार्थी गुरु को गुरु-दक्षिणा देते थे।

गुरुकुल—प्राचीन काल में शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुल की व्यवस्था थी।

इस पद्धति में विद्यार्थी अपने घर से दूर गुरु के निवास-स्थान पर या शिक्षा-केन्द्र में ही रहता था। ऐसे विद्यार्थी को अन्तेवासी या आचार्यकुलवासी कहते थे क्योंकि वह गुरु के समीप या आचार्य के कुल में ही रहता था। शिष्य गुरु के साथ उसके परिवार के एक सदस्य के ही रूप में रहता था। गुरु और शिष्य के बीच पिता और पुत्र का संबंध था। शिष्य का यह कर्त्तव्य था कि गुरु का देवता की भाँति आदर करे। गुरु की सेवा करना शिष्य का पुनीत धर्म था। गीता में शिक्षा प्राप्त करने के तीन उपायों में नम्रता और सेवा का भी उल्लेख है—तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। इसी प्रकार से गुरु भी सदैव शिष्य का ध्यान रखता था और उसे हर प्रकार की सुविधा देता था।

गुरुकुल पद्धति में शिष्य को गुरु के सम्पर्क में आने और उसका अनुकरण करने का सुयोग और अवसर प्राप्त होता था। श्रेष्ठ और योग्य गुरुओं के आदर्श-जीवन का सम्पर्क शिष्यों पर उत्तम प्रभाव डालता था। गुरुकुल का पुनीत वातावरण भी विद्यार्थी के चरित्र और स्वभाव के निर्माण में सहायक होता था। गुरुकुलों में विद्यार्थी के ऊपर कुटुम्ब अथवा परिवार के भी तत्त्व प्रभाव डालते थे।

प्रायः गुरुकुलों के विषय में लोगों में ऐसी धारणा है कि वे वनों में स्थित होते थे। यह सत्य है कि वनों का शान्त वातावरण शिक्षा प्राप्त करने के लिये अच्छा होता था और वाल्मीकि और कण्व जैसे प्रसिद्ध मुनियों के आश्रम वनों में ही थे किन्तु सभी गुरुकुल तपोवनों में ही नहीं थे। गुरुकुलों की अधिक संख्या नगरों और ग्रामों में ही थी। शिक्षक गृहस्थ होते थे और इसलिये गुरुकुलों का शहरों और गाँवों में होना ठीक भी था। यह अवश्य था कि गुरुकुल किसी उपवन या दूसरे शान्त स्थान पर ही थे। तक्षशिला के अध्यापक राजधानी ही में रहते थे।

सामूहिक शिक्षा-व्यवस्था—प्राचीन भारत में साधारणतया वैयक्तिक शिक्षा का चलन था। किसी आचार्य की प्रतिष्ठा सुनकर विद्यार्थी उससे शिक्षा ग्रहण करने जाते थे। इस प्रकार से एक गुरु के पास १५ या २० से अधिक छात्र नहीं होते थे। उस समय आधुनिक विद्यालयों जैसी संगठित संस्थाओं की व्यवस्था नहीं थी। किन्तु कुछ स्थानों पर कई प्रसिद्ध शिक्षकों के रहने के कारण वे स्थान शिक्षा के केन्द्रों के रूप में प्रतिष्ठा पाते थे। ऐसी प्रसिद्धि के पीछे कई कारण होते थे। कुछ नगर तो राजधानी होने के कारण प्रसिद्ध विद्वानों के लिये आकर्षण बने रहते थे जहाँ उन्हें राजदरबार का संरक्षण और आश्रय मिल सकता था। तीर्थों में भी विद्वानों और पंडितों के एकत्रित होने के लिये सुविधायें थीं। कुछ व्यापारिक नगर भी अपने वैभव के कारण शिक्षा के केन्द्र के रूप में विकसित हुये। इस प्रकार के प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्रों में तक्षशिला, बनारस, धारा, उज्जयिनी, कल्याणी और कन्नौज के नाम उदाहरणार्थ दिये जा सकते हैं।

प्राचीन भारत में यदि शिक्षा की दृष्टि से कुछ व्यवस्था या संगठन था तो वह अग्रहारों में मिलता था। कुछ पुनीत और विशेष अवसरों पर राजा विद्वान ब्राह्मणों को आमंत्रित कर उन्हें ग्रामों में बसा देते थे और उनके निर्वाह के लिये उस ग्राम के राज्यकर का दान कर देते थे। ऐसे ग्रामों को अग्रहार कहते थे। ये ब्राह्मण अपने निजी धार्मिक कृत्यों के साथ-साथ शिक्षण का कार्य भी करते थे। प्राचीन काल के अनेक दानपत्रों में उस समय के कई अग्रहारों के नाम मिलते हैं। ये देश के प्रत्येक भाग में फैले हुये थे। इनमें काडिपुर और सर्वज्ञपुर के अग्रहार अधिक प्रसिद्ध हैं।

बौद्ध विहारों के अनुकरण पर आगे चलकर हिन्दू मन्दिरों ने भी सामूहिक शिक्षा की व्यवस्था प्रारम्भ की। प्रारम्भ में तो मन्दिर-पूजन और आराधना तक ही सीमित थे। लेकिन जब उन्हें भी प्रभूत धन का दान मिलने लगा तो उन्होंने भी दान का कुछ भाग शिक्षा के कार्य में लगाना प्रारम्भ किया। ऐसे तो हम इस परिवर्तन का प्रारम्भ कुछ पहले के काल में ही देख सकते हैं किन्तु इसके सर्वप्रथम स्पष्ट प्रमाण दसवीं शताब्दी के लगभग ही मिलते हैं। प्राचीन काल के अधिक प्रसिद्ध मन्दिर-विद्यालयों में हम सालोत्गी, एन्नायिरम्, तिरुमुक्कुदल, तिरुवोर्रियूर और मलकापुरम् का उल्लेख कर सकते हैं।

स्त्री-शिक्षा—वैदिक काल में स्त्रियों को भी पुरुषों की भाँति ही शिक्षा की सुविधायें और अवसर उपलब्ध थे। अथर्ववेद में स्पष्ट ही कन्या के द्वारा ब्रह्मचर्य की व्यवस्था के पालन का उल्लेख है। मनु और कुछ बाद के स्मृतिकारों से भी मालूम होता है कि पूर्वकाल में लड़कियों का भी उपनयन संस्कार होता था। प्रायः कन्या के विवाह की आयु १६ या १७ वर्ष थी। इसलिये उन्हें शिक्षा प्राप्त करने का समय मिलता था। कुछ लड़कियाँ विवाह की आयु हो जाने पर भी अध्ययन समाप्त नहीं करती थीं। उन्हें ब्रह्मवादिनी कहते थे। ऐसी स्त्रियाँ जो अध्यापन का कार्य करती थीं उनके लिये उपाध्यायानी आदर-सूचक शब्द का प्रयोग होता था। केवल छात्राओं के उपयोग के लिये बने आवास छात्रीशाला कहलाते थे। स्त्रियों को वैदिक-साहित्य के अध्ययन और यज्ञों को करने का अधिकार था। सूत्रग्रन्थों, रामायण और महाभारत से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ वैदिक मंत्रों के साथ धार्मिक कृत्य करती थीं। ऋग्वेद के कई मन्त्रों की रचना स्त्रियों ने की थी। इन वैदिक कवियित्रियों में कुछ के नाम हैं—घोषा, रोमशा, लोपामुद्रा और अपाला। कालान्तर में दर्शन-सिद्धान्तों के उद्भव होने पर हम देखते हैं कि दर्शनों के अध्ययन और चिन्तन में स्त्रियाँ पीछे नहीं थीं, कई को इस क्षेत्र में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में प्रवेश करने की अनुमति देकर उनके लिये शिक्षा की सुविधाओं को बढ़ाया। इसका समर्थन इस बात से होता है कि थेरीगाथा में भिक्षुणियों के रचित गीत एकत्रित हैं।

लेकिन धीरे-धीरे स्त्रियों के इन अधिकारों का अन्त होता गया। स्मृतिकार हारीत (लगभग ५०० ई० पू०) के समय में ही कन्याओं का उपनयन दिखावा मात्र रह गया था, वे वैदिक शिक्षा नहीं ग्रहण करती थीं। मनुस्मृति (लगभग २०० ई० पू०) में कहा गया है बिना वैदिक मंत्रों के उच्चारण के ही स्त्रियों का उपनयन संस्कार करना चाहिये। याज्ञवल्क्य (२०० ई०) और उनका अनुसरण करके बाद के स्मृतिकारों ने स्त्रियों के लिये उपनयन संस्कार को बिल्कुल वर्जित कर दिया। इस परिवर्तन के कारण स्त्रियाँ वैदिक-यज्ञ नहीं कर सकती थीं, वैदिक-मंत्रों का उच्चारण नहीं कर सकती थीं, वैदिक शिक्षा के द्वार उनके लिये बन्द हो गये थे। स्त्रियों के विवाह की आयु उत्तरोत्तर घटती हुई ७, ८ और ९ वर्ष तक पहुँच गई थी। अतएव स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने के अवसर कम हो गये। फिर भी सभ्य और समृद्ध परिवारों की स्त्रियाँ ललित कलायें, गार्हस्थ जीवन से सम्बन्धित विद्यायें और साहित्यिक शिक्षा ग्रहण करती थीं। सुशिक्षित परिवार की स्त्रियाँ इसी कारण से कवियित्री के रूप में प्रसिद्धि पाती थीं। इस काल के इतिहास में ऐसी कई रानियों के उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने शासन के सूत्र संभाले। निश्चय ही इन्हें शासन और सैनिक-प्रबंध की शिक्षा मिली रही होगी। लेकिन साधारण परिवारों की स्त्रियों में शिक्षा का प्रतिशत बहुत ही कम रहा होगा। चौथी शताब्दी से भिक्षुणियों के विहारों की प्रथा क्षीण होने से स्त्रियों की शिक्षा का यह मार्ग भी अवरुद्ध हो गया। साधारण परिवार की स्त्रियाँ आर्थिक विषमता उपस्थित होने पर जीवन-निर्वाह के लिये कताई और बुनाई का आश्रय लेती थीं। किन्तु यह शिक्षा उन्हें कोई आर्थिक स्वतंत्रता नहीं देती थी।

शिल्पों और उद्योगों की शिक्षा के लिये प्राचीन भारत में पृथक व्यवस्था थी। भारत में व्यवसाय साधारणतया वंशक्रमानुगत होते थे और बहुत पूर्व काल में ही उद्योगों और शिल्पों के श्रेणियों में संगठित होने की प्रवृत्ति चल निकली थी। इस पद्धति का उत्तरोत्तर विकास होता गया। प्रायः सभी प्रमुख उद्योगों और शिल्पों की श्रेणियाँ थीं। अधिकांशतः पुत्र पिता की मृत्यु के बाद उसी व्यवसाय को करता था। अपनी कुमारावस्था से ही वह वंश के उद्योग को सीखता था और अपने गुरुजनों से व्यवसाय की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों में प्रवीणता पा लेता था। इस प्रकार से शिल्प में प्राप्त कौशल वंश-परम्परा से स्थायी बना रहता था। उद्योगों की शिक्षा प्राप्त करने के लिये सबसे अधिक प्रचलित विधि अन्तेवासी की थी। शिक्षार्थी शिल्प की शिक्षा लेने के लिये किसी कुशल कारीगर के साथ रहता था। शिक्षा की अवधि में शिष्य के रहने और भोजन आदि का व्यय गुरु ही उठाता था। बदले में शिक्षार्थी कुछ निश्चित वर्षों के लिये गुरु के साथ कार्य करता था। इस विधि में सदैव गुरु के साथ रहने के कारण शिष्य को उद्योग की प्रत्येक बातों का प्रत्यक्ष और क्रियात्मक ज्ञान होता था। इससे उद्योग के रहस्य और कौशल गुरू और शिष्य के क्रम से बने रहते थे।

बौद्ध शिक्षा-केन्द्र—प्राचीन भारत में राज्य अथवा व्यक्ति या समाज विशेष के द्वारा निर्मित और संचालित आधुनिक विद्यालयों जैसी सुसंगठित संस्थाओं का प्रचलन नहीं था। किन्तु बौद्ध-धर्म के कारण इस दिशा में एक नवीनता का प्रवेश हुआ। बौद्ध-धर्म में प्रारम्भ से ही भिक्षु और भिक्षुणियों की शिक्षा को महत्त्व दिया गया था। अतएव बौद्ध-विहार स्वाभाविक ही शिक्षा के केन्द्र बन गये। कालान्तर में सर्व-साधारण लोगों में बौद्ध-धर्म के प्रभाव की संभावना को बढ़ाने की दृष्टि से ये शिक्षा-केन्द्र बौद्धों के अतिरिक्त अन्य लोगों के लिये भी सुलभ कर दिये गये।

नालन्दा का विश्वविद्यालय पटना से ४० मील दक्षिण में बड़गाँव नामक स्थान में स्थित था। ऐसे तो नालन्दा का बौद्ध-धर्म से प्राचीन संबंध था किन्तु पाँचवीं शताब्दी के मध्य के लगभग ही से शिक्षा के केन्द्र के रूप में इसकी ख्याति हुई इसके उत्कर्ष में गुप्त-वंश के उदार सम्राटों के दान का बहुत सहयोग था।

नालन्दा का विश्वविद्यालय कम से कम एक मील लम्बा और आधा मील चौड़ा था। मध्य में स्थित विद्यालय में आठ बड़े कमरे और व्याख्यान के लिये तीन-सौ छोटे कमरे थे। विश्वविद्यालय के भवन भव्य, कई मंजिल ऊँचे और बादलों को स्पर्श करते हुये-से थे। विद्यार्थियों के आवास के लिये कम से कम दो मंजिल ऊँचे कई विहार थे। इनमें से कुछ कमरों में एक ही और कुछ में दो विद्यार्थियों के रहने का प्रबन्ध था। विश्वविद्यालय के स्वामित्व में २०० दान दिये हुये गाँव थे जिनसे विद्यार्थियों के लिये निर्मूल्य भोजन, आवास और वस्त्र का प्रबन्ध था।

सभी प्रकार के प्रबन्ध कुलपति के अधीन थे जिसकी सहायता के लिये दो परिषदें थीं—एक शिक्षा और दूसरी शासन से संबंधित।

जब चीनी यात्री इत्सिंग भारत आया उस समय नालन्दा में छात्रों की संख्या ३००० से अधिक थी। ह्वी ली, जिसने युवाङ् च्वाङ् की जीवनी लिखी है, के अनुसार सातवीं शताब्दी ईसवी के उत्तरार्ध में छात्रों की संख्या १०००० थी। यह उल्लेख अतिरञ्जित है। फिर भी उस समय संख्या संभवतः ५००० के लगभग रही होगी।

नालन्दा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों और शिक्षकों के अध्ययन की सुविधा के लिये धर्मगञ्ज नाम का एक बृहत् पुस्तकालय था जो तीन भव्य भवनों में स्थित था। महायान शाखा का केन्द्र होने के कारण स्वभावतः महायान-साहित्य का अध्ययन प्रमुख था। किन्तु साथ ही पाली में लिखे हीनयान शाखा के ग्रन्थ भी अध्ययन के विषय थे। नालन्दा के पाठ्यक्रम में वेद, वेदान्त, सांख्य, दर्शन, हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्सा-विद्या, अथर्ववेद और अन्य कई विषयों के ग्रन्थ भी सम्मिलित थे।

शिक्षा के केन्द्र के रूप में नालन्दा की बड़ी ख्याति थी। यहाँ के विद्यार्थियों और शिक्षकों के ज्ञान का स्तर ऊँचा था। नालन्दा के कुछ भिक्षु-विद्वानों को अपने ज्ञान और पवित्र जीवन के कारण बहुत प्रसिद्धि प्राप्त थी। ऐसे कुछ आचार्यों के नाम थे

धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र और शीलभद्र। नालन्दा में प्रवेश पाने के लिये लोगों को कड़ी परीक्षा देनी पड़ती थी। ऐसे प्रति दस प्रवेशार्थियों में से केवल दो या तीन को ही सफलता मिलती थी।

नालन्दा की ख्याति केवल देश में ही सीमित नहीं थी, इसकी प्रसिद्धि अन्तर्राष्ट्रीय थी। चीन, कोरिया, तिब्बत और मध्य-एशिया से ज्ञान की खोज में विद्यार्थी नालन्दा आते थे। आठवीं शताब्दी से आगे नालन्दा के विद्वानों ने तिब्बत में बौद्ध-धर्म के प्रचार के कार्य में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। नालन्दा का अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र के रूप में महत्त्व इस बात से प्रकट होता है कि नवीं शताब्दी ईसवी में जावा और सुमात्रा के सम्राट ने नालन्दा में एक विहार का निर्माण कराया।

ग्यारहवीं शताब्दी से पालवंश के राजाओं ने विक्रमशिला के विश्वविद्यालय की ओर अधिक ध्यान देना प्रारम्भ किया। संरक्षण और प्रोत्साहन के अभाव में नालन्दा का वैभव अस्तप्राय-सा हो गया। इसी समय नालन्दा बौद्धधर्म के तान्त्रिक स्वरूप के प्रभाव में रंग गया था। अन्त में बारहवीं शताब्दी की समाप्ति के वर्षों में मुसलमानों के आक्रमण के फलस्वरूप यह विश्वविद्यालय नष्ट हो गया।

वलभी—पूर्व में जो प्रसिद्धि नालन्दा को प्राप्त थी वही पश्चिम में वलभी (काठियावाड़ में आधुनिक वला नाम का स्थान) के विश्वविद्यालय की थी। चीनी यात्री इत्सिंग ने सातवीं शताब्दी में इस प्रसिद्ध शिक्षाकेन्द्र का वर्णन किया है। भारतवर्ष के विभिन्न भागों के विद्वान् वलभी के विचारकों से अपने विचारों का समर्थन पाकर ख्याति प्राप्त करते थे। गंगा के मैदान से उच्च शिक्षा की खोज में विद्यार्थी वलभी आते थे। वलभी में शिक्षा प्राप्त करने वाले शिक्षा की समाप्ति पर उच्च शासन-पदों पर नियुक्त होते थे। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध-धर्म का केन्द्र होने पर भी इस विद्यापीठ में विधिनियम, अर्थशास्त्र, गणना और साहित्य जैसे विषयों का भी अध्ययन और अध्यापन होता था। ७७५ ई० के लगभग एक अरब आक्रमण के कारण यह विद्यालय नष्ट हो गया।

विक्रमशिला का विश्वविद्यालय बिहार प्रान्त के भागलपुर जिले में स्थित था। इसकी स्थापना का श्रेय पाल वंश के राजा धर्मपाल (७७५–८०० ई०) को है। शीघ्र ही इस विश्वविद्यालय ने अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त कर लिया। विक्रमशिला के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों की एक लम्बी तालिका है। प्रारम्भ से ही इस शिक्षा-केन्द्र का तिब्बत के साथ विशेष सम्बन्ध था। विक्रमशिला में अध्ययन के लिये आने वाले तिब्बत के विद्वानों के लिये एक पृथक् अतिथिशाला थी। विक्रमशिला से कई विद्वान् तिब्बत गये थे जहाँ उन्होंने कई ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। इन विद्वानों में सबसे अधिक प्रसिद्ध दीपङ्कर श्रीज्ञान थे जो उपाध्याय अतीश के नाम से विख्यात हैं। विक्रमशिला का पुस्तकालय बड़ा समृद्ध था। बारहवीं शताब्दी में विक्रमशिला में अध्ययन करने

वाले विद्यार्थियों की संख्या ३००० थी। प्रबन्ध और व्यवस्था कुलपति ६ भिक्षुओं के एक मण्डल की सहायता से करता था। कुलपति के अधीन ६ द्वारपण्डितों की एक परिषद् प्रवेश प्राप्त करने के लिये आये विद्यार्थियों की परीक्षा लेती थी। इस विश्वविद्यालय में व्याकरण, न्याय, दर्शन और तन्त्र के अध्ययन की विशेष व्यवस्था थी। इस विश्वविद्यालय की व्यवस्था अधिक संगठित थी। बंगाल के शासक शिक्षा की समाप्ति पर विद्यार्थियों को उपाधि देते थे। अन्त में १२०३ ई० में बख्तियार खिलजी ने दुर्ग समझकर इस विश्वविद्यालय को नष्ट कर दिया।

शिक्षा प्रणाली की विधियाँ—प्राचीन भारत में मौखिक शिक्षा का ही चलन था। लिखने के लिये भोजपत्रों का ही प्रयोग था। सस्ती लिखने की सामग्री के अभाव में पाठ्य-पुस्तकें अधिक संख्या में प्राप्य नहीं थीं। प्रारंभ में भी आर्यों ने अपने प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों वेदों को लिपिबद्ध नहीं किया। उन्हें आशंका थी कि प्रतिलिपि बनाने वालों की असावधानी से उनमें दोषों का प्रवेश होगा और पुस्तक रूप में होने से अपवित्र लोग भी उनका स्पर्श करेंगे। इसीलिये वेदों की शिक्षा मौखिक दी जाती थी। इसी विधि का प्रयोग दूसरी पुस्तकों और विद्याओं की शिक्षा में भी प्रयुक्त हुआ। पहले पाठ्य-सामग्री के कुछ अंश को गुरु पढ़कर शिष्यों को समझा देता था। शिष्य बाद में उन्हें याद करता था।

इस विधि से विद्यार्थी आवश्यक और महत्त्व की पुस्तकों को कण्ठाग्र कर लेते थे। प्राचीन काल में पुस्तक में निहित विद्या का आदर्श नहीं था, विद्या सदैव जिह्वा के ऊपर रहनी चाहिये। विद्यार्थी को अपना कुछ समय पिछले पाठ को दुहराने में लगाना पड़ता था। पाठ्य-सामग्री को याद करने के कार्य को सुगम बनाने के लिये ग्रन्थों की रचना पद्य के रूप में की जाती थी। इसी विचार से प्रायः निष्कर्षों को सूत्र रूप में प्रस्तुत किया जाता था जिससे थोड़े में ही सभी ज्ञातव्य बातें याद रहें।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्राचीन काल में रटना और घोटना ही सब कुछ था। वास्तव में शिक्षा का आदर्श भली भाँति से पाठ्य-सामग्री को समझ कर याद करना था। कई विचारकों ने स्पष्ट ही बिना समझकर रटने की विधि की निन्दा और उपहास की है। प्रसिद्ध चिकित्साशास्त्री सुश्रुत ने तो ऐसे विद्यार्थी को उस गधे के समान बतलाया है जो अपने ऊपर लदे बोझ का केवल अनुभव कर सकता है लेकिन यह नहीं जानता कि यह बोझ किस वस्तु का है। फिर साथ ही हम यह भी जानते हैं कि प्राचीन साहित्य के जो दुरूह ग्रन्थ थे या जो सूत्र रूपमें थे उनपर टीकायें और व्याख्यायें भी रची गईं। इनकी सहायता से मूल ग्रन्थों को समझकर ही विद्यार्थी उन्हें रटते थे। चीनी यात्री युवाङ च्वाङ् और इत्सिंग ने भी प्रमाणित किया है कि भारतीय विद्वान व्याख्या करने में कुशल थे।

इस प्रकार से शिक्षा देने की व्यवस्था में सबसे बड़ा गुण यह था कि गुरु

प्रत्येक विद्यार्थी पर व्यक्तिगत ध्यान दे सकता था। अध्यापक प्रत्येक विद्यार्थी की निजी आवश्यकताओं और कठिनाइयों को समझता था और प्रत्येक के निजी मानसिक विकास के अनुसार ही उसे शिक्षा देता था। अध्यापक हर एक विद्यार्थी को अलग-अलग पढ़ाता था, उसके पाठ को सुन कर, अशुद्धियों को दूर कर उसे आगे का पाठ देता था। आधुनिक काल में जो सामूहिक रूप से शिक्षा देने की व्यवस्था में सर्वश्रेष्ठ और सबसे मन्द विद्यार्थी को असुविधायें उठानी पड़ती हैं वे प्राचीन काल में बड़े अच्छे रूप में सुलझा दी गई थीं।

प्राचीन काल में शिक्षा प्रधानरूप से वार्तालाप और प्रश्नोत्तर की प्रणाली से दी जाती थी। जो बातें शिष्य के समझ में नहीं आती थीं उन पर वह गुरु से प्रश्न करता था, वाद्-विवाद करता था। इस प्रणाली का यह लाभ था कि विद्यार्थी का मस्तिष्क सतत् जागरूक रहता था। वह पूरे मनोयोग से पाठ को समझने का प्रयत्न करता था। गुरु भी शिष्य के प्रश्नों से यह समझ जाता था कि उसने कितनी बातें ग्रहण की है। गीता में भी ज्ञान प्राप्त करने के तीन उपायों में भगवान् कृष्ण ने परिप्रश्न को गिनाया है। वार्तालाप की पद्धति का ही आश्रय लेकर उपनिषद्कारों और गौतम बुद्ध ने दर्शन के जटिल तत्त्वों की शिक्षा दी है। उच्च स्तर पर शास्त्रार्थ और वाद-विवाद भारत की बहुत पहले से ही विशेषता रहे हैं।

हितोपदेश और पञ्चतन्त्र से पता चलता है कि कभी-कभी कथाओं के माध्यम से भी दुरूह विषय समझाये जाते थे। एक जातक कहानी में तो शिक्षक शिष्य को नई बातों का पर्यवेक्षण करने और उनकी पहले से ही ज्ञात बातों से तुलना करने को कहता है।

किसी-कसी परिस्थिति में जब विद्यार्थियों की संख्या इतनी अधिक हो जाती थी कि गुरु पूर्ण वैयक्तिक ध्यान नहीं दे सकता था तो शिक्षण-कार्य में वह बड़े विद्यार्थियों का सहयोग लेता था। कभी-कभी गुरु की कुछ दिनों की अनुपस्थिति में भी यही विधि प्रयुक्त होती थी। इससे कुछ विद्यार्थियों को शिक्षण-कार्य का व्यावहारिक अनुभव भी हो जाता था और दूसरे विद्यार्थियों की शिक्षा का व्यय भी कुछ कम हो जाता था।

परीक्षा और उपाधियाँ—प्राचीन भारत में आज जैसी व्यवस्था नहीं थी। न तो वार्षिक परीक्षायें ही थी और न शिक्षा की अवधि की समाप्ति पर उपाधियाँ ही वितरित की जाती थीं। इनके स्थान पर गुरु प्रतिदिन परीक्षा लेता था। प्रत्येक शिष्य से अलग-अलग प्रश्न पूछ कर और यह समझ कर कि उसने पिछला पाठ ठीक से याद कर लिया है, गुरु दूसरा पाठ पढ़ाता था। वर्तमान काल में तो न्यूनतम उत्तीर्णांक पाकर विद्यार्थी अपने उपाधि-पत्र से ही अपनी योग्यता सिद्ध करता है। इसके विपरीत प्राचीन भारत में विद्यार्थी को शिक्षा की समाप्ति के बाद भी अपने ज्ञान को बनाये रखना पड़ता था। उसे किसी भी अवसर पर वाद-विवाद में अपनी योग्यता

दिखलाने के लिये उपस्थित होना पड़ता था। इसीलिये उसे सदैव ही अपनी सारी विद्या अपनी जिह्वा पर रखनी पड़ती थी। कभी-कभी शिक्षा की समाप्ति पर विद्यार्थी को स्थानीय विद्वत्परिषद् में उपस्थित होकर कुछ प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते थे। किन्तु इसे हम वर्तमान वार्षिक परीक्षाओं की कोटि में नहीं रख सकते। यह बात समावर्तन संस्कार के उपरान्त होती थी। इससे स्पष्ट है कि इस बात का निर्णय कि विद्यार्थी ने अपनी शिक्षा सफलतापूर्वक समाप्त कर ली उसके शिक्षक पर ही निर्भर था। राजशेखर और चरक ने भी राजदरबार में होने वाले वाद-विवाद का उल्लेख किया है। किन्तु इनका स्वरूप वार्षिक परीक्षा जैसा नहीं था। ये तो विद्वानों की प्रतियोगितायें थीं जिनके द्वारा वे अपनी श्रेष्ठता दिखलाकर राजदरबार में मान और प्रतिष्ठा चाहते थे।

पूर्व मध्ययुग में अवश्य ही उपाधि की परिपाटी का प्रारंभ दिखलाई पड़ता है। पालवंश के राजा जो विक्रमशिला विश्वविद्यालय के संरक्षक थे विद्यार्थियों को समावर्तन के समय उपाधियाँ देते थे। मध्यकाल में बंगाल में उपाधियों का चलन था।

पठनीय सामग्री

Altekar, A. S , Education in Ancient India.
Mookerji, R. K., Ancient Indian Education.
Das, S. C., The Educational System of the Ancient Hindus.
Venkatesvaram, Indian Culture through the Ages.
Keay, Ancient and later Indian Education.

अध्याय ४

भारत के प्रमुख धर्म तथा भारतीय संस्कृति को उनकी देन

इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है कि भारतीय संस्कृति धर्म-प्रधान रही है। धर्म ही भारतीय जीवन का सर्वोच्च आदर्श माना गया है। भारत में धर्म की परम्परा अति प्राचीन काल से प्रारम्भ होती है। अनेक धर्मों तथा सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव इस देश में हुआ। हिन्दू धर्म की वैदिक, पौराणिक और शाक्त धारायें तथा बौद्ध और जैन धर्म इस देश के प्रमुख धर्म हैं। इनका भारतीय संस्कृति के विभिन्न अंगों के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का भी धर्म से विशेष सम्बन्ध रहा है। इनके अतिरिक्त इस्लाम और ईसाई धर्म का प्रचार भी इस देश में हुआ और ये भी इस देश के प्रमुख धर्म बने।

सबसे पहले हम हिन्दू धर्म की वैदिक, पौराणिक और शाक्त धाराओं के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

हिन्दू-धर्म

वैदिक-धारा

प्राचीन भारत के धार्मिक विकास के सम्बन्ध में निश्चित जानकारी सबसे पहले आर्यों के वैदिक-साहित्य से ही उपलब्ध होती है। वैदिक-साहित्य के अन्तर्गत प्रायः ऋग्वेद तथा अन्य वेदों के मंत्र, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषद् माने जाते हैं। यह स्पष्ट है कि वैदिक-काल शताब्दियों तक चलता रहा और इस बीच आर्यों के वैदिक-धर्म का विकास होता रहा। आधुनिक गवेषणाओं[१] से यह सिद्ध हो गया है कि यह विकास केवल आन्तरिक विकास नहीं था अपितु इसके पीछे वैदिक और अवैदिक-(Non-Vedic) सांस्कृतिक धाराओं के संगम की शक्ति भी कार्य कर रही थी। इसका अर्थ यह है कि वैदिक-धर्म में एक ऐसी सांस्कृतिक और धार्मिक धारा के तत्त्वों का सम्मिश्रण होता रहा जो उससे भिन्न थी तथा उससे भी प्राचीन थी और इस प्रकार उसका उत्तरोत्तर विकास होता रहा।

अतः वैदिक-धर्म तथा उसके विकास को ठीक-ठीक समझने के लिये अवैदिक धारा के मूल तत्त्वों का ज्ञान परम आवश्यक है। अधिकांश विद्वान सिन्धु नदी की घाटी की संस्कृति को अवैदिक धारा के अन्तर्गत मानते हैं। यहाँ के उत्खनन

१. See the Chapter "Review of the Vedic Background" in Dr. Govind Chandra Pande's, Studies in the Origins of Buddhism.

में प्राप्त कुछ मुहरों के चित्रण से ज्ञात होता है कि पशुपति, नटराज और योग के रूप में शिव की पूजा प्रचलित थी। मातृ-देवी (Mother-Goddess) की भी मूर्तियाँ मिली हैं। पीपल के वृक्ष तथा वृष आदि कुछ पशुओं की भी पूजा होती थी[१]। इसके अतिरिक्त लिंग-पूजा, जल का धार्मिक महत्त्व तथा योगासन की परम्परा भी इसी संस्कृति से सम्बन्धित मानी जाती है[२]।

पुरातत्त्व सम्बन्धी साक्ष्यों के अतिरिक्त ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों तथा प्राचीन जैन और बौद्ध-साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन के पश्चात् मुनियों और श्रमणों की अवैदिक सांस्कृतिक धारा के ऊपर भी कुछ प्रकाश पड़ा है[३]। श्रमण विचारधारा के अनुसार संसार का कोई ईश्वर या साकार स्रष्टा नहीं है। यह संसार आवागमन का चक्र है जो कर्मों के कारण अस्तित्व में आता है और चलता जाता है। संसार के प्रति यह निराशावादी दृष्टिकोण था। आत्माओं की अनेकता, उनकी भौतिक पदार्थ (Matter) से भिन्नता तथा दृश्यमान् जगत की यथार्थता में भी श्रमणों का विश्वास था। मुक्ति के लिये ये किसी न किसी रूप में तपस्या आवश्यक समझते थे। श्रमणों के अनेक सम्प्रदाय थे जिनमें कुछ मतभेद भी थे।

अब हम वैदिक-धर्म के सम्बन्ध में देवता, यज्ञ और उपनिषदों का अध्यात्म-वाद, इन तीन प्रमुख शीर्षकों के अन्तर्गत विचार करेंगे।

देवता—वैदिक-साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि वैदिक-धर्म का प्रारम्भिक रूप बहुदेववाद अर्थात् अनेक देवों या देवताओं मे विश्वास था। ये देवता अधिकतर प्रकृति की अलौकिक, एवं नियामक शक्तियों के मानवीकृत रूप थे जिनमें व्यक्तित्व का आरोप किया गया था, जैसे सूर्य, वायु, द्यौस् (आकाश), पृथिवी, अग्नि, वरुण, इन्द्र इत्यादि। इनकी कल्पना मानव-रूप में की गई थी। इनकी उपासना और परितुष्टि प्रार्थनाओं और यज्ञों द्वारा होती थी। प्रार्थना मंत्रों द्वारा होती थी।

यूनानी देवताओं की तरह वैदिक-देवताओं में मानवीकरण की पूर्णता नहीं मिलती। उनका एक दूसरे से भेद स्पष्ट नहीं है क्योंकि एक ही प्रकार के गुणों और शक्तियों का आरोप बहुत से देवताओं में मिलता है। प्राचीन-परंपरा के अनुसार उनकी संख्या ३३ है और उनके तीन विभाग हैं—आकाश के देवता- जैसे वरुण, द्यौस्, सूर्य, विष्णु इत्यादि; वायुमण्डल के देवता जैसे इन्द्र, वायु इत्यादि; पृथिवी के देवता जैसे अग्नि, सोम, सरस्वती (नदी) इत्यादि। कुछ आधुनिक विद्वानों ने उनके स्वरूप, उनकी महत्ता और उनके मानवीकरण की मात्रा के आधार पर भी उनका वर्गीकरण

---

१. Marshall, J., Mohenjo-daro and the Indus culture, pp. 77, 78, 85.
२. Piggott, S., Prehistoric India, pp. 201–203.
Wheeler, R. E. M., The Indus Civilisation, pp. 67, 83-84.
३. Pande, G. C., Studies in the Origins of Buddhism, pp. 258-261.

किया है। यह विचारणीय है कि ऋग्वेद में देवियों की कल्पना कम है और अदिति को छोड़ कर अन्य देवियों का महत्त्व नगण्य है।

इन्द्र—ऋग्वेद के काल में आर्यों का प्रधान देवता इन्द्र था। ऋग्वेद के १०२८ मंत्रों में २५० केवल इन्द्र की स्तुति में हैं और ५० अन्य मंत्रों में भी इन्द्र का नाम आता है। उसकी कल्पना में हमें मानवीकरण की पूर्णता मिलती है। इन्द्र पहले बल और युद्ध का देवता था। इसी कारण वह अनवरत युद्ध और प्रसार में रत आर्यों का लोकप्रिय देवता बना। कालान्तर में इन्द्र वर्षा का भी देवता होगया। इन्द्र की कल्पना एक मानवीय-गुण-सम्पन्न विजेता के रूप में हुई थी जिसकी सोमपान और भोजन में विशेष रुचि थी। वज्र उसका अस्त्र था। एक पुराकथा के अनुसार वृत्र नामक असुर का उसने विनाश किया था जिससे उसका नाम वृत्रहन् पड़ा। विश्व-ब्रह्माण्ड को व्यवस्थित करने का भी श्रेय उसे दिया गया था। प्रारंभिक काल में अधिकांश यज्ञ उसकी परितुष्टि के लिये होते थे। अपने उपासकों के प्रति वह अत्यधिक दयालु और उदार था इसलिये उसका नाम 'मघवन्' पड़ा ; वह उन्हें युद्ध में विजयी बनाता था तथा उनकी अन्य मनोकामनायें भी पूर्ण करता था। बाद में, जैसा कि हम आगे देखेंगे, कुछ परिस्थितियों के कारण इन्द्र की महत्ता कम होने लगी।

वरुण—पूर्व वैदिक काल का दूसरा प्रमुख देवता वरुण था। कुछ विद्वानों के अनुसार यह चंद्रलोक का देबता था तथा कुछ इसे आकाश का देवता मानते हैं। कुछ के अनुसार इसका सम्बन्ध प्राचीन ईरान के अहुरमज़्द नामक देवता से था। पर आधुनिक मत के अनुसार वरुण पूर्णतः भारतीय देवता था और यह रात्रि के सूर्य का अधिष्ठातृदेव था। इसका सम्बन्ध मित्र (सूर्य का उदार रूप) नामक देवता से विशेष था। रात्रि के सूर्य का अधिष्ठातृदेव होने के कारण ही वरुण को नैतिकता और सदाचार का देवता माना गया है जो सर्वज्ञ और मनुष्यों के सत्य और असत्य, पाप और पुण्य सभी व्यवहारों और कर्मों को देखने वाला कहा गया है। वरुण को अत्यधिक दयालु और क्षमाशील भी माना गया है। इसकी कल्पना में हम उत्तरकालीन भारतीय ईश्वरवाद के तत्त्व पाते हैं। वरुण 'ऋत' अर्थात् विश्वव्यापी नैतिक और भौतिक-व्यवस्था का सच्चा रक्षक (गोप्ता ऋतस्य) माना गया है। पर वास्तव में इन्द्र आदि अन्य देवता भी कुछ अंशों में 'ऋत' के रक्षक के रूप में हमारे सामने आते हैं।

पौराणिक काल में वरुण केवल समुद्रों का अधिपति रह गया।

अन्य प्रमुख देवता—प्रारम्भिक वैदिक धर्म के अन्य प्रमुख देवता सूर्य, अग्नि और बृहस्पति थे। अग्नि की कल्पना देवताओं में पुरोहित के रूप में की गई है जिसका सम्बन्ध यज्ञ से अधिक था। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में अग्नि की ही स्तुति है—अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारं रत्नधातमं। अग्नि-देवता

पुण्य कर्म वालों को स्वर्ग तक पहुँचाता था। बृहस्पति मंत्र और स्तुति की शक्ति का प्रतीक था।

देवता तत्त्व का महत्त्व और देवताओं की विशेषताएँ—देव शब्द 'दिव्' धातु से निकला है जिसका सम्बन्ध तेज और प्रकाश से है। इस प्रकार देव या देवता तेजमय और प्रकाशमय तत्त्व के प्रतीक हैं। अपार शक्ति, उदारता, सर्वज्ञता, दयालुता, निश्छलता और अमरता उनके अन्य दैवी गुण माने गये हैं। पाप, असत्य और अपराध के लिये ये दण्ड देते थे। सदाचार, पुण्य कर्मों और यज्ञों से परितुष्ट होकर ये उदारता पूर्वक वरदान देते थे। देवता तत्त्व 'ऋत' अर्थात् विश्वव्यापी भौतिक और नैतिक व्यवस्था से विशेष रूप से सम्बन्धित था। सभी देवता अपनी दैवी शक्तियों द्वारा ऋत की रक्षा करते थे। यह विश्वास था कि देवता प्रकृति के नियमों—अहोरात्रि, ऋतुओं के क्रम आदि—तथा नैतिक नियमों की स्थिति एवं कार्यशीलता को व्यवस्थित और नियमित करते हैं।

वैदिक देवता सम्बन्धी पुराकथा का विकास—वैदिक देवता सम्बन्धी पुराकथा और विचारधारा का विकास कालान्तर में तीन प्रमुख रूपों में दृष्टिगोचर होता है :—

(१) इस विकास का एक रूप वैदिक और अवैदिक संस्कृति के संगम के कारण कुछ अन्य देवताओं की महत्ता-वृद्धि थी। ऋग्वेद के केवल तीन सूक्तों में रुद्र का चित्रण मिलता है और वह भी भयानक रूप में। पर ब्राह्मणों के काल में उसे महान् देवता माना जाने लगा। उसका विरुद शिव अर्थात् कल्याणमय हो गया। सम्भवतः यह विकास अवैदिक धारा के एवं वनस्पति-समूह (Vegetation) के लोकप्रिय देवता के प्रभाव के कारण हुआ। इस सम्बन्ध में सिन्धु की घाटी की मुहरों पर प्राप्त योगिराज शिव का चित्रण भी विचारणीय है।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के उत्तरकालीन स्तर के सूक्तों में देवी अदिति की स्तुति मिलती है। अदिति का शाब्दिक अर्थ सीमारहित होता है। अदिति की महत्ता को बताते हुये यह कहा गया है कि समस्त देवता उसी से उत्पन्न हुये हैं। यह विचारणीय है कि ऋग्वेद के प्रारम्भिक सूक्तों में देवियों का महत्त्व नगण्य है। कुछ विद्वानों के अनुसार अदिति का यकायक इस रूप में चित्रण अवैदिक धार्मिक धारा की मातृदेवी का प्रभाव था।[१]

(२) वैदिक देवता सम्बन्धी पुराकथा के विकास का दूसरा रूप प्रधानतः आन्तरिक विकास का द्योतक है। विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न देवता महान् माने जाते हैं। प्रारम्भिक काल में युद्धों और प्रसार की परिस्थिति में इन्द्र की महत्ता अधिक थी। फिर नैतिकता के उदय के कारण इन्द्र का महत्त्व घट गया और विष्णु का

१. यह मत प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का है।

प्राधान्य बढ़ा। विश्वकर्मन् (विश्व-ब्रह्माण्ड का स्रष्टा), हिरण्यगर्भ (स्वर्णिम आवरणमय गर्भ जिससे विश्व-ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति मानी जाती है) तथा प्रजापति की महत्ता ब्राह्मणों के काल में बढ़ जाती है। यज्ञ का प्रतीक एवं प्रधानदेवता होने के कारण प्रजापति का महत्त्व ब्राह्मण-काल अर्थात् मध्य वैदिक काल में सर्वोपरि हो जाता है और अन्य दोनों देवता तादात्म्य द्वारा उसीके रूप मान लिये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त श्रद्धा, काल, प्राण इत्यादि अमूर्त देवताओं की भी कल्पना की जाती है।

(३) देवता संबंधी पुराकथा के विकास का तीसरा रूप बहुदेववाद से ऊपर उठना था। विभिन्न देवताओं में प्रायः एक ही प्रकार के गुणों और शक्तियों का आरोप किया गया था। अतः ऋग्वेद के काल से ही यह आभास होने लगा कि सभी देवता एक ही परमेश्वर के विभिन्न रूप हैं—एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। इस प्रकार बहुदेववाद (Polytheism) से एकदेववाद (Monotheism) या एकेश्वरवाद की प्रवृत्ति का विकास हुआ। परन्तु किसी एक देवता को स्थायी रूप से सर्वोपरि नहीं माना गया। इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि प्रारंभ में इन्द्र का प्राधान्य रहा और फिर विष्णु का। कभी सब देवताओं को एक में समेट कर विश्वेदेवाः की कल्पना की गई और उसे सर्वोपरि माना गया। ब्राह्मणों के काल में सभी देवताओं के अधिपति और विश्व के स्रष्टा प्रजापति नामक देवता को सर्वोपरि स्थान मिला।

इसी बीच व्यक्तित्वमय सर्वोपरि देवता की कल्पनासे ऊपर उठकर विश्व के मूलतत्त्व की अनुभूति की गई। इस मूलतत्त्व में व्यक्तित्व का आरोप नहीं था। इस मूलतत्त्व की धारणा दो रूपों में मिलती है—सर्वेश्वरवाद (Pantheism) तथा एकत्ववाद (Monism)। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में सर्वेश्वरवाद की भावना मिलती है जिसका तात्पर्य यह है कि एक ही मूलतत्त्व (तदेकम्) सृष्टि के आदि में था; उसी से सृष्टि की उत्पत्ति हुई और वही पूर्णरूप से सृष्टि में व्याप्त और परिसमाप्त है। सृष्टि के परे उसका कोई अस्तित्व और रूप नहीं है। एकत्ववाद की धारणा का अंकुर हमें ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में मिलता है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सृष्टि का वह कारणभूत मूलतत्त्व विराट पुरुष है जो विश्व में व्याप्त होते हुये भी उसमें परिसमाप्त नहीं है अर्थात् वह कुछ अंशो में विश्व के परे भी है।[२] सर्वेश्वरवाद तथा एकत्तवाद

---

१. मैक्समूलर के अनुसार पूर्ववैदिक काल में जिस समय जिस देवता की स्तुति करते थे, उसी को सर्वोपरि मान लेते थे। इस प्रवृत्ति को उसने Henotheism या Kathenotheism कहा है। परन्तु यह स्तुति का एक ढंग था। वैदिक विचारधारा की यह कोई विशेष प्रवृत्ति नहीं थी।

२. कुछ विद्वानों के अनुसार सर्वेश्वरवाद की भावना पुरुषसूक्त में और एकत्ववाद की नासदीय सूक्त में है।

का चरम विकास उत्तर वैदिक काल में उपनिषदों की ब्रह्मन् की धारणा में हुआ। इसके सम्बन्ध में हम आगे विचार करेंगे।

यज्ञ—वैदिक-धर्म प्रारम्भ में प्रवृत्ति-प्रधान था। देवताओं की परितुष्टि और प्रसन्नता के लिये यज्ञ किये जाते थे और उनसे सम्पत्ति, सुरक्षा, विजय, दीर्घायु, हृष्ट-पुष्ट संतति, शत्रु-विनाश इत्यादि का वरदान माँगा जाता था। देवता प्रसन्न होने पर मनोकामनाओं की पूर्ति करते थे। यज्ञों के फलस्वरूप स्वर्ग-प्राप्ति भी होती थी। पूर्व-वैदिक कालीन भारतीय सांसारिक सुखों और मान्यताओं को अधिक महत्त्व देता था। तपस्या, पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धान्त सम्बन्धी धारणाओं का स्पष्ट रूप से उदय इस काल में वैदिक धर्म में नहीं हुआ था।

प्रारम्भ में यज्ञों का रूप बहुत साधारण था। कुटुम्ब का अध्यक्ष स्वयं या किसी पुरोहित की सहायता से यज्ञ करता था। घी, दूध, सोमरस, चावल, भेड़ या बकरी के मांस की आहुति अग्नि में दी जाती थी। यह विश्वास था कि अग्नि इन्हें देवता तक पहुँचाता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यज्ञ के तीन अंग मिलते हैं—द्रव्य, देवता और त्याग। त्याग की भावना से द्रव्य (हविष्) की आहुति देवता के लिये दी जाती थी।

कालान्तर में यज्ञों का विधान जटिल होने लगा। मध्य वैदिक काल अर्थात् ब्राह्मणों के काल में यज्ञों का कर्मकाण्ड अपने चरम उत्कर्ष पर था। ब्राह्मणों में यज्ञ-पद्धति का साङ्गोपाङ्ग निरूपण मिलता है। कुछ सोमयज्ञों में १६ पुरोहित रहते थे और ये यज्ञ महीनों तक चलते थे। पुरोहितों को सहस्रों गायें और प्रभूत धन दान में दिये जाते थे। यज्ञ का महत्त्व इतना अधिक बढ़ गया कि उसका तादात्म्य विश्व के अधिपति और स्रष्टा प्रजापति से किया गया। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि यज्ञ से ही विश्व की सृष्टि होती है और यज्ञ के ही कारण देवताओं को तेज और शक्ति मिलती है। इस प्रकार यज्ञ की महत्ता के सामने देवताओं का गौरव भी घट गया। तैत्तिरीय संहिता में यज्ञ को संसार की भौतिक और नैतिक व्यवस्था की धुरी माना गया है। यज्ञ-पद्धति में रहस्यात्मक और प्रतीकात्मक तत्त्वों का प्रचुर विकास हुआ।

यज्ञों के प्रकार—यज्ञों को गृह्य और श्रौत दो वर्गों में विभक्त किया गया है। गृह्य कर्म से सम्बन्धित साधारण यज्ञ, जन्म, विवाह, श्राद्ध आदि संस्कारों के अवसर पर किये जाते थे। श्रौत शब्द का अर्थ है श्रुति (वेद) के अनुकूल। श्रौत-यज्ञ बड़े पैमाने पर किये जाने वाले यज्ञों को कहते थे। श्रौत-यज्ञों के भी दो विभाग थे—हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ। हविर्यज्ञों के अन्तर्गत अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य इत्यादि यज्ञ हैं। दर्शपूर्णमास का अनुष्ठान अमावस्या और पूर्णमासी के दिन होता था। चातुर्मास्य यज्ञ तीनों ऋतुओं के प्रारम्भ में होता था। इन यज्ञों में अग्नि में पड़ने वाली आहुति का महत्त्व विशेष था। सोमयज्ञों का विधान और भी जटिल था।

ये सोम से सम्बन्धित माने जाते थे। सोमयज्ञों के अन्तर्गत अश्वमेध, राजसूय, वाजपेय इत्यादि यज्ञ हैं। अश्वमेध का अनुष्ठान सम्राटों द्वारा विजय और राज्य के कल्याण के लिये होता था। इसमें पुरोहितों को प्रचुर सम्पत्ति दान की जाती थी। अश्वमेध में अश्व का बलिदान भी होता था। वाजपेय यज्ञ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों उच्च वर्णों के लोग कर सकते थे। इसमें रथों की दौड़ और अन्य सार्वजनिक उत्सव भी होते थे। राजसूय यज्ञ क्षत्रिय नरेशों के अभिषेक के अवसर पर किया जाता था।

पशुयज्ञ स्वतन्त्र रूप से भी किये जाते थे, यद्यपि ये सोमयज्ञ के अभिन्न अंग माने जाते थे। इनमें पशुओं का बलिदान होता था। पुरुषमेध का भी उल्लेख ब्राह्मणों और श्रौतसूत्रों में आता है। पर कुछ विद्वान कहते हैं कि पुरुष का बलिदान केवल प्रतीकात्मक था। अग्निचयन (सोमयज्ञ के लिए एक विशेष प्रकार की वेदी का निर्माण) के सम्बन्ध में भी पुरुष के सिर को वेदी के निचले भाग में गाड़ने का उल्लेख मिलता है।

यज्ञ का सांस्कृतिक महत्त्व—यज्ञों के विधान इतने जटिल, दुरूह और रूढ़िवादी हो गये कि वैदिक धारा के अन्तर्गत ही लोग इनका विरोध करने लगे। पर भारतीय संस्कृति के विकास में यज्ञोंका कुछ ठोस दान है। यज्ञों की वेदी-निर्माण की पद्धति से ही रेखागणित का विकास कालान्तर में हुआ। दूसरे, पौराणिक युग में यज्ञों को संक्षिप्त कर पूजा का रूप दिया गया जो आज तक प्रचलित है। यज्ञों की रहस्यात्मकता ने बादमें तन्त्रशास्त्र में एक नवीन रूप धारण किया।[१] इनका प्रभाव बाद के कर्मयोग दर्शन में भी मिलता है क्योंकि इसमें जीवन-क्षेत्र को एक प्रकार की यज्ञभूमि मानते हैं।

उपनिषदों का अध्यात्मवाद—वैदिक-साहित्य के अन्तिम भाग को उपनिषद् कहते हैं। उपनिषद् का शाब्दिक अर्थ है गूढ़ विद्या या रहस्य; यह विद्या शिष्यों को एकान्त में दी जाती थी। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान मैक्समूलर के अनुसार उपनिषदों में हम मानव चिन्तन का चरम तत्त्व पाते हैं। भारतीय जीवन, धर्म और दर्शन पर उपनिषदों की गहरी छाप प्रायः तीन सहस्र वर्षों से चली आ रही है। वैसे तो उपनिषदों की संख्या १०० से ऊपर है पर ईश, केन, कठ, मुण्डक, प्रश्न, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक, दस प्रधान उपनिषद् ग्रन्थ हैं। अधिकांश की रचना ८ वीं और ७ वीं शताब्दी ई० पू० मानी जाती है।

उपनिषदों में यज्ञों के कर्म-मार्ग अर्थात् यज्ञ आदि पुण्य कर्मों द्वारा स्वर्ग तथा मुक्ति की प्राप्ति के मार्ग का विरोध किया गया है और ज्ञान-मार्ग अर्थात् वैराग्य, संसार-त्याग तथा ज्ञान द्वारा मुक्ति-प्राप्ति के आदर्श का प्रतिपादन किया गया है। ज्ञान-मार्ग के विकास में अवैदिक धारा का ही प्रभाव अधिक था क्योंकि प्रारम्भिक वैदिक-धर्म मूलतः कर्मकाण्ड प्रधान था।

१. Dr. G. C. Pande, Studies in the Origins of Buddhism p. 280.

उपनिषदों की प्रमुख शिक्षा ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का सिद्धान्त है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक अनुसन्धानों के फलस्वरूप उत्तर वैदिक काल तक ब्रह्म की भावना का विकास होता है। ब्रह्म का अर्थ है सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त नित्य तत्त्व जो विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय का आधारभूत कारण है। इसी प्रकार आत्मज्ञान के क्षेत्र में अनुसन्धान करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकला कि आत्मा शरीर या प्राण नहीं है अपितु यह व्यक्ति के 'स्व' का मूलभूत तत्त्व है। फिर ब्रह्म और आत्मा में एकत्व स्थापित कर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया कि सम्पूर्ण विश्व का जो मूलतत्त्व है वही व्यक्ति का भी मूल तत्त्व है। इस प्रकार तत्त्वतः वे एक ही हैं। उपनिषदों में इसीलिये ब्रह्म और आत्मा दोनों शब्दों का जगत के आध्यात्मिक परमतत्त्व (सत्य) के अर्थ में व्यवहार किया गया है। उपनिषदों के 'तत्त्वमसि' (ब्रह्म तुम ही हो) और 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) सुविख्यात महावाक्य हैं। इनमें ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का ही प्रतिपादन किया गया है।

ब्रह्म अथवा आत्मा को ही परम सत्य कहा गया है जिसके जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है। इस परम सत्य का स्वरूप सच्चिदानन्द (सत् + चित् + आनन्द) शब्द से स्पष्ट हो जाता है। 'सत्' का अर्थ है कि ब्रह्म अथवा आत्मा की सत्ता है; 'चित्' का अर्थ चेतन है, इससे उसके आध्यात्मिक स्वरूप का बोध होता है; 'आनन्द' शब्द से सूचित होता है कि वह आनन्दमय है। यही विश्वव्यापी परम तत्त्व सम्पूर्ण भौतिक जगत एवं समस्त प्राणियों के आत्म-तत्त्व का कारण है। इसी के एकत्वमय, नित्य, आध्यात्मिक तथा आनन्दमय स्वरूप की सच्ची अनुभूति हो जाने पर मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार अथवा ब्रह्म-प्राप्ति हो जाती है। फिर वह संसार के बन्धन अथवा अविद्या-मूलक कर्मों से उत्पन्न जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त हो जाता है। उसे मोक्ष मिल जाता है और यही उपनिषदों में जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। पर मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर होने के लिये प्रारम्भ में नैतिक साधना आवश्यक मानी गई है। वैराग्य, सदाचार, श्रवण (गुरु की सहायता से परमार्थ तत्त्व को समझना), मनन (उस ज्ञान का मनन करना) और निदिध्यासन (उस ज्ञान को विश्वासपूर्वक हृदय में दृढ़ करने के लिये ध्यान करना), यही उस नैतिक साधना के विभिन्न अंग हैं।

उपनिषदों में जो कर्म, आवागमन और संसार की भावनायें मिलती हैं उन पर अवैदिक श्रमण-धारा का स्पष्ट प्रभाव है[१]। प्रारम्भिक वैदिक काल में ये भावनायें नहीं विकसित हुई थीं। वैदिक और अवैदिक धाराओं के सम्मिश्रण से ही इनका विकास हुआ। श्रमण-दर्शन की भाँति उपनिषदों के दर्शन में भी कर्म के नियम को आवागमन और संसार का कारण माना गया है। यहाँ भी मोक्ष का अर्थ कर्म के

---

१. Dr. G. C. Pande, Studies in the Origins of Buddhism. See the chapter, 'Review of the Vedic Background.'

बन्धन से छुटकारा पाना है। उपनिषदों में तपस्या, साधना, त्याग और वैराग्य को विशेष महत्त्व दिया गया है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह भी अवैदिक धारा का प्रभाव था। इस प्रकार वैदिक-धर्म में निवृत्ति की भावना का भी समावेश हुआ। आगे चलकर हम देखेंगे कि बौद्ध-धर्म में इन्हीं भावनाओं का विकसित रूप मिलता है।

अन्त में यह उल्लेखनीय है कि उपनिषदों में ब्रह्म तथा जीव और जगत के सम्बन्ध के ऊपर विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार के विचार मिलते हैं। इन्हीं के आधार पर बाद में अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि वेदान्त के अनेक सम्प्रदाय बन गये। भारतीय संस्कृति को उपनिषदों की देन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इनका प्रभाव भारत के प्रायः सभी दर्शनों पर पड़ा। उपनिषद् ही वेदान्त-दर्शन के मूल हैं। उपनिषदों का ही सार गीता में मिलता है जो आज भी हिन्दुओं का एक लोकप्रिय धार्मिक ग्रन्थ है। तिलक और गाँधी आदि राष्ट्र के निर्माताओं ने भी गीता से प्रचुर प्रेरणा प्राप्त की। उपनिषदों की छाप भारतीय संस्कृति पर इतनी अधिक है कि आज भी ये भारतीय जीवन के बहुत निकट लगते हैं।

पौराणिक धर्म

वैदिक-धर्म—यज्ञों का कर्मकाण्ड और उपनिषदों का ज्ञानमार्ग—प्रधानतः विद्वानों और अधिक विचारशील व्यक्तियों तक ही सीमित होता गया। इसके साथ ही एक सार्वजनिक धार्मिक धारा का विकास हुआ जिसमें वैदिक, अवैदिक तथा जन-साधारण के धार्मिक विश्वासों का समन्वय था। यह पौराणिक धारा थी। इसका आकर्षण सर्वसाधारण के लिये था। पुराणों की परम्परागत संख्या १८ है। इनमें से मार्कण्डेय, ब्रह्माण्ड, वायु, विष्णु, मत्स्य और भागवत प्रमुख माने जाते हैं। पुराणों के अंकुर प्राचीन काल में भी विद्यमान थे पर कुछ विद्वानों[1] के अनुसार उनके विकास के दो प्रधान स्तर हैं। तीसरी से लेकर पाँचवी शताब्दी ईसवी तक पुराणों में उन्हीं धार्मिक विधानों और परम्पराओं का वर्णन था जो मनु और याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों में मिलते हैं। तत्पश्चात् छठीं शताब्दी से उनमें दान, व्रत, पूजा, तीर्थ आदि नये विषयों का समावेश हो गया।

पौराणिक धर्म के सामान्य लक्षण—यह पहले ही कहा जा चुका है कि पौराणिक धर्म समन्वय-प्रधान था। इसमें वैदिक-धर्म के शिव और विष्णु आदि देवताओं को ग्रहण किया गया। अवैदिक धारा के प्रभाव से अनेक प्रकार की देवियों—दुर्गा, काली, चामुण्डा आदि की पूजा का भी विधान किया गया। कुछ नवीन देवताओं की भी कल्पना की गई। प्राचीन देवताओं को नवीन रूप दिया गया। विष्णु

१. Dr. Hazra, Studies in the Puranic Records on Hindu Rites and Customs, Chapters II–IV.

के वाराह, मत्स्य, कृष्ण आदि अवतारों की पूजा का वर्णन विशेष रूप से मिलता है। वैसे तो पौराणिक धर्म में एकेश्वरवाद ही प्रधान है पर साथ ही साथ अन्य देवताओं मे विश्वास भी मिलता है। इस प्रकार पौराणिक धर्म में उदारता की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। त्रिदेव की भावना का विकास भी पुराणों में मिलता है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव को क्रमशः विश्व का स्रष्टा, रक्षक तथा नाशक मान कर तीनों की समन्वयात्मक एकता का प्रतिपादन किया गया।[१]

पुराणों का एक और महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि उन्होंने वैदिक यज्ञों को संक्षिप्त कर पूजा का रूप दिया जिसका अनुष्ठान सभी कर सकते थे। देवता को पुरुष या स्त्री रूप में मानकर पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य द्वारा पूजा का विधान किया गया। मन्त्र-जप और ध्यान के विधान द्वारा धर्म को लोकप्रिय, सरल और व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया। पुराणों में दीक्षा के महत्त्व का भी प्रतिपादन किया गया है।

भक्ति का विकास भी पौराणिक परम्परा में हुआ। भक्ति की धारा का उद्गम और पहले माना जा सकता है। पर भक्ति का सांगोपांग विवेचन और भक्ति-मार्ग के आदर्श की पूर्ण प्रतिष्ठा विष्णु, भागवत आदि पुराणों में ही मिलती है।

पुराणों में बाह्याचारों का विस्तृत विधान है। धार्मिक उत्सव, दान, व्रत, तीर्थ-यात्रा, मूर्ति-पूजा, मन्दिर, नक्षत्र-पूजा आदि धर्म के प्रधान-अंग माने गये हैं। शरीर पर भस्म लगाने तथा तिलक धारण करने की प्रथा का प्रचलन भी पुराणों के कारण हुआ। इन सबके द्वारा भी धर्म को व्यावहारिक और लोकप्रिय रूप मिला। हिन्दू-धर्म का यही पौराणिक रूप अधिकांश हिन्दू जनता में आज तक विद्यमान है। और आज दिन भी पुराण-श्रवण की प्रथा प्रचलित है।

पौराणिक धर्म स्त्रियों, शूद्रों एवं विदेशियों, सबके लिये था। पुराणों की भाषा भी बड़ी सरल है। इस कारण इसका अध्ययन सभी कर सकते थे। पौराणिक धर्म का दृष्टिकोण उदार था।

यह समन्वयवादी प्रकृति के बावजूद भी पौराणिक धर्म में वैष्णव, शैव, आदि अनेक सम्प्रदाय थे। धर्म के सामान्य लक्षणों के एक होते हुए भी इन सम्प्रदायों के आचारों तथा सिद्धान्तों में भिन्नता थी। अब हम पौराणिक धर्म के प्रमुख सम्प्रदायों के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

वैष्णव-धर्म

भक्ति-प्रधान वैष्णव-धर्म का प्रारम्भ पुराणों के पहले हो चुका था। पौराणिक परम्परा में इस धर्म का विकास हुआ। परम्परा के अनुसार इस धर्म के प्रवर्त्तक श्रीकृष्ण थे। यह पहले मथुरा के आस-पास के क्षेत्र में प्रचलित था। इस धर्म में वासुदेव

१. A. D., Pusalkar, Studies in the Epics and the Puranas, p. ix.

कृष्ण की उपासना प्रचलित थी और इसका नाम भागवतधर्म था। कालान्तर में वासुदेव कृष्ण का तादात्म्य (एकत्व) वैदिक देवता विष्णु के साथ स्थापित किया गया और भागवत-धर्म वैष्णव-धर्म कहलाने लगा। फिर वासुदेव–कृष्ण–विष्णु का एकत्व नारायण के साथ हुआ। नारायण के उपासक पाञ्चरात्रिक कहलाते थे। इस एकत्व के कारण वैष्णव-धर्म को पाञ्चरात्र-धर्म भी कहने लगे।

वैष्णव-धर्म को विदेशियों ने भी ग्रहण किया। ग्वालियर के समीप बेसनगर नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि तक्षशिला निवासी हेलिओडोरस (Heliodorus) वैष्णव-धर्म का मानने वाला था। तीसरी शताब्दी तक वैष्णव-धर्म समस्त भारत में फैल गया। गुप्तकाल से विष्णु के अवतारों की पूजा का प्रचार बढ़ने लगा। इससे वैष्णव-धर्म अधिक लोकप्रिय बन गया। ५ वीं और ६ ठीं शताब्दी तक वैष्णव-धर्म जावा, अनाम, कम्बोडिया आदि पूर्वीद्वीप-समूहों में भी फैल गया।

छठीं से नवीं शताब्दी के काल में दक्षिण में आलवार सन्तों ने भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात किया। यहीं से मध्ययुगीन भक्ति की धारा का प्रवाह प्रारम्भ होता है। भक्ति की परम्परा प्राचीन काल में भी थी। पर उसे सार्वजनिक आन्दोलन का रूप इसी युग में मिला। भागवत पुराण जिसमें कृष्ण-भक्ति का प्रतिपादन है इसी युग से सम्बन्धित है। भक्ति की धारा पर इसका विशेष प्रभाव था। रामानुज (१०१७–११३७ ई०) ने विष्णु-भक्ति का प्रचार किया। भक्ति की दो प्रधान धारायें बन गईं। जयदेव (१२ वीं शताब्दी), निम्बार्क (१२ वीं शताब्दी), चैतन्य (१५ वीं शताब्दी), और वल्लभ (१५ वीं शताब्दी) कृष्ण-भक्ति की धारा में थे। रामानन्द (१४ वीं शताब्दी) ने रामभक्ति का आन्दोलन चलाया। इस परम्परा में १६ वीं शताब्दी के हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार तुलसीदास का स्थान सर्वोच्च है। ये धारायें आज तक विद्यमान हैं। राजपूत काल तथा पूर्व मध्यकाल में वैष्णव-धर्म के दार्शनिक पक्ष का भी विकास हुआ। अनेक वैष्णव-मन्दिरों तथा मूर्तियों का निर्माण भी इस युग तक हो चुका था।

वैष्णव-धर्म के आचार तथा उसका बहिरंग—वैष्णव-धर्म के बाह्याचारों में मूर्ति-पूजा और मंदिरों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मूर्ति को श्रीविग्रह या अर्चा कहते हैं। मूर्ति को ईश्वर का प्रत्यक्ष रूप (प्रत्यक्ष देवता) तथा ईश्वर का प्रतीक मानते हैं। भक्ति-भावना के साथ मन्दिर में जाकर इष्ट-देवता की पूजा का विधान किया गया है। 'ओम् नमो नारायणाय' आदि मन्त्रों का जप भी धार्मिक आचार का विशेष अङ्ग है। तिलक धारण करने की प्रथा का भी इस धर्म में विशेष महत्त्व माना गया है।

धार्मिक उत्सवों में दशहरा और कृष्ण-जन्माष्टमी का महत्त्व आज तक विद्यमान

है। कीर्तन का भी प्रचार आज तक है। तीर्थयात्रा भी वैष्णव-धर्म में बहुत महत्त्वपूर्ण मानी गई है। अयोध्या, रामेश्वरम् आदि तीर्थों में आज भी सहस्रों की संख्या में लोग इकट्ठे होते हैं।

वैष्णव-धर्म के प्रमुखसिद्धान्त—वैष्णव-धर्म के प्रारम्भिक सिद्धान्त गीता में मिलते हैं। इसमें ज्ञान, कर्म तथा भक्ति का समन्वय है। पर वासुदेव की भक्ति को ही श्रेष्ठ माना गया है। तत्पश्चात् वैष्णव धर्म में व्यूहवाद के सिद्धान्त का विकास हुआ। वासुदेव अर्थात् कृष्ण को परमात्मा मानते थे। उनके कुछ सम्बन्धियों संकर्षण, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न की भी पूजा प्रचलित थी। इन्हें क्रमशः जीव, अहंकार और मन या बुद्धि के रूप में माना गया जो वासुदेव से ही उद्भूत होने के कारण व्यूह कहलाये।

कालान्तर में अवतारवाद का सिद्धान्त अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बन गया। इस सिद्धान्त के पीछे यह भावना विद्यमान थी कि विष्णु समय-समय पर लोक-संकट को दूर करने तथा लोक-कल्याण की वृद्धि के लिये संसार में अवतार धारण करते हैं[1]। अवतारों की पूजा और भक्ति की लोकप्रियता बढ़ने लगी।

रामानुज, मध्व, वल्लभ और चैतन्य ने वैष्णव-धर्म के भक्ति-पक्ष को दार्शनिक आधार प्रदान किया। सभी के अनुसार मुक्ति केवल भक्ति-मार्ग से ही मिल सकती है। कर्म और ज्ञान को विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न अंशों में केवल सहायक के रूप में माना। रामानुज के अनुसार जब मनुष्य भक्ति-भावना से ईश्वर को आत्मसमर्पण करता है तभी उसकी अनुकम्पा से मुक्ति मिल सकती है। परमात्मा को रामानुज ने अन्तर्यामी के रूप में माना है। मध्व के भी भक्ति संबन्धी विचार कुछ इसी प्रकार हैं। वल्लभ तथा चैतन्य ने रागात्मक पक्ष के ऊपर अधिक बल दिया।

शैव-धर्म

कुछ विद्वानों के अनुसार भक्ति-प्रधान शैव-धर्म की उत्पत्ति भी वैदिक और अवैदिक धाराओं के संगम के कारण हुई। मार्शल के अनुसार सिन्धु की घाटी की संस्कृति में भी शिव प्रधान देवता थे। इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है। ऋग्वेद में रुद्र का तथा उत्तर वैदिक कालीन साहित्य में शिव का वर्णन मिलता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव का माहात्म्य है। पतंजलि के महाभाष्य (द्वितीय शताब्दी ई० पू०) से शैवों के एक सम्प्रदाय के सम्बन्ध में ज्ञात होता है।

शैवों के सबसे प्राचीन सम्प्रदाय का नाम पाशुपत था। इससे बाद में अनेक अन्य सम्प्रदाय निकले। भण्डारकर महोदय के अनुसार पाशुपत सम्प्रदाय की उत्पत्ति

---

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ (गीता)

द्वितीय शताब्दी ई० पू० में हुई। शैव-धर्म को शक, कुषाणों और हूणों ने भी ग्रहण किया। शैव-धर्म समस्त भारत में फैल गया। उत्तरी भारत में राजपूत काल में शैव-धर्म की प्रभाव अधिक था। दक्षिण में नायन्मार संतों के प्रभाव से और पल्लव तथा चोल सम्राटों के प्रोत्साहन द्वारा शैव-धर्म की विशेष प्रगति हुई। दक्षिण में १२ वीं शताब्दी में वीर शैव या लिंगायत धर्म का उत्थान हुआ। इसमें शिवलिंग की पूजा का विधान है। अनेक शैवमन्दिर छठीं से बारहवीं शताब्दी तक के काल में बने। ८ वीं से १२ वीं शताब्दी के बीच कश्मीर में दार्शनिक-शैव-धर्म का उदय हुआ जिसमें शाक्ततांत्रिक धर्म के तत्त्व अधिक थे।

शैवों की एक शाखा का नाम कापालिक था। ये श्मशान-भूमि में साधना करते थे।

मध्यकाल में शैव और वैष्णव धर्मों के समन्वय के भी प्रयत्न किये गये। दक्षिण में हरिहर (हरि = विष्णु; हर = शिव) की मूर्तियाँ बनने लगीं। पर धार्मिक वैमनस्य के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं।

शैव-धर्म चम्पा, कम्बुज आदि पूर्वीद्वीपसमूहों में भी फैला। आज तक भी भारत का यह एक प्रधान धर्म है।

शैवों के सिद्धान्त और आचार—शैवों के सिद्धान्त और आचार के सम्बन्ध में वायु, लिङ्ग, कूर्म आदि पुराणों तथा शैव आगमों से ज्ञात होता है। शैव-आगम सातवीं शताब्दी के पहले ही अस्तित्व में आ चुके थे।

पाशुपत सम्प्रदाय के सिद्धान्त और आचार के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन मिलता हैं। पाशुपतों के अनुसार महेश्वर (शिव) ने जीवों की मुक्ति के लिये पाँच बातों का निर्देश किया है—

(१) कार्य जो परतन्त्र है।

(२) कारण जो स्वतंत्र है।

(३) योग के द्वारा जीव का चित्त के माध्यम से ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित होता है। मंत्र-जप, ध्यान तथा कर्मों से विरक्ति इसके प्रमुख अङ्ग हैं।

(४) विधि के द्वारा धर्म या ईश्वर का सामीप्य प्राप्त होता है। इसमें चर्या या आचार का विधान है। शरीर पर भस्म लगाना, मंत्र-जप, प्रदक्षिणा आदि इसके अंग हैं।

(५) दुःखान्त दुःख से मुक्ति को कहते हैं। इसके दो रूप हैं—अनात्मक तथा सात्मक। अनात्मक का अर्थ है दुःख से पूर्ण मुक्ति। सात्मक का अर्थ अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति है जैसे कोई भी शरीर धारण करने की शक्ति।

पाशुपतों में कालान्तर में वामाचार, जैसे अभक्ष्य भोजन आदि, का प्रचार हो गया।

दक्षिण के लिंगायत सम्प्रदाय में मठों और मन्दिरों का विशेष महत्त्व था। इस सम्प्रदाय के लोग शिवलिंग की उपासना करते हैं तथा वेदों का खण्डन करते हैं। पुनर्जन्म के सिद्धान्त में भी इनका विश्वास नहीं है। १२ वीं शताब्दी में इनके एक प्रमुख आचार्य बासव ने जाति-प्रथा का भी विरोध किया। बाल-विवाह आदि कुप्रथाओं के भी ये विरुद्ध हैं। गुरु का महत्त्व इस सम्प्रदाय में भी अधिक है।

कश्मीर के दार्शनिक शैव-धर्म में जगत की उत्पत्ति शिव और शक्ति के संगम से मानते हैं। शिव को निष्चेष्ट मानते हैं तथा शिव की शक्ति का महत्त्व अधिक है। इसमें भी ध्यान, मंत्र-जप और तांत्रिक साधनाओं का विधान है।

भक्ति का महत्त्व सभी सम्प्रदायों में मिलता है।

शैव-धर्म का लोकप्रिय रूप जनता में आज भी प्रचलित है। धार्मिक जीवन में काशी आदि शैव-तीर्थों का महत्त्व आज भी विशेष है। शैव-मठ और मन्दिर अनेकों की संख्या में देश भर में विद्यमान है। शिवरात्रि आदि व्रतों का अनुष्ठान भी समारोह-पूर्वक होता है।

शाक्त-धर्म

शाक्तधारा की प्राचीनता भी प्रागैतिहासिक काल तक जाती है[१]। सिन्धु की घाटी की संस्कृति में भी मातृदेवी की उपासना प्रचलित थी। इलियट के अनुसार शाक्त उन्हें कहते हैं जो शक्ति को इष्ट-देवी मानते हैं और तन्त्र-मन्त्र के विधान द्वारा उसकी उपासना करते हैं। महाभारत, मार्कण्डेय पुराण तथा अन्य पुराणों में भी महा-मातृदेवी के दुर्गा, उमा, पार्वती आदि रूपों का माहात्म्य मिलता है। उमा और पार्वती की कल्पना शिव की अर्द्धाङ्गिनी के रूप में की गयी है। शाक्त-धारा का शैव-धारा से घनिष्ठ सम्बन्ध था। कुछ विद्वानों के अनुसार एक धर्म के रूप में शाक्त-धारा ७ वीं शताब्दीके बाद से ही दृष्टिगोचर होती है। शाक्त-धर्म के उदय के पीछे कई शक्तियाँ थीं। अवैदिक धारा का प्रभाव, पुराणों का प्रभाव, बौद्ध-धर्म की देवी तारा की उपासना का प्रभाव तथा सांख्य-दर्शन का प्रभाव इन सबका शाक्त धर्म के विकास में विशेष हाथ माना जाता है। अपने व्यापक रूप में शाक्त-धारा हिन्दू एवं बौद्ध दोनों धर्मों में दृष्टिगोचर होती है। बौद्ध-धर्म के तांत्रिक रूप को शाक्त-धारा के ही अन्तर्गत मानते हैं।

शाक्त-धर्म आजकल भी हिन्दुओं का एक प्रधान धर्म है। विभिन्न रूपोंमें शक्ति की पूजा होती है। बंगाल एवं आसाम में इस धर्म का व्यापक प्रचार है। बंगाल में दुर्गा-पूजा का उत्सव शाक्त धर्म से ही सम्बन्धित है। आसाम में कामरू, कमच्छा शाक्तों का एक प्रसिद्ध पीठ है।

---

१. M. M. Gopinath Kaviraj in the History of Philosophy: Eastern and Western, Vol. I.

शाक्तों के सिद्धान्त और आचार—शाक्त-धर्म के सिद्धान्त और आचार त्रिपुरारहस्य, कुलार्णव, मालिनीविजय, महानिर्वाण, डाकार्णव आदि तन्त्र-ग्रन्थों में मिलते हैं।

शाक्तों के अनुसार महामातृदेवी शक्ति ही संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। वह सर्वव्यापक है।[1] शक्ति शिव का ही क्रियाशील रूप है। शाक्त-साधक शक्ति के किसी एक रूप दुर्गा, काली या तारा को इष्ट-देवता मानता है और उसी से अपना एकत्व स्थापित करता है।

शाक्त-पद्धति में भुक्ति, कर्म, ज्ञान तीनों का समन्वय है। ज्ञान का अर्थ शाक्त-दर्शन का वास्तविक ज्ञान है। इष्ट-देवता की भक्ति और रहस्यमय आन्तरिक उपासना भक्तिपक्ष में हैं। कर्मपक्ष में तन्त्र, मन्त्र, और अनेक अन्य तान्त्रिक क्रियाएँ हैं। ध्यान और योग का भी समावेश इस पद्धति में है।

शाक्त-पद्धति में भुक्ति और मुक्ति के समन्वय का भी आदर्श मिलता है। सांसारिक भोग मुक्ति-मार्ग में बाधक नहीं माने जाते हैं। उनका उपयोग इस रूप में किया जाता है कि वे मुक्ति में सहायक हो सकें। इस प्रकार प्रवृत्ति-मार्ग के द्वारा ही साधक निवृत्ति के लक्ष्य को प्राप्त करता है।

शाक्त-साधना में कुण्डलिनी शक्ति का महत्त्व अधिक है। यह रहस्यमय शक्ति विश्व-ब्रह्माण्ड में तथा शब्दों और मन्त्रों में व्याप्त है। साधना तथा मन्त्रों द्वारा शरीर-स्थित कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने पर मुक्ति एवं पूर्णत्व प्राप्त होते हैं।

शाक्तों के अनेक संप्रदाय हैं। शाक्त-दर्शन में शब्द-शक्ति का पूर्ण विवेचन मिलता है। भारतीय धार्मिक जीवन को शाक्त-धारा ने काफी प्रभावित किया है।

बौद्ध-धर्म

इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है कि छठीं शताब्दी ईसवी पूर्व का काल समस्त प्राचीन विश्व के इतिहास में बौद्धिक और धार्मिक क्रान्ति का युग था। इस युग में भारत में भी निवृत्तिपरक धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ जिसके फल-स्वरूप बौद्ध-धर्म का उदय तथा जैन-धर्म का उत्थान हुआ। पहले हम बौद्ध-धर्म के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

बुद्ध का संक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त—बुद्ध का प्रारम्भिक नाम गौतम था। इनका जन्म ५६३ ई० पू० कपिलवस्तु के समीप लुम्बिनी-वन (आधुनिक रुम्मिन्देह अथवा रूपं-देहि गाँव) में हुआ। उनकी माता का नाम माया था। उनके पिता शुद्धोदन शाक्य जाति के राजा (प्रधान) थे। परम्पराओं में उन्हें एक अत्यन्त गुण-सम्पन्न राजपुत्र के रूप में चित्रित किया गया है। बचपन से ही उनमें चिन्तन-प्रवृत्ति

१. Woodroffe, Sakti and the Saktas

का विकास होने लगा। शुद्धोदन ने इस प्रवृत्ति से हटाने के लिये १६ वर्ष की आयु में उनका विवाह गोपा (यशोधरा) से कर दिया और राजसी भोग-विलास का प्रभूत साधन एकत्र कर दिया। कालान्तर में उन्हें एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। पर विषादग्रस्त संसार और जीवन की निस्सारता के बीच भोग-विलास में उनकी आसक्ति बहुत समय तक नहीं रह सकी। २९ वर्ष की आयु में जीवन के अनन्त दुःखों से मुक्ति का मार्ग खोजने के उद्देश्य से उन्होंने अपने राजप्रासाद को "धूल का स्थान" समझ कर त्याग दिया और वे एक वन में चले गये। कुछ दिनों तक उन्होंने आलार कालाम और उद्दक रामपुत्त नामक धर्माचार्यों के आश्रम में साधना की पर उनके आकुल हृदय को शान्ति न मिली। इसके पश्चात् उन्होंने बोधगया के समीप उरुवेला के घने वन में प्रविष्ट होकर छः वर्षों तक घोर तपस्या की जिसके फलस्वरूप उनका शरीर अस्थि-पञ्जर मात्र रह गया। इससे भी उन्हें आन्तरिक शान्ति और प्रकाश न मिला। फिर उन्होंने एक नवीन आत्म-संयम प्रारम्भ किया जिसकी साधना अपेक्षाकृत कम कठोर थी।

३५ वर्ष की आयु में वैशाख-पूर्णिमा की रात को एक पीपल के वृक्ष के नीचे बैठे हुये उन्हें सत्य के दर्शन हुये। उन्हें सम्बोधि प्राप्त हुई और वे बुद्ध हो गये। सम्बोधि में उन्हें प्रतीत्य-समुत्पाद के सिद्धान्त का बोध हुआ तथा निर्वाण की प्राप्ति हुई।[१] प्रतीत्य-समुत्पाद का अर्थ है कि संसार की सभी वस्तुयें और अवस्थायें कार्य और कारण पर निर्भर हैं। इससे दुःख और दुःखमय जगत के स्वरूप का स्पष्टीकरण होता है। निर्वाण सांसारिक तृष्णाओं, दुःखों और बन्धनों से छुटकारा पा लेने की अवस्था है जो चरम लक्ष्य है। बुद्ध ने प्रतीत्य-समुत्पाद और निर्वाण इन्हीं दोनों को धर्म कहा है। इस प्रकार उन्हें सांसारिक बन्धनों से मुक्ति का मार्ग मिल गया।

पहले वे इस धर्म का प्रचार नहीं करना चाहते थे। परंपरा के अनुसार ब्रह्मा के अनुरोध से उन्होंने अपनी बुद्ध-दृष्टि से मानवता का अवलोकन किया। उन्होंने देखा कि संसार-सरोवर में कमलों की भाँति कुछ मनुष्य दुःख-वारि में पूर्ण-निमग्न थे, कुछ अर्द्धनिमग्न थे तथा कुछ उससे छुटकारा पाने के लिये छटपटा रहे थे। यह देखकर उनके हृदय में अपार करुणा का संचार हुआ और उन्होंने धर्म का उपदेश करने का विचार किया।

सबसे पहला उपदेश उन्होंने बनारस के पास सारनाथ नामक स्थान में दिया। उनके पहले पाँच शिष्य वही बने जो पहले घोर तपस्या से विरक्त होने के कारण उनका साथ छोड़ चुके थे। इस प्रथम उपदेश को धर्मचक्र-प्रवर्तन की संज्ञा दी गई है। इससे उन्होंने धर्म के चक्र का प्रवर्तन किया। जीवन के शेष पैंतालिस वर्षों तक उन्होंने अपने संदेशों का जनता की भाषा में प्रचार किया। उनका कार्यक्षेत्र आधुनिक

१. Dr. G. C. Pande, Studies in the Origins of Buddhism.

विहार तथा उत्तरप्रदेश का कुछ भाग और नेपाल था। उनके महान व्यक्तित्व के कारण राजा और रंक सभी उनके धर्म के अनुयायी बने। अनुयायियों का एक शक्तिशाली संघ उनके जीवन काल में ही संगठित हो गया। ८० वर्ष की आयु में ४८३ ई० पू० उन्होंने कुशीनगर में शरीर-त्याग किया जिसे महापरिनिर्वाण कहते हैं।

बुद्ध संसार के महान धर्म-प्रवर्तकों में माने जाते हैं। उनका धर्म भारत के अतिरिक्त एशिया के अन्य देशों में भी द्रुतगति से फैला।

बुद्ध के उपदेश—बुद्ध ने प्रतीत्य-समुत्पाद अर्थात् जगत-व्यापी कार्य-कारण के नियम को सांसारिक दुःख के व्यापक रूप पर लागू करके दुःख के कारणों को समझाया; दुःख के कारणों के निराकरण और दुःख-निरोध हो जाने से जिस चरमलक्ष्य निर्वाण की प्राप्ति होती है उसका उपदेश दिया तथा उस मार्ग को बताया जिसके द्वारा दुःख के कारणों को दूर कर दुःख-निरोध सम्भव हो सकता है। दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध तथा दुःख-निरोध-मार्ग यही वे चार आर्य सत्य हैं जिनका उपदेश बुद्ध ने सारनाथ (वाराणसी) में किया था।

दुःख—बुद्ध ने समस्त जीवन को दुःखमय माना है। दुःख का ही जीवन में प्राधान्य है। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि सभी दुःख हैं। वांछनीय वस्तु को न पाना दुःख है और अप्रिय वस्तु से संयोग भी दुःख है। समस्त जगत एक अनवरत परिवर्तन और अशान्ति में आबद्ध है। इसकी अनुभूति भी दुःख है। केवल दुःखों की अनुभूति ही दुःख नहीं है, सुख भी क्षणिक होते हैं और उनके नष्ट हो जाने पर विपरिणाम दुःख उत्पन्न होता है।

दुःख-समुदय—प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के अनुसार सभी वस्तुयें कारणों और परिस्थितियों पर निर्भर रहती हैं। अतः दुःख का भी कारण होना चाहिये। दुःख का मूल कारण अविद्या है। अविद्या अपने स्वरूप के सम्बन्ध में मिथ्या धारणा है। मनुष्य अविद्या के कारण अपने को शरीर या मन समझता है। शरीर या मन से अपना तादात्म्य स्थापित कर देता है। इसी के कारण भौतिक सुख की तृष्णा या इच्छा उत्पन्न होती है। तृष्णा के वशीभूत हो वह अहंभावसे प्रेरित हो नाना प्रकार के स्वार्थपूर्ण कर्मों में रत होता है। कर्मों के फल के अनुसार उसे सुख-दुःख मिलते रहते हैं और वह दुःखमय संसार के बन्धन में पड़ा रहता है। इस प्रकार अविद्या और तृष्णा दुःख के मूल कारण हैं।[१]

---

१. कालान्तर में प्रतीत्य-समुत्पाद के १२ निदान माने गये। ये बारह निदान या कड़ियाँ निम्नलिखित हैं:—

अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम-रूप (मन एवं शरीर), षडायतन (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा उनके विषय), स्पर्श, (इन्द्रियों का विषयों से संपर्क), वेदना, तृष्णा, उपादान (सांसारिक पदार्थों से राग), भव (उत्पन्न होने की प्रवृत्ति), जाति (संसार में जन्म) और

दुःख-निरोध—प्रतीत्य समुत्पाद के नियम के अनुसार यदि कारण का निराकरण कर दिया जाय तो कार्य का भी निरोध हो जाता है। अतः यदि दुःख के कारणों तथा कारणभूत परिस्थितियों को हटा दिया जाय तो दुःख का भी निरोध हो जायगा। इस प्रकार निर्वाण की अवस्था प्राप्त हो जायगी जिसमें सांसारिक बन्धनों से छुटकारा मिल जायगा। निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है दीपक की तरह बुझ जाना। निर्वाण की अवस्था में अहंभाव का उपशम न हो जाता है तथा सभी प्रकार की तृष्णाओं, दुःखों और आवागमन के चक्र से पूर्ण रूप से मुक्ति मिल जाती है निर्वाण की स्थिति आनन्दमय भी है। निर्वाण परम शान्ति है (निर्वाण शान्तम्)।

दुःख-निरोध-मार्ग—बुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा को ही दुःख-निरोध-मार्ग बताया था। ऊपर कहा जा चुका है कि दुःख के कारण क्रमशः अविद्या, तृष्णा और कर्म हैं। अतः इनके निरोध का मार्ग भी इन्हीं के अनुसार होना चाहिये। शील अर्थात् अहिंसा, मैत्री, करुणा आदि नैतिक आचारों से कर्म नियंत्रित हो जाते हैं। इनसे मनुष्य अनैतिक एवं स्वार्थमय कर्मों से बचता है। समाधि अर्थात् मन की एकाग्रता से चित्त एकाग्र हो जाता है और इससे तृष्णा समाप्त हो जाती है। फिर एकाग्र चित्त में प्रज्ञा अथवा अलौकिक ज्ञान का उदय हो जाता है जिससे अन्धकार के समान अविद्या तिरोहित हो जाती है और चरम-लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

आधुनिक गवेषणाओं[१] से यह सिद्ध हो गया है कि प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में शील, समाधि और प्रज्ञा ही दुःख-निरोध-मार्ग के अङ्ग थे। पर बाद में इनका विस्तार किया गया। मज्झिम निकाय में इस मार्ग के सात अङ्ग बताये गये हैं। अगुत्तर निकाय में दस अङ्गों का उल्लेख है। कालान्तर में आठ अङ्गों को मान्यता प्रदान की गई और दुःख-निरोध-मार्ग अष्टांग-मार्ग कहलाया। इसके आठ अङ्ग निम्नलिखित हैं—

१. सम्यक् दृष्टि (सत्य विश्वास और दृष्टिकोण।)

२. सम्यक् संकल्प (सत्य संकल्प या विचार।)

३. सम्यक् वाक् (सत्य बचन बोलना जिससे दूसरों को कष्ट न पहुँचे।)

४. सम्यक् कर्मान्त (दान, दया, सत्य, मानवता की सेवा, अहिंसा आदि सदाचार का पालन करना।)

५. सम्यक् आजीव (ऐसी वृत्ति या जीविका को ग्रहण करना जो सदाचार के नियमों के अनुकूल हो।)

जरा-मरण (दुःख, बुढ़ापा और मृत्यु)। संस्कार, विज्ञान और वेदना का अर्थ आगे फुटनोट में बताया गया है।

१. Dr. G. C. Pande, Studies in the Origins of Buddhism.

६. सम्यक् व्यायाम (नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिये अनवरत प्रयत्नशील रहना ।)

७. सम्यक् स्मृति (शरीर एवं मन की क्रियाओं तथा दुर्बलताओं को अच्छी तरह समझते रहना जिससे अपने सम्बन्ध में किसी प्रकार की भ्रमपूर्ण धारणा न उत्पन्न हो ।)

८. सम्यक् समाधि (मन की एकाग्रता, इससे आध्यात्मिक उन्नति के अतिरिक्त बौद्धिक और धार्मिक ज्ञान का भी विस्तार एवं विकास होता है ।)

मध्यम-मार्ग—बुद्ध के मार्ग को मध्यम-मार्ग या मध्यमा-प्रतिपदा भी कहते हैं। उन्होंने अत्यधिक तपस्या का विरोध किया और विलासिता से भी दूर रहने का उपदेश दिया। इस प्रकार उन्होंने मध्यम-मार्ग का प्रतिपादन किया। संघ में भिक्षुओं के लिये वस्त्र तथा नियमित भोजन का विधान किया। बुद्ध के मार्ग में व्यावहारिकता अधिक है।

बुद्ध के अन्य उपदेश—बुद्ध दार्शनिक प्रश्नों में नहीं उलझे। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में वे मौन रहे। उनका धर्म तर्कपूर्ण और व्यावहारिक है। अहिंसा, प्राणिमात्र पर दया, सत्य, गुरुजनों का आदर, मानव जाति की सेवा आदि बौद्ध धर्म के व्यावहारिक आचार के रूप हैं। रूढ़िवादिता तथा अंधविश्वास का भी उन्होंने खण्डन किया। वेदों में भी उनका विश्वास नहीं था। यज्ञों के कर्मकाण्ड का तो उन्होंने स्पष्ट विरोध किया। जातिगत ऊँच-नीच की भावना का भी उन्होंने विरोध किया। उनका धार्मिक दृष्टिकोण उदार था। वे कहते थे कि यदि उनकी शिक्षायें सही जान पड़ें तभी उन्हें ग्रहण किया जाय। बौद्ध-धर्म में बौद्धिक स्वतंत्रता तथा धर्म-सहिष्णुता के आदर्श भी मिलते हैं।

बुद्ध के ऊपर अवैदिक धारा का प्रभाव स्पष्ट है। बौद्ध-धर्म की साधना, कर्म के सिद्धान्त, और संसार की भावना तथा उसके प्रति निवृत्तिपरक दृष्टिकोण पर श्रमण-धारा का प्रभाव है। निर्वाण का आदर्श उपनिषदों की मुक्ति के आदर्श से प्रभावित है। इस प्रकार वैदिक तथा अवैदिक दोनों धाराओं का प्रभाव बौद्ध-धर्म पर है। अतः यह मत कि बौद्ध-धर्म वैदिक-धर्म का सुधारवादी रूप है पूर्णतः ठीक नहीं है।

संघ—बौद्ध-संघ की स्थापना स्वयं बुद्ध ने की थी। बुद्ध ने भिक्षुओं के अनुशासन के लिये कुछ नियमों का विधान किया था। ये भिक्षु विहारों में रहते थे और घूम-घूम कर धर्मोपदेश भी देते थे। बौद्ध-धर्म के प्रसार में संघ का हाथ बहुत अधिक था। कालान्तर में बुद्ध, धर्म और संघ बौद्ध-धर्म के 'त्रिरत्न' माने गये। भिक्षु अपनी नैत्यिक प्रार्थनाओं में तीनों की वन्दना करते थे—

'बुद्धं सरणं गच्छामि।'
'धम्मं सरणं गच्छामि।'
'संघं सरणं गच्छामि।'

बौद्ध-संघ के संगठन के सम्बन्ध में सामूहिक जीवन के प्रकरण में पहले ही विचार किया जा चुका है।

बौद्ध-धर्म की संगीतियाँ

बौद्ध-धर्म के विकास के इतिहास में चार संगीतियों या धर्मसभाओं का बड़ा महत्त्व है। पहली संगीति बुद्ध के परिनिर्वाण के कुछ ही सप्ताह बाद राजगृह के निकट हुई। इसमें बुद्ध के उपदेशों का प्रामाणिक संकलन किया गया। दूसरी संगीति वैशाली में बुद्ध के परिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद हुई। इसमें बौद्ध-संघ में भेद उत्पन्न हो गया। जिन्होंने परम्परागत नियमों को ही माना वे स्थविर कहलाये और जिन्होंने संघ में कुछ नवीन नियमों को अपनाया उनका नाम महासांघिक पड़ा। तीसरी संगीति लगभग २५१ ई० पू० सम्राट अशोक के काल में पाटलिपुत्र में हुई। इसमें अभिधम्मपिटक[१] के कथावत्थु भाग का निर्माण किया गया जिसमें बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों की दार्शनिक विवेचना है। इसमें थेरवादियों (स्थविरवादियों) का ही प्रभाव अधिक था। अशोक के प्रोत्साहन द्वारा बौद्ध-धर्म पश्चिमी एशिया तथा अन्य देशों में भी फैला। चौथी बौद्ध-संगीति प्रथम शताब्दी में कनिष्क के राजत्व-काल में कश्मीर में हुई। इस काल तक बौद्ध-धर्म के अनेक सम्प्रदाय अस्तित्व में आ चुके थे। पर इस संगीति में सर्वास्तिवाद संप्रदाय के भिक्षुओं का प्रभाव अधिक था। इसमें विभाषा-शास्त्र आदि बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का संकलन किया गया।

इसी समय महायान का उदय होता है जिसके कारण बौद्ध-संघ तथा धर्म के आधारभूत सिद्धान्तों में गहरा विभेद उत्पन्न हो जाता है। महासांघिक सम्प्रदाय से ही महायान की उत्पत्ति हुई। महायान के अनुयायियों ने प्राचीन बौद्ध-धर्म को हीनयान की संज्ञा दी। इस प्रकार बौद्ध-धर्म के हीनयान तथा महायान दो प्रमुख सम्प्रदाय हो गये।

हीनयान—हीनयान का शाब्दिक अर्थ है निकृष्ट या निम्न मार्ग। इस शब्द का प्रयोग महायान सम्प्रदाय के अनुयायियों ने अपने विपक्षियों के लिये किया। कुछ विद्वानों का मत है कि हीनयान प्राचीन बौद्ध-धर्म था। परन्तु महायान के अनुयायी भी अपने को कम प्राचीन नहीं मानते। हीनयान धर्म गृहस्थों के लिये संभव नहीं था। यह उन्हीं के लिये था जो घर-बार छोड़कर भिक्षु हो जाते थे। बुद्ध को मानव रूप में माना जाता था जो सर्वज्ञता तथा अन्य अलौकिक शक्तियों और गुणों से सम्पन्न थे। इस धर्म में जीवन का लक्ष्य बुद्धत्व नहीं बल्कि अर्हत् पद की प्राप्ति था। अर्हत् उस भिक्षु को कहते हैं जिसे निर्वाण प्राप्त हो जाता है। महायान के अनुयायियों के

---

१. बौद्धों के धार्मिक ग्रंथ सुत्त पिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक हैं। सुत्त पिटक में धर्म के सिद्धान्त हैं। विनय में संघ के अनुशासन संबन्धी नियम हैं। अभिधम्म में बौद्ध-दर्शन है।

अनुसार हीनयान के अर्हत् का प्रधान लक्ष्य अपने लिये निर्वाण-प्राप्ति था। अन्य प्राणियों की क्लेश-मुक्ति की उसे उतनी परवाह न थी। इस धर्म के अनुयायी अनित्यता तथा क्षणभंगुरता में विश्वास करते हैं। संसार में परिवर्तन का प्रवाह (संतान) चल रहा है, तथा सभी वस्तुयें अनित्य एवं क्षणभंगुर हैं। अनात्मवाद में भी ये विश्वास करते हैं। इसका अर्थ है कि व्यक्तित्व का निर्माण रूप (भौतिक तत्त्व), वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन पाँच स्कन्धों[1] से होता है जिनमें प्रत्येक क्षण परिवर्तन होता रहता है; आत्मा जैसा कोई स्थायी तत्त्व नहीं रहता। चार आर्य सत्य, प्रतीत्य समुत्पाद तथा अष्टांग-मार्ग भी हीनयान मत के अंग हैं।

हीनयान के दो प्रमुख दार्शनिक मत हैं—**वैभाषिक और सौत्रान्तिक**। वैभाषिक के अनुयायी अभिधर्म की टीका विभाषा को सर्वोपरि मानते हैं। सौत्रान्तिक मत में टीका को नहीं बल्कि सूत्रों को सर्वोपरि माना जाता है। दोनों परिवर्तन के प्रवाह तथा क्षणभंगुरता को मानते हुये भी वैकारिक जगत का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करते हैं। वैभाषिक मत के अनुसार प्रत्येक वस्तु परिमाणुओं से निर्मित होती हैं। ये परिमाणु प्रत्येक क्षण अपना स्थान बदलते रहते हैं। सौत्रान्तिक मत में प्रत्येक सदस्य जिनसे मिलकर कोई पदार्थ बनता है 'स्वलक्षण' कहलाता है। 'स्वलक्षण' का अर्थ है 'अपनी तरह' अथवा 'अपूर्व'। ये स्वलक्षण बाह्य जगत के आधारभूत परम तत्त्व हैं और इनकी संख्या अनन्त है। सौत्रान्तिक मत के अनुसार बाह्य जगत के पदार्थों के अनुभव मन के विकल्प मात्र होते हैं जो बाह्य वस्तुओं पर आरोपित किये जाते हैं। वस्तुतः वे हमारे विचारों के ही प्रतिरूप होते हैं। जहाँ तक स्वलक्षणों का संबन्ध है वहाँ तक ज्ञान की सत्यता रहती है। परन्तु इसके आगे जब उनपर मन के विचारों और विकल्पों का आरोप किया जाता है तब वह ज्ञान भ्रान्तिपूर्ण हो जाता है।

महायान का शाब्दिक अर्थ है 'उत्कृष्ट मार्ग'। इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है कि महायान की उत्पत्ति हीनयान के महासांघिक सम्प्रदाय से हुई। कुछ विद्वानों[2] के अनुसार इसकी उत्पत्ति दक्षिण के आन्ध्र प्रदेश में प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व में हुई। ईसा की प्रथम शताब्दी में कनिष्क के राजत्वकाल में इसे बौद्ध-धर्म की एक शाखा के रूप में मान्यता प्रदान की गई। उस समय तक इसका विकास एवं प्रसार उत्तरी भारत में भी हो चुका था। प्रथम शताब्दी में नागार्जुन ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा द्वारा इस सम्प्रदाय को एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान किया।

---

१. रूप उन भौतिक तत्त्वों को कहते हैं जिनसे शरीर का निर्माण होता है। वेदना सुख-दुःख का संवेदन है। संज्ञा दृष्टि, स्पर्श, दुःख आदि की अनुभूति को कहते हैं। संस्कार इच्छा-शक्ति, तथा राग-द्वष के संवेग हैं। विज्ञान इन सब की चेतनता तथा विवेक-बुद्धि को कहते हैं।

२. Nalinaksh Dutt, Aspects of Mahayana Buddhism, Vol. I.

महायानकी विशेषताएँ—महायान के कुछ तत्त्वों के अंकुर हीनयान के सर्वास्तिवाद और महासांघिक सम्प्रदायों में भी मिलते हैं क्योंकि हीनयान से ही महायान की उत्पत्ति हुई। संक्षेप में महायान की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं।

(१) महायान में बोधिसत्व के आदर्श का विकसित रूप मिलता है। बोधिसत्व उन्हें कहते हैं जो बुद्धत्व-प्राप्ति के मार्ग का अनुसरण करते हैं। प्रत्येक मनुष्य में बोधिसत्व बनने की क्षमता रहती है। निर्वाण-प्राप्ति के पहले बुद्ध भी अनेक जन्मों में बोधिसत्व ही थे। इससे साधारण उपासकों और गृहस्थों को भी अन्तिम लक्ष्य निर्वाण की प्राप्ति के प्रयास का अवसर प्रदान किया गया। बोधिसत्व केवल अपने निर्वाण का ही प्रयत्न नहीं करता बल्कि उसका उद्देश्य रहता है कि समस्त मानवता निर्वाण के पथ पर अग्रसर हो। इस सम्बन्ध में सबकी सहायता करना बोधिसत्व का परम कर्त्तव्य माना गया है। मानव-कल्याण का यह आदर्श बौद्ध-धर्म की अनुपम देन है जो भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण की एक प्रधान विशेषता बन जाती है।

(२) बोधिसत्व का कर्त्तव्य है कि वह पारमिताओं की प्राप्ति का प्रयत्न करे। पारमिताएँ सद्‌गुण और नैतिक आचार हैं। इनकी संख्या दस मानी जाती है—

१. दान
२. शील (सदाचार)
३. क्षान्ति (सहनशीलता)
४. वीर्य (मानसिक शक्ति)
५. ध्यान (मन का एकाग्र करना)
६. प्रज्ञा (सत्य-ज्ञान की प्राप्ति)
७. उपाय-कौशल्य (उपायों अर्थात् साधनों के प्रयोग में कुशलता)
८. प्रणिधान (व्रत, संकल्प और इच्छा-शक्ति)
९. बल (शक्तियों की प्राप्ति)
१०. ज्ञान (परम सत्य का ज्ञान)

ये पारमिताएँ चारित्रिक पूर्णतायें हैं जो व्यक्ति को संसार-सागर के पार ले जाती हैं।

(३) बोधिसत्व के आध्यात्मिक विकास की दस क्रमिक अवस्थायें मानी गई हैं:—

१. प्रमुदिता (सदैव प्रसन्न रहना)
२. विमला (दुर्गुणों तथा दोषों से दूर रहने की अवस्था)
३. प्रभाकरी (बुद्धि की निर्मलता)
४. अर्चिष्मती (इस अवस्था में बोधिसत्व की अविद्या और वासनायें शुद्ध-ज्ञान के उदय से तिरोहित हो जाती हैं।)

५. सुदुर्जया (इस अवस्था में बोधिसत्व अजेय बन जाता है)

६. अभिमुखी (प्रज्ञा के उदय से सत्य-ज्ञान का विकास इस अवस्था में होने लगता है।)

७. दूरङ्गमा (आध्यात्मिक विकास के पथ पर दूर चले जाने की अवस्था)

८. अचला (सर्वोच्च ज्ञान की अवस्था)

९. साधुमती (शुभ तथा शुद्ध ज्ञान की अवस्था)

१०. धर्ममेघा (इस अवस्था में बोधिसत्व संतप्त मानवता के लिये धर्म का मेघ (बादल) बनकर दूसरों के अविद्याजनित ताप को दूर करता है।)

(४) महायान के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक मनुष्य में 'बोधिचित्त' का तत्त्व रहता है जो मनुष्य की चेतनता में बुद्ध के धर्मकाय की अभिव्यक्ति होती है। यह आध्यात्मिक विकास की प्रेरणा के रूप में विद्यमान रहता है।

(५) महायान में तथागत बुद्ध के त्रिकाय की भावना मिलती है। बुद्ध के त्रिकाय, धर्मकाय, निर्माणकाय और संभोगकाय हैं। धर्मकाय की अभिव्यक्ति विश्व-ब्रह्माण्ड में चार रूपों में होती है। ये रूप सर्वज्ञ प्रज्ञा, सर्वव्यापक करुणा, प्रणिधानबल (चरम इच्छा शक्ति) और निर्वाण हैं। निर्माणकाय बुद्ध का भौतिक शरीर है। इसका सम्बन्ध धर्मकाय से वही है जो हिन्दू धर्म में अवतार का ईश्वर से होता है। सम्भोगकाय बुद्ध का रहस्यात्मक आनन्द-शरीर माना जाता है।

(६) महायान में अन्तिम लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। हीनयान के चरम लक्ष्य अर्हत्-पद की महायान के अनुयायी आलोचना करते हैं। उनके अनुसार अर्हत्-पद में पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं होती।

(७) महायान में धर्म-शून्यता का सिद्धान्त भी मिलता है। यह पुद्गल-शून्यता का विस्तृत रूप है। पुद्गल-शून्यता का सिद्धान्त हीनयान में भी था। इसके अनुसार किसी भी प्राणी के शरीर में जीव या आत्मा जैसा कोई शाश्वत तत्त्व नहीं रहता क्योंकि समस्त संसार परिवर्तन का प्रवाह है। इसी सिद्धान्त को व्यापक रूप देकर धर्म-शून्यता का सिद्धान्त बना। इसके अनुसार किसी भौतिक वस्तु में भी कोई स्थायी तत्त्व, स्वरूप या व्यक्तिगत गुण नहीं रहता। गर्मी को लोग अग्नि का स्थायी गुण मानते हैं। परन्तु गर्मी और अग्नि दोनों ही अनुकूल वातावरण, ईंधन आदि कारणों और परिस्थितियों पर निर्भर हैं। समस्त संसार परिवर्तन तथा कार्य-कारण का प्रवाह है। अतः यदि गर्मी और आग दोनों ही अपने अस्तित्व के लिये दूसरों पर निर्भर हैं तो एक को दूसरे का स्थायी गुण कैसे माना जा सकता है? यही महायान के अनुयायियों का तर्क है।

(८) महायान धर्म की एक प्रधान विशेषता मूर्ति-पूजा है। बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियों की पूजा का व्यापक प्रचार इस धर्म के कारण हुआ। इससे बौद्ध-धर्म की लोकप्रियता बढ़ी और कला को भी प्रचुर प्रोत्साहन मिला।

(९) अनेक देवी-देवताओं की कल्पना भी महायान में हुई। बुद्ध की पूजा भी ईश्वर की पूजा की तरह होने लगी।

(१०) इस धर्म में तंत्र-मंत्र का भी प्रचार बाद में होने लगा।

महायान के दार्शनिक सम्प्रदाय—महायान के दो दार्शनिक सम्प्रदाय हैं—शून्यवाद और विज्ञानवाद। शून्यवाद को माध्यमिक और विज्ञानवाद को योगाचार भी कहते हैं।

शून्यवाद—शून्यवाद के प्रसिद्ध दार्शनिक नागार्जुन (प्रथम शताब्दी), आर्यदेव (तृतीय शताब्दी), चन्द्रकीर्ति (छठीं शताब्दी) आदि थे। नागार्जुन की माध्यमिक कारिका में शून्यवाद का प्रतिभापूर्ण प्रतिपादन मिलता है। माध्यमिकों (शून्यवादियों) ने बुद्ध के मध्यममार्ग के दर्शन को विकसित किया। इनके अनुसार परम तत्त्व को बुद्धि-शक्ति और विचारों द्वारा नहीं समझा जा सकता। बुद्धि द्वारा किसी वस्तु के सम्बन्ध में चार प्रकार के कथन हो सकते हैं—(१) किसी भी वस्तु या तत्त्व का अस्तित्व है (सत्)। (२) नहीं है (असत्)। (३) (एक प्रकार से) है और (दूसरे प्रकार से) नहीं है (सदसत्)। (४) न तो है और न नहीं है (न सन्नासत्)।

परन्तु बुद्धि-शक्ति सीमित होती है और उसमें सांसारिकता रहती है। उसके दृष्टिकोण और निर्णय सीमित, एकाङ्गी और प्रायः विरोधात्मक होते हैं। अतः परमतत्त्व या अद्वय तत्त्व बुद्धि की सीमा के परे है और वह विचारों की उपर्युक्त चारों कोटियों से परे होने के कारण 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' कहा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शून्यवाद दर्शन का लक्ष्य अभाव का प्रतिपादन नहीं है। शून्यवाद का अर्थ यही है कि वह अद्वय परमतत्त्व बुद्धि और तर्क की सीमा के परे है। शून्यता दो प्रकार की मानी जाती है—विचार-शून्यता और अस्तित्व-शून्यता। अस्तित्व-शून्यता का तात्पर्य है कि बाह्य जगत् की सभी वस्तुयें कारणों और परिस्थितियों पर निर्भर रहती हैं[१] और परिवर्तन के प्रवाह में रहती हैं, उनमें कोई स्थायी स्वरूप, तत्त्व या गुण नहीं रहता। विचार-शून्यता का अर्थ है कि विचारों में भी कोई स्थायी आन्तरिक सूत्र नहीं रहता। इसीलिये शून्य-दृष्टि की प्राप्ति साधना की सफलता मानी गई है। दृष्टि की शून्यता का अर्थ है विचारों और दृष्टिकोणों से ऊपर उठ जाना। बुद्धि ही भ्रान्ति उत्पन्न करती है। उससे ऊपर उठने पर शून्य-दृष्टि की अवस्था प्राप्त हो जाती है। इसी शून्य-दृष्टि को प्रज्ञा या अलौकिक ज्ञान कहा गया है। जब बुद्धि के सीमित और मिथ्या

---

१. माध्यमिक कारिका की एक पंक्ति है—

'अप्रतीत्यसमुत्पन्नो धर्मः कश्चिन्न विद्यते।'

इसका भावार्थ है कि संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो प्रतीत्य-समुत्पाद अर्थात् कार्य-कारण के नियम से मुक्त हो।

विचारों का आवरण संसार पर से हट जाता है तब वह निर्विकल्प और निष्प्रपञ्चदीखने लगता है और यही परमतत्त्व निर्वाण की अवस्था है।

शून्यवादी सत्य के दो स्तर मानते हैं—परमार्थ और संवृति। परमार्थ उस परम सत्य के ज्ञान को कहते हैं जो बुद्धि के परे हैं। संवृति सत्य सांसारिक सत्य को कहते हैं जो बुद्धि के द्वारा समझा जाता है। अन्ततोगत्वा परमार्थ सत्य ही परम सत्य है और संवृत्ति सत्य केवल भ्रान्ति है। नागार्जुन ने माध्यमिक कारिका में एक स्थान पर कहा है कि जो सत्य के इन दो स्तरों को नहीं समझता वह बुद्ध की शिक्षाओं को नहीं समझ सकता। शून्यवाद को सापेक्षत्ववाद (Relativism) भी कहा जा सकता है।

माध्यमिक तर्क और दर्शन बौद्ध-धर्म की शिक्षाओं की ही पुष्टि करते हैं। अविद्या ही दुःख का कारण है। अविद्या वह प्रवृत्ति है जिसके द्वारा सत्य पर बुद्धि के विचारों का आवरण पड़ जाता है। अविद्या के कारण बुद्धि वस्तुओं में भेद स्थापित करती है—किसी को अच्छा समझती है और किसी को बुरा। भेद के कारण तृष्णा, राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं जिनके कारण दुःख की उत्पत्ति होती है। शून्य-दृष्टि की प्राप्ति से दुःख का यह चक्र समाप्त हो जाता है और निर्वाण मिल जाता है। प्रज्ञा-पारमिता को सर्वोच्च ज्ञान माना गया है जिसका एकत्व तथागत के धर्मकाय से है। प्रज्ञा या शून्यता के गर्भ से ही तथागत का निर्माणकाय समय-समय से उत्पन्न होता है।

विज्ञानवाद या योगाचार—योगाचार नामक दार्शनिक संप्रदाय के संस्थापक मैत्रेय या मैत्रेयनाथ (तृतीय शताब्दी) माने जाते हैं। असंग और वसुबन्धु के द्वारा इस दर्शन का विकास हुआ। लंकावतारसूत्र भी इस दर्शन का प्रमुख ग्रन्थ है।

विज्ञानवाद के सिद्धान्तानुसार चित्त या विज्ञान ही एक मात्र परम सत्य है। चित्त या विज्ञान या विचार-संतान (प्रवाह) के अतिरिक्त संसार में कुछ सत्य नहीं है। बाह्य पदार्थ जैसे पेड़, पहाड़, लालरंग आदि का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। ये चित्त के विकल्पों के ऊपर मिथ्या रूप से आरोपित रूप और गुण हैं। चित्त के नाना विकल्प वासना के कारण उत्पन्न होते हैं। विज्ञान की तीन अवस्थायें मानी गई हैं—

(१) आलय-विज्ञान
(२) मनोविज्ञान
(३) प्रवृत्ति या विषय-विज्ञान

आलय-विज्ञान शक्तिशाली एवं परिवर्तनशील चित्त का प्रवाह है। यह कर्मों के प्रभावों तथा वासनाओं का भण्डार है। भौतिक स्तर पर ही इसका प्रवाह चलता है। निर्वाण-प्राप्ति के बाद इसका क्रम समाप्त हो जाता है। मनोविज्ञान चित्त की मनन

करने की शक्ति है जिसके द्वारा सांसारिक विचारों और अनुभवों की सृष्टि तथा अहंभाव की पुष्टि होती है।

विज्ञान का तीसरा रूप प्रवृत्ति-विज्ञान है। इसके द्वारा पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषयों (दृष्टि, श्रवण, रस, स्पर्श, घ्राण) और बुद्धि का निर्माण होता है।

चित्त के विकल्पों का बाह्य प्रसार होने के कारण घर, पेड़ आदि वस्तुओं की चित्त से स्वतन्त्र सत्ता का आभास होता है। पर यह ज्ञान परिकल्पित है अर्थात् इनका आभास भ्रान्तिपूर्ण रहता है। वास्तव में चित्त मात्र ही है। चित्त अथवा विज्ञान के विकल्प अर्थात् नाना रूप परतन्त्र हैं क्योंकि ये कारणों और परिस्थितियों पर निर्भर रहते हैं। विभेद द्वारा उत्पन्न ज्ञान को परतन्त्र ज्ञान कहते हैं। यह सांसारिक स्तर पर रहता है। इस ज्ञान में विषयी (Subject) और विषय (Object) का भेद रहता है। परतन्त्र ज्ञान भी परमार्थ दृष्टि से मिथ्या ही रहता है।

विशुद्ध विज्ञान को परिनिष्पन्न कहा गया है। परिनिष्पन्न ही परम सत्य है। इसे लोकोत्तर ज्ञान भी कहा गया है। इसमें विषयी और विषयका भेद नहीं रह जाता। इसका एकत्व तथागत के धर्मकाय से किया गया है।

विज्ञानवादी भी शून्यता को मानते हैं। परन्तु इनके अनुसार शून्यता का कोई आधार होना चाहिये और वह आधार विज्ञान है।

वज्रयान—महायान के पश्चात् बौद्ध-धर्म के विकास की जो अवस्था आती है उसे वज्रयान कहते हैं। वज्रयान में तंत्र-मंत्र का विशेष महत्त्व है। पाँचवीं या छठीं शताब्दी के बाद से तन्त्रों का प्रभाव बढ़ने लगा। गुह्यसमाज आदि अनेक तंत्र-ग्रन्थ लिखे गये। वज्रयान में वज्र को एक अलौकिक तत्त्व के रूप में मानते हैं जो हीरे की तरह कड़ा, शून्य की तरह विशुद्ध तथा वज्र की तरह अजेय रहता है। वज्र का एकत्व धर्म से किया गया है और इसे परम सत्य और संबोधि माना गया है। वज्रयान के अनुसार मंत्रों और तांत्रिक क्रियाओं द्वारा मनुष्य वज्रसत्व बन जाता है।

वज्रयान और तन्त्रयान में तारा आदि देवियों का महत्त्व भी बढ़ने लगा। बौद्ध-धर्म की तांत्रिक क्रियायें शाक्त-धर्म से बहुत भिन्न नहीं थीं। तांत्रिक प्रवृति के बढ़ने के कारण बौद्ध-धर्म का स्वरूप बदलने लगा और भारत में उसका पतन प्रारम्भ हो गया।

बौद्ध-धर्म का प्रसार

प्रारम्भ में बौद्ध-धर्म के विकास और प्रसार के पीछे बुद्ध का महान व्यक्तित्व ही था। वे विश्व के महान धर्मप्रवर्तकों में थे। उनके व्यक्तित्व और आचार इतने प्रभावोत्पादक और आकर्षक थे कि राजा-रंक सभी नें उनकी शिक्षाओं को अपनाया।

उन्होंने साधारण जनता की भाषा में अपने उपदेश दिये। इस कारण सभी लोग उन्हें समझ सकते थे और उनकी लोकप्रियता बढ़ी। उन्होंने अपने धर्म में जाति का भेद-भाव नहीं रखा और गरीब अमीर सभी को धर्म का संदेश दिया। इससे बौद्ध-धर्म की लोकप्रियता और भी बढ़ी। फिर मध्यम मार्ग के सिद्धान्त भी आकर्षक और व्यावहारिक थे। बड़ी संख्या में लोग इस धर्म को अपनाने लगे। बुद्ध के बाद भी अनेक बौद्ध विद्वान और दार्शनिक उत्पन्न हुये जिनके प्रयत्नों के फलस्वरूप इस धर्म का विकास और प्रसार होता रहा। बौद्ध-धर्म के प्रसार में संघ का बहुत बड़ा हाथ था। बुद्ध ने स्वयं भिक्षुओं को धर्म-प्रचार का आदेश दिया था। संघ के भिक्षु अनेक कठिनाइयों का सामना करते हुये धर्म का संदेश दूर देशों में ले गये। अशोक और कनिष्क आदि सम्राटों के प्रोत्साहन से भी बौद्ध-धर्म के प्रसार में सहायता मिली।

कालान्तर में यह धर्म भारत में ही नहीं बल्कि मध्य एशिया, चीन, कोरिया, जापान, तिब्बत, नैपाल आदि उत्तरी देशों में तथा लंका, बर्मा, मलय अन्तरीप, स्याम (थाइलैंड), कम्बुज (कम्बोडिया), चम्पा (वीत-नाम), इण्डोनेशिया आदि दक्षिणी देशों में फैल गया। आज भी तिब्बत, चीन, जापान, सीलोन, बर्मा आदि देशों में बौद्ध-धर्म जीवित है। इन देशों में भी बौद्ध-धर्म के अनेक सम्प्रदाय बने।

भारत में बौद्ध-धर्म के पतन के कारण

सातवीं शताब्दी से भारत में बौद्ध-धर्म का पतन प्रारम्भ हो गया। वैसे तो बौद्ध-धर्म बंगाल और बिहार में १२ वीं शताब्दी तक रहा, पर भारत के अन्य भागों से उसका प्रभाव हट गया था। बौद्ध-धर्म के इस पतन के कई कारण थे। आन्तरिक विभेदों के कारण यह धर्म कई शाखाओं में बँट गया और इसकी एकता नष्ट हो गई। बौद्ध-धर्म के साधारण उपासक केवल त्रिरत्न में विश्वास करते थे और नैतिक आचारों का पालन करते थे; उन्हें व्यवस्थित करके एक ठोस सम्प्रदाय के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न नहीं किया गया। संस्कारों के अनुष्ठान में वे हिन्दू धर्म के ही आचारों का पालन करते थे। इससे जब हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हुआ तो वे उस धर्म के अनुयायी बन गये। नवीं शताब्दी से बौद्ध-संघ में भी भ्रष्टाचार का दोष आने लगा। फिर बौद्ध-धर्म में, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, तन्त्र-मन्त्र बढ़ने लगे। इससे धर्म का वास्तविक रूप बदल गया। तन्त्रों के कारण भी भिक्षुओं के आचार का पतन होने लगा। बौद्ध-धर्म के ह्रास का सबसे बड़ा कारण यह था कि उसक आन्तरिक शक्ति क्षीण होने लगी। आठवीं शताब्दी के बाद से इस धर्म में किसी प्रतिभाशाली महापुरुष का आविर्भाव नहीं हुआ। इसके विपरीत, हिन्दू-धर्म की शक्ति का उत्थान होने लगा। शंकर और कुमारिल ने हिन्दू धर्म और दर्शन में एक नवीन जागृति का संचार किया और बौद्ध-धर्म का खण्डन किया। रामानुज आदि भक्ति-सम्प्रदाय के आचार्यों ने भी हिन्दू-धर्म के प्रभाव को बढ़ाया। राजपूत काल में राजपूत राजाओं और सामन्तों ने भी

हिन्दू-धर्म को ही अपना कर उसे प्रोत्साहन दिया। हिन्दू-धर्म की प्रभाव-वृद्धि के कारण भी बौद्ध-धर्म का उत्तरोत्तर ह्रास होने लगा। हिन्दू-धर्म ने बुद्ध को विष्णु का अवतार मानकर बौद्ध-धर्म को आत्मसात् कर लिया। इस प्रकार बौद्ध-धर्म भारत के अधिकांश भाग में हिन्दू धर्म में विलीन हो गया। बौद्ध-धर्म के लिये १२ वीं शताब्दी में तुर्कों का आक्रमण भी घातक सिद्ध हुआ। उन्होंने नालन्दा आदि बौद्ध मठों और विहारों को विनष्ट कर दिया। बहुत से भिक्षु तिब्बत भाग गये।

बौद्ध-धर्म की सांस्कृतिक देन

भारतीय संस्कृति के विविध अङ्गों तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण के निर्माण में बौद्ध-धर्म का बहुत बड़ा हाथ रहा। बौद्ध-धर्म ने राजनीतिक क्षेत्र में अशोक आदि सम्राटों को लोक-कल्याण, अहिंसा तथा धर्म-सहिष्णुता का आदर्श प्रदान किया। अशोक (२७३-२३२ ई० पू०) ने जनता के लाभार्थ निःशुल्क औषधालय खोले तथा जन-कल्याण-संबंधी अन्य कार्य किये। उसने युद्ध को त्याग कर शान्ति की नीति अपनाई तथा संगठित और सुव्यवस्थित रूपसे जनता की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिये भी प्रयत्न किया। बौद्ध-धर्म ने धार्मिक क्षेत्र में धर्म-सहिष्णुता और बौद्धिक स्वतंत्रता के आदर्शों की प्रतिष्ठा की तथा मूर्ति पूजा का व्यापक प्रचार किया। बौद्ध संघ-व्यवस्था का निर्माण प्रजातन्त्र-प्रणाली पर था। इस व्यवस्था का प्रभाव बाद के हिन्दू धर्म के मठों और धर्म-संस्थाओं पर पड़ा। अनेक हिन्दू मठ और संन्यासी सम्प्रदायों के अखाड़े आज भी विद्यमान हैं। बौद्ध-धर्म के कारण भारतीय दर्शन और तर्कशास्त्र की भी प्रचुर उन्नति हुई। शून्यवाद और विज्ञानवाद का विकास हुआ। इन दोनों दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रभाव शंकराचार्य के वेदान्त-दर्शन पर भी पड़ा जिसमें भारतीय दार्शनिक प्रतिभा का चरम विकास दृष्टिगोचर होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि वेदान्त में मायावाद का विकास बौद्ध दर्शन के प्रभाव से ही हुआ। मायावाद का अर्थ है कि जगत मिथ्या है और केवल ब्रह्म ही सत्य है। इस धर्म के कारण शिक्षा तथा पाली और संस्कृत-साहित्य की भी विशेष उन्नति हुई। नालन्दा और विक्रमशिला आदि बौद्ध-मठ शताब्दियों तक विश्वविद्यालय के रूप में बने रहे जिनमें एशिया के सुदूर देशों से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिये आते थे। भारतीय कला के क्षेत्र में भी बौद्ध-धर्म की अनुपम देन है। इस धर्म की प्रेरणा से भारतीय वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला का विकास हुआ। साँची और सारनाथ के स्तूप, अजन्ता की गुफायें और उनकी चित्रकला, अनेक अजायबघरों में सुरक्षित बुद्ध और बोधिसत्वों की भव्य मूर्तियाँ, ये सब बौद्ध-धर्म की ही देन हैं। प्रथम और द्वितीय शताब्दी में इस धर्म की महायान शाखा ने मूर्तिकला के क्षेत्र में गन्धार, मथुरा और अमरावती शैलियों का विकास

किया। भारतीय जीवन में अहिंसा, जीव-दया, परोपकार, सहिष्णुता, नैतिकता, विश्व-बन्धुत्व, मानव-कल्याण आदि सांस्कृतिक आदर्शों के विकास के पीछे इस धर्म का बड़ा हाथ है। बुद्ध ने जाति-प्रथा का विरोध कर मानव-समानता के आदर्श का भी प्रतिपादन किया था। बाद में बौद्ध-धर्म का भारत में ह्रास हो गया पर उसका प्रभाव जन-जीवन में व्याप्त हो चुका था। वैष्णव-धर्म ने बौद्ध-धर्म को आत्मसात् किया और उस पर बौद्ध-धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा।

बौद्ध-धर्म ने शक, पार्थियन, कुषाण आदि विदेशियों को भी भारतीय संस्कृति के रंग में रँगा। इस धर्म के प्रसार के साथ विदेशों—चीन, जापान, लंका, वर्मा आदि देशों—में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। भारत का सम्पर्क एशिया के अन्य देशों के साथ स्थापित हुआ और भारत उनका सांस्कृतिक आदर्श बन गया। इस प्रकार बौद्ध-धर्म एशिया में सदियों तक एक सांस्कृतिक शक्ति के रूप में विद्यमान रहा। आज भी विश्व का एक तिहाई भाग बौद्ध-धर्म का अनुयायी है।

आज कुछ भारतीय एवं विदेशी विद्वान यह सोचने लगे हैं कि बौद्ध-धर्म की नैतिकता, विश्व-बन्धुत्व, विश्व-शान्ति और मानववाद के आदर्शों के आधार पर विश्व में एक नवीन सांस्कृतिक व्यवस्था का निर्माण हो सकता है। एशिया के अधिकांश भाग में प्राचीन और मध्य युग में बौद्ध-धर्म ने विश्व-शान्ति के आदर्श की प्रतिष्ठा का सफल प्रयत्न किया। आज भी भौतिकवाद एवं विनाशकारी अस्त्रों से संत्रस्त विश्व बौद्ध-धर्म के सन्देश के महत्त्व को समझने लगा है। इधर कुछ वर्षों से महाबोधि संस्था भारत में बौद्ध-धर्म के पुनरुत्थान का सफल प्रयास कर रही है। इसका प्रभाव विश्व के अन्य देशों पर भी पड़ रहा है। भारत सरकार भी बौद्ध-धर्म के आदर्शों से प्रेरणा ले रही है। राष्ट्रीय झण्डे पर जिस चक्र को स्थान दिया गया है वह बौद्ध-धर्म का एक प्रतीक है। विश्व-शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव की स्थापना के निमित्त भारत सरकार ने पंचशील के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। पंचशील बौद्ध-धर्म का शब्द है और इसके पीछे बौद्ध-धर्म के ही आदर्श हैं।

जैन-धर्म

छठीं शताब्दी ईसा पूर्व में निवृत्तिपरक धार्मिक आन्दोलनों के काल में जैन-धर्म का भी उत्थान हुआ। पर जैन-धर्म की परम्परा पहले से ही विद्यमान थी। इस काल में जैनों के सबसे प्रसिद्ध तीर्थंकर (गुरु अथवा पथ-प्रदर्शक) वर्धमान महावीर का जन्म हुआ। ये इस धर्म के २४ वें तीर्थंकर माने जाते हैं। इनके कारण जैन-धर्म का पुनरुत्थान हुआ। छठीं शताब्दी ईसवी पूर्व में जैन धर्मावलम्बियों को निर्ग्रन्थ भी कहते थे। पहले विद्वानों का मत था कि जैन-धर्म वैदिक-धर्म के एक सुधारवादी

आन्दोलन के रूप में उत्पन्न हुआ था[१]। पर अब यह सिद्ध हो गया है[२] कि जैन-अथवा निर्ग्रन्थ धर्म अवैदिक श्रमणधारा से उत्पन्न हुआ था जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। श्रमणों की भाँति जैन या निर्ग्रन्थ भी नास्तिक थे; कर्म तथा आवागमन के सिद्धान्त में इनका विश्वास था और संसार के प्रति इनका भी दृष्टिकोण निराशावादी था। श्रमणों की भाँति ये भी तपस्या को अधिक महत्त्व देते थे। इन सब समानताओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि जैन-धर्म अवैदिक श्रमण धारा से उद्भूत हुआ। पर वैदिकधारा का भी इसके ऊपर कुछ प्रभाव पड़ा।

जैन-धर्म के तीर्थंकर : पार्श्वनाथ और महावीर—जैन-धर्म के सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभ माने गये हैं। इनके पश्चात् २३ तीर्थंकर और हुये। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता सिद्ध हो चुकी है। इनका काल आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है। पार्श्वनाथ के चार प्रमुख उपदेश थे—अहिंसा, सत्य-भाषण, अस्तेय (चोरी न करना) और अनासक्ति (सम्पत्ति-त्याग और ब्रह्मचर्य)। ये चार प्रतिज्ञायें कहलाती हैं। इनके अनुसार भूततत्व (matter) नित्य है, संयम द्वारा कर्मों का प्रवाह बन्द होता है और तपस्या से संचित कर्म जिनके कारण बन्धन उत्पन्न होता है, नष्ट हो जाते हैं।

वर्धमान महावीर (५९९-५२७ ई० पूर्व)—वर्धमान महावीर का जन्म ५९९ ई० पू० के लगभग उत्तरी बिहार के वर्तमान मुजफ्फरपुर जिले में वैशाली के समीप कुण्डग्राम में हुआ था। उनका भी जन्म एक राजवंश में हुआ था। ३० वर्ष की आयु में उन्होंने गृहस्थ जीवन त्यागकर संन्यासियों का कठोर व्रत ग्रहण कर लिया। इसके १२ वर्ष बाद उन्हें कैवल्य-ज्ञान प्राप्त हुआ। इस प्रकार उन्हें सुख-दुख से मुक्ति मिल गई और वे 'जिन' (आध्यात्मिक विजय प्राप्त करने वाले) कहलाये। 'जिन' से ही 'जैन' शब्द बना है जिसका अर्थ है 'जिन' के अनुयायियों का धर्म। इसके बाद ३० वर्ष तक वे कोशल, मगध और पूर्व के प्रदेशों में घूम-घूम कर अपने धर्म का प्रचार करते रहे। ५२७ ई० पू० ७२ वर्ष की अवस्था में वर्तमान पटना जिले के पावापुरी नामक स्थान में इन्होंने शरीर-त्याग किया।

महावीर के कार्य—महावीर ने जैन-धर्म के सिद्धान्तों को सुव्यवस्थित किया। उन्होंने जैन-संघ[३] में कुछ सुधार भी किये। ब्रह्मचर्य को अलग मानकर उन्होंने पार्श्व की चार प्रतिज्ञाओं में एक प्रतिज्ञा और बढ़ा दी। उन्होंने पापों को स्वीकार करने का भी नियम बनाया। पार्श्व ने साधुओं के लिये श्वेत वस्त्र का विधान किया था पर महावीर ने नग्न रहने का आदेश किया।

---

१. Louis Renou, Religions of India.

२. G. C. Pande, Studies in the Origins of Buddhism.

३. बौद्ध-संघ की भाँति जैन साधुओं का भी संघ था।

बुद्ध की भाँति महावीर ने भी वेदों की अपौरुषेयता को नहीं माना और वैदिक कर्मकाण्ड (यज्ञों के विधान) का विरोध किया।

जैनधर्म के सिद्धान्त—सम्यक् चारित्र्य, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन जैन-धर्म के त्रिरत्न हैं। सम्यक् चारित्र्य अहिंसा, सत्य-भाषण, अस्तेय, अनासक्ति और ब्रह्मचर्य, इन्हीं पाँच प्रतिज्ञाओं को कहते हैं। ये साधु और श्रावक (साधारण उपासक) दोनों के लिये आवश्यक थीं। जैन-धर्म में अहिंसा के ऊपर बहुत अधिक बल दिया गया है क्योंकि जीवों का अस्तित्व कण-कण में माना गया है। सम्यक् ज्ञान सत्य के संदेह-रहित और भ्रान्ति-रहित ज्ञान को कहते हैं। सम्यक् दर्शन जैन-धर्म और दर्शन के सात तत्त्वों में विश्वास है। ये सात तत्त्व जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष हैं।

जैन मत के अनुसार विश्व-ब्रह्माण्ड अनादि है। इसमें उत्थान और पतन के युग आते रहते हैं पर कभी प्रलय नहीं होता। संसार जीव तथा अजीव इन दो नित्य एवं स्वतन्त्र तत्त्वों के संयोग का ही परिणाम है। जीव चेतन तत्त्व है और अजीव जड़ तत्त्व। यहाँ जीव का अर्थ उपनिषदों के परम आत्मा से नहीं बल्कि वैयक्तिक आत्मा से है। जीव मनुष्यों और जानवरों में ही नहीं बल्कि पेड़-पौधों, पत्थरों और पानी में भी हैं। अजीव की पाँच कोटियाँ हैं—पुद्गल (भूततत्त्व), काल, आकाश, धर्म और अधर्म। धर्म और अधर्म क्रमशः अगतिशीलता और गतिशीलता की अवस्थायें हैं। समस्त भौतिक पदार्थ परिमाणुओं द्वारा निर्मित माने गये हैं।

जीव अपने शुद्ध रूप में स्वयंप्रकाश, सर्वज्ञ और आनन्दमय रहता है। विश्व-ब्रह्माण्ड में जीवों की संख्या अनन्त है और सभी समान हैं। पर कर्मों से लिप्त होने के कारण उनमें अन्तर आ जाता है। उनके आकार भी भिन्न हो जाते हैं। कर्म सूक्ष्मतम भूततत्त्व (matter) हैं जो परमाणु के रूप में रहते हैं। ये स्वयंप्रकाश जीव को आच्छादित कर तथा उससे घुल-मिलकर उसे मन्द बना देते हैं। जैन-धर्म में कर्म की भावना अन्य धर्मों से भिन्न है। बौद्ध-धर्म में कर्म इच्छा द्वारा किये गये कार्य को कहते हैं। हिन्दू धर्म में कर्म को एक अभौतिक शक्ति के रूप में मानते हैं जो पूर्व-कर्मों के प्रभाव से क्रियाशील रहती है। पर जैन-धर्म में कर्म को सूक्ष्मतम भूततत्त्व के रूप में मानते हैं। राग, द्वेष, रति, मोह आदि से प्रेरित मनुष्य की अनेक सांसारिक क्रियाओं द्वारा कर्मों का प्रवाह जीव की ओर चलता रहता है और वह उनसे आच्छादित होता रहता है। कर्मों के जीव की ओर प्रवाह को 'आस्रव' कहते हैं। कर्मों से आच्छादित होकर वह बन्धन (बन्ध) में पड़ता है और शरीर धारण करता है; इस प्रकार आवागमन का चक्र चलता रहता है।

संसार के बन्धन अर्थात् आवागमन (Transmigration) के चक्र से छुटकारा पाने के लिये दो बातें आवश्यक हैं। एक तो यह कि कर्मों के जीव की

और नये प्रवाह को रोका जाय; दूसरे, जो कर्म पहले ही जीव को आच्छादित कर चुके हैं उन्हें हटाया जाय। संयम तथा सदाचार से नवीन कर्मों का प्रवाह रुक जाता है। कर्मों का प्रवाह रोकने को 'संवर' कहते हैं। कठोर तपस्या द्वारा पहले के कर्म जो जीव को आच्छादित कर चुके हैं, अलग हटाये जा सकते हैं। तपस्या द्वारा कर्मों के अलग हटाने को 'निर्जरा' कहते हैं। जब जीव कर्मों से बिलकुल मुक्त हो जाता है तो उसे मोक्ष मिल जाता है और जीव अपने मौलिक विशुद्ध रूप को प्राप्त कर लेता है। इस धर्म में मोक्ष के लिये कठोर तप आवश्यक माना गया है।

जैन मत के अनुसार परमतत्त्व विषयक हमारा ज्ञान सापेक्ष होता है। परमतत्त्व अनेकान्त है और उसकी व्याख्या पूरी तौर से नहीं हो सकती। इस परमतत्त्व के सापेक्ष स्वभाव को सप्तभङ्गी नय द्वारा व्यक्त किया गया है। इसके सात क्रमिक पद हैं इसीलिये इसे सप्तभंगी नय कहते हैं। इस नय की योजना इस प्रकार है :—

(१) स्यादस्ति—सम्भवतः परमतत्त्व या कोई भी अन्य वस्तु है।
(२) स्यान्नास्ति—सम्भवतः वह न हो।
(३) स्यादस्ति च नास्ति च—सम्भवतः वह हो और न भी हो।
(४) स्यादवक्तव्य—सम्भवतः वह अवक्तव्य हो।
(५) स्यादस्ति च अवक्तव्य—सम्भवतः वह हो और अवक्तव्य (जिसका विवेचन न हो सके) हो।
(६) स्यान्नास्ति च अवक्तव्य—सम्भवतः वह नहीं भी हो और अवक्तव्य भी हो।
(७) स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्य—सम्भवतः वह हो भी, नहीं भी हो और अवक्तव्य हो।

इस प्रकार जैन-धर्म के अनुसार परमतत्त्व के सम्बन्ध में अनेक धारणायें हो सकती हैं। पर प्रत्येक धारणा केवल उसके एक स्वरूप का निर्देश करती है और कोई भी धारणा पूर्णतया ठीक नहीं है। सप्तभङ्गी नय को स्याद्वाद और अनेकान्तवाद भी कहते हैं।

कुछ विद्वानों के अनुसार इस नय में दार्शनिक एवं धार्मिक उदारता और सहिष्णुता की भावना है। पर कुछ अन्य विद्वान् इसमें संशयवाद की झलक पाते हैं।

जैन-धर्म का विकास और प्रसार—महावीर की मृत्यु के पश्चात् जैन-धर्म में विभेद उत्पन्न होने लगे। जैन संघ की व्यवस्था जटिल होने लगी; जैन धर्मावलम्बी मगध से पश्चिम और दक्षिण की ओर बढ़ने लगे और धार्मिक सिद्धान्तों में भी विकास होने लगा। पर इस धर्म में रूढ़िवादिता अधिक थी, इसीलिये विकास अधिक नहीं हुआ और धर्म का प्राचीन रूप ही अधिकांशतः बना रहा।

कालान्तर में जैन-धर्म दो शाखाओं—श्वेताम्बर और दिगम्बर—में विभक्त हो

गया। कुछ विद्वानों के अनुसार यह विभेद प्रथम शताब्दी में उत्पन्न हुआ। दोनों सम्प्रदायों में अधिक भेद नहीं है।

(१) दिगम्बरों के अनुसार आदर्श साधु भोजन नहीं ग्रहण करता।

(२) दिगम्बर साधु पूर्ण रूप से सम्पत्ति-त्याग में विश्वास करते हैं; ये वस्त्र भी नहीं धारण करते।

(३) इनके अनुसार स्त्री के लिये मोक्ष नहीं सम्भव है।

(४) दिगम्बर श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के धर्म-ग्रन्थों को भी नहीं मानते।

बाद में दिगम्बर सम्प्रदाय का ह्रास होने लगा और श्वेताम्बरों का प्रभाव अधिक हो गया।

जैन-धर्म समस्त भारत में फैल गया। नवीं शताब्दी में राष्ट्रकूटों के राजत्व-काल में दक्षिण में इस धर्म की उन्नति हुई। ११ वीं और १२ वीं शताब्दियों में गुजरात और राजपूताने में इस धर्म का अधिक प्रभाव था।

जैन-धर्म के सिद्धान्तों को क्रमबद्ध और सुव्यवस्थित करने में इस धर्म की दो महासभाओं का विशेष हाथ है। पहली महासभा पाटलिपुत्र में चतुर्थ शताब्दी ई० पूर्व में हुई। द्वितीय महासभा छठीं शताब्दी में वलभी में हुई। इस सभा में जैन-धर्म के सिद्धान्तों का जो रूप निश्चित किया गया वही आज तक विद्यमान है। ये धर्म सभायें श्वेताम्बरों की थीं। जैन-धर्मग्रन्थों को आगम कहते हैं। दिगम्बरों के अनुसार उनके धर्म-ग्रन्थ प्रथम शताब्दी में लिखे गये।

आज भी जैन धर्मावलम्बियों की संख्या लगभग १३ लाख है। जैन तीर्थंकरों की पूजा अन्य धर्मों के देवताओं की ही भाँति होती है। मूर्ति-पूजा भी होती है। पर जैन धर्म में नास्तिकता सदैव से ही विद्यमान रही है; जैन धर्मावलम्बी ईश्वर को नहीं मानते।

जैन-धर्म की सांस्कृतिक देन—जैन-धर्म भारत तक ही सीमित रहा। भारत में भी यह कभी सबसे अधिक प्रभुत्वशाली धर्म नहीं रहा। पर इस धर्म की भी सांस्कृतिक देन महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न कालों में जैन विद्वानों ने लोक भाषाओं में ग्रन्थ लिखे। इससे लोक भाषाओं के साहित्य समृद्ध हुये। प्राकृत भाषाओं के विकास में जैन विद्वानों के कार्य महत्त्वपूर्ण हैं। राजपूत काल (७००-१२०० ई०) में हेमचन्द्र आदि जैन आचार्यों तथा मुनियों ने विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थ प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में लिखे। दक्षिण में इन्होंने कन्नड़ भाषा और साहित्य की अभिवृद्धि की। संस्कृत भाषा में भी बहुत से जैन-ग्रन्थ लिखे गये, पर प्रादेशिक भाषाओं के विकास में जैन विद्वानों को अत्यधिक श्रेय है। अपभ्रंश से ही आधुनिक हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं का विकास हुआ।

कला के क्षेत्र में भी जैन धर्म ने प्रेरणा प्रदान किया। मध्य भारत, सौराष्ट्र और राजस्थान में अनेक भव्य जैन मन्दिर आज भी विद्यमान हैं। इन मन्दिरों में तीर्थंकरों की कलापूर्ण मूर्तियाँ हैं। राजस्थान में आबू पर्वत पर देलवाड़ा के समीप जो ११ वीं शताब्दी के जैन मन्दिर बने हुये हैं उनमें भारतीय कला का सौंदर्य अपनी पराकाष्ठा पर मिलता है।

प्राचीन हस्तलिखित जैन-ग्रन्थों पर चित्रकला के भी उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं।

जैन-दर्शन का सप्तभंगी नय एक उदार और सामञ्जस्यपूर्ण सांस्कृतिक दृष्टिकोण भी प्रदान करता है। कोई मत या विचार केवल सत्य के एक स्वरूप को व्यक्त कर सकता है और वह पूर्णत्व का दावा नहीं कर सकता। सत्य के सम्बन्ध में इस प्रकार अनेक मत सम्भव हो सकते हैं जो सभी आंशिक रूप से ठीक हों। जब यह भावना दृढ़ हो जाय तो संसार में अनुदारता, द्वेष, संघर्ष आदि बहुत कुछ कम हो जायँ।

दार्शनिक सम्प्रदाय

भारत में दार्शनिक परम्परायें धर्म से अलग नहीं थीं। अतः धर्म के सम्बन्ध में ही इनका विवेचन समीचीन होगा।

दार्शनिक सम्प्रदायों की संख्या साधारणतया छः मानी जाती है। इनके नाम सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा अर्थात् वेदान्त हैं।

इन छः दार्शनिक सम्प्रदायों के अतिरिक्त देहात्मवाद (Materialism) बौद्ध-दर्शन और जैन-दर्शन भी हैं जो नास्तिक कहे जाते हैं क्योंकि इन्होंने वेदों को प्रमाण स्वरूप कभी नहीं माना। बौद्ध और जैन दर्शन के सम्बन्ध में पहले ही विचार किया जा चुका है। देहात्मवाद के अनुसार आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, परलोक आदि का कोई अस्तित्व नहीं है। भूमि, जल, अग्नि, वायु आदि तत्त्वों के अतिरिक्त संसार में कुछ नहीं है। इन्हीं के सम्मिश्रण से शरीर, चेतनाशक्ति और बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। इस मत के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य सांसारिक आनन्द और भोग-विलास है। परम्परा के अनुसार देहात्मवाद के प्रवर्तक चार्वाक थे, इसीलिए इसे चार्वाक मत भी कहते हैं। इसका अधिक प्रभाव इस देश में कभी नहीं रहा।

इन दार्शनिक सम्प्रदायों के मूल अति प्राचीन काल में भी विद्यमान थे।

सांख्य-योग—सांख्य और योग परस्पर आश्रित हैं इसलिये इन दोनों के सम्बन्ध में एक साथ ही विचार करना आवश्यक है। सांख्य-योग की परम्परा प्राचीनतम दार्शनिक परम्पराओं में मानी जाती है। पहले विद्वानों का मत था कि सांख्य की उत्पत्ति वैदिक धारा से हुई। पर अवैदिक श्रमण विचारधारा और प्रारम्भिक सांख्य-दर्शनके साम्य के आधार पर अब यह निष्कर्ष निकला है कि सांख्य की भी उत्पत्ति

इसी अवैदिक धारा से हुई है।[१] सांख्य-दर्शन का सबसे प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ ईश्वरकृष्ण (दूसरी या पाँचवीं शताब्दी) की सांख्यकारिका है। पर परम्परा के अनुसार सांख्य-दर्शन के जन्मदाता कपिल थे। योग-दर्शन का प्राचीनतम ग्रन्थ पतञ्जलि (लगभग दूसरी शताब्दी ई० पूर्व) का योग-सूत्र है।

सांख्य-दर्शन में जड़तत्त्व और चेतनतत्त्व दोनों को परमार्थतः सत् माना गया है। जड़तत्त्व और चेतनतत्त्व दोनों समान रूप से और स्वतन्त्र रूप से सत्य तत्त्व हैं।

इस प्रकार सांख्य-दर्शन द्वैतवादी है। जड़-तत्त्व प्रकृति है और चेतनतत्त्व पुरुष। प्रकृति और पुरुष (आत्मा), ये दो इस दर्शन के आधारभूत तत्त्व हैं।

संसार का आदि कारण प्रकृति है जिसे 'प्रधान' और 'अव्यक्त' भी कहा गया है। प्रकृति के अस्तित्व का ज्ञान हमें केवल अनुमान द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। प्रकृति एक है पर सत्व, रज और तम, ये तीन गुण[२] इसके अवयवभूत तत्त्व (Component factors) हैं। इसीलिये प्रकृति में संश्लिष्टता है। प्रकृति इन तीन गुणों से मिलकर बनी है पर वह इन पर आश्रित नहीं है। वास्तव में इन तीनों गुणों का खिंचाव (tension) ही प्रकृति है जो कोई स्थिर सत्ता न होकर एक निरन्तर विकासमयी शक्ति के रूप में है। यह संसार प्रकृति से ही विकसित हुआ है। संसार की कोई भी वस्तु एकदम नवीन रूप में अस्तित्व में नहीं आती बल्कि मूल तत्त्व प्रकृति से ही विकसित होती है; कार्य कारण में बीज रूप में अन्तर्निहित रहता है। प्रकृति से ही विकसित होने के कारण प्रत्येक वस्तु में तीनों गुण रहते हैं। प्रत्येक सृष्टि-काल के पश्चात् प्रलय-काल आता है जब प्रकृति 'सोने चली जाती है' और संसार की सम्पूर्ण विविधता अव्यक्त हो जाती है। इस अवस्था में भी प्रकृति के तीनों गुण परस्पर एक दूसरे के प्रति क्रियाशील रहते हैं। प्रलय के बाद सृष्टि का दूसरा चक्र आता है। यह क्रम इस प्रकार चलता रहता है।

प्रलयकाल में जब प्रकृति साम्यावस्था में रहती है तो पुरुष के सान्निध्य (सामीप्य अथवा दृष्टि) से गुणों में क्षोभ उत्पन्न होता है और प्रकृति का विकास प्रारम्भ हो जाता है। प्रकृति से संसृत होनेवाले पदार्थ इस प्रकार हैं—

---

१. Dr. G. C. Pande Studies in the Origins of Buddhism, p. 305 ff.

२. सत्व प्रत्येक शुद्ध पदार्थ का सूचक है; रज क्रिया-प्रवर्तक है और तम मोह एवं प्रतिबन्ध उत्पन्न करता है।
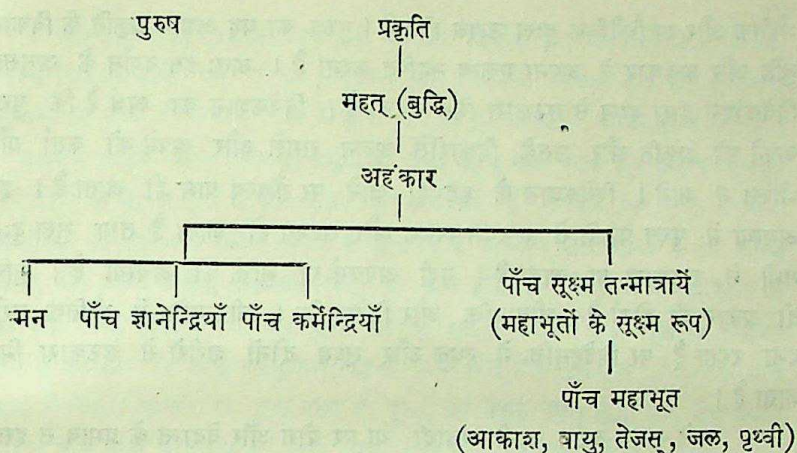
प्रकृति से सर्वप्रथम महत् या बुद्धि संसृत होती है और उससे अहंतत्त्व अथवा अहंकार का उदय होता है। फिर सात्विक अहंकार से मन और इन्द्रियाँ विकसित होती हैं तथा तामस अहंकार से पाँच तन्मात्रायें और पाँच महाभूत संसृत होते हैं। यह प्रारम्भिक विकास है जिससे २३ तत्त्व उत्पन्न होते हैं। पुरुष और प्रकृति को भी लेकर कुल २५ तत्त्व इस दर्शन में माने गये हैं। महाभूतों के बाद पर्वत, वृक्ष, जीवधारियों के भौतिक शरीर आदि उत्पन्न होते हैं जो गौण परिणाम हैं। सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति के इस विकास का प्रयोजन पुरुष को भोग और अन्त में अपवर्ग (मुक्ति) प्राप्त कराना है।

सांख्य दर्शन में आत्मा को पुरुष कहा गया है। पुरुष चेतन तत्त्व है। पुरुष अनेक माने गये हैं। पुरुषकी भावना प्रकृति की भावना के विपरीत है। प्रकृति परिवर्तनशील, सक्रिय, अचेतन तथा संश्लिष्ट है। इसके विपरीत, पुरुष अविकारी, निष्क्रिय, चेतन और सामान्य है। पुरुष शरीर, इन्द्रियों मन और बुद्धि जो प्रकृति के विकार हैं, उनसे भिन्न है। वह न तो कर्ता है न भोक्ता। उसकी ही चेतनता मन और बुद्धि में प्रतिबिम्बित होती है।

जब पुरुष प्रकृति के विकार, बुद्धि और अहंकार से अपना एकत्व अविवेकवश स्थापित कर देता है तो वह अपने को कर्ता और भोक्ता समझने लगता है तथा बन्धन में पड़ जाता है। फिर वह नाना प्रकार के कर्म करता जाता है और उनके प्रभाव से दुःख तथा आवागमन के चक्र में पड़ा रहता है। पुरुष जब बन्धन में रहता है तब जीव कहलाता है। प्रत्येक जीव का एक स्थूल तथा एक सूक्ष्म या लिंग शरीर रहता है। लिंग शरीर के साथ ही जीवात्मा कर्मों के प्रभाव से मृत्यु के बाद पुनर्जन्म धारण करता है।

अविवेक अथवा अज्ञान ही बन्धन का कारण है, जिससे आध्यात्मिक, आधि-

भौतिक और आधिदैविक दुःख उत्पन्न होते हैं। पुरुष का यह अज्ञान प्रकृति के विकार, बुद्धि और अहंकार से अपना एकत्व स्थापित करना है। अतः इस दर्शन के अनुसार विवेकज्ञान द्वारा दुःख से छुटकारा मिल सकता है। विवेकज्ञान का अर्थ है कि पुरुष अपने को प्रकृति और उसके विकारोंसे अलग समझे और अपने को कर्ता और भोक्ता न माने। विवेकज्ञान के दृढ़ हो जाने पर कैवल्य प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में पुरुष प्रकृति से एकदम अलग और तटस्थ हो जाता है तथा सुख-दुःख सभी से छुटकारा पा जाता है। यही अपवर्ग या मुक्ति की अवस्था है। मुक्ति दो प्रकार की होती है—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति में भौतिक शरीर बना रहता है पर विदेहमुक्ति में स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों से छुटकारा मिल जाता है।

पहले सांख्य-दर्शन अनीश्वरवादी था पर योग और वेदान्त के प्रभाव से इसमें ईश्वर की भावना का समावेश हुआ और यह माना गया कि ईश्वर के ही सान्निध्य से प्रकृति का विकास होता है।

योग—सांख्य-दर्शन में सैद्धान्तिक पक्ष ही अधिक है। कैवल्य प्राप्त करने के लिये जिन व्यावहारिक साधनाओं की आवश्यकता होती है उनका विवेचन पतंजलिके योग-दर्शन में मिलता है। वैराग्य और योग (ध्यान) मुक्ति के लिये आवश्यक माने गये हैं। यम ओर नियम का पालन प्रारम्भिक नैतिक साधना मानी गई है। यम के पाँच अङ्ग हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (सम्पत्ति त्याग)। नियम भी पाँच हैं—शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर-भक्ति)। इसके पश्चात् योग की प्रधान साधना आती है। आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार (इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाना) इसकी पहली सीढ़ी है। फिर धारण (मन को किसी वस्तु पर स्थिर करना), ध्यान (उसी वस्तु का अटूट ध्यान करना) और समाधि (मन की पूर्ण एकाग्रता) उच्चतम साधनायें हैं। समाधि भी दो प्रकार की होती है—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। पहली समाधि में बुद्धि किसी न किसी रूप में क्रियाशील रहती है पर दूसरी में बुद्धि की क्रियाशीलता बन्द हो जाती है। असम्प्रज्ञात समाधि से ही कैवल्य प्राप्त होता है।

योग की क्रियाओं द्वारा मनुष्य की शक्तियाँ व्यवस्थित हो जाती हैं और पुरुष-तत्त्व की पुनः प्रतिष्ठा होती है। योग भारतीय साधना की एक महान् देन है। योग की क्रियाओं को अनेक धार्मिक सम्प्रदायों ने अपनाया।

न्याय-वैशेषिक—न्याय और वैशेषिक भी परस्पर सम्बन्धित है। न्याय-दर्शन के प्रणेता गौतम मुनि माने जाते हैं जिन्होंने न्याय सूत्रों (तृतीय शताब्दी ई० पूर्व) में इस दर्शन का विवेचन किया है। कणाद ने अपने वैशेषिक सूत्र में वैशेषिक दर्शन का प्रतिपादन किया है। यह दर्शन भी न्याय की ही भाँति प्राचीन है।

न्याय शब्द का सामान्य अर्थ 'तर्क' अथवा 'निर्णय' है। न्याय-दर्शन में यथार्थ-ज्ञान के लिये विचारों की उचित योजना का निरूपण मिलता है। इस दर्शन के अनुसार १६ तत्त्वों के सम्यक् ज्ञान के द्वारा अपवर्ग या मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इन तत्त्वों में प्रमाण और प्रमेय ही प्रमुख हैं तथा अन्य सब गौण हैं। प्रमाण सम्यक्-ज्ञान-प्राप्ति के साधन हैं। ये चार प्रकार के माने गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। इन्द्रियों तथा उनके विषयों के सन्निकर्ष से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है, जैसे आँख से देख कर किसी वस्तु का ज्ञान होना। योगियों में प्रत्यक्ष ज्ञान की अलौकिक शक्ति रहती है। वे परमाणुओं का भी प्रत्यक्ष कर लेते हैं। धूम्र को देखकर अग्नि के अस्तित्व का ज्ञान अनुमान द्वारा प्राप्त ज्ञान है। उपमान समानता और तुलना है जिसके आधार पर एक वस्तु से दूसरी का ज्ञान प्राप्त होता है। वेद आदि ग्रन्थों से प्राप्त ज्ञान शब्द-प्रमाण द्वारा प्राप्त ज्ञान है। वैशेषिक दर्शन में केवल प्रत्यक्ष और अनुमान, इन दो प्रमाणों को ही स्वीकार किया गया है।

प्रमेय प्रमाण-ग्राह्य (जानने योग्य) पदार्थ और तत्त्व हैं जिनकी संख्या न्याय-दर्शन के अनुसार १२ हैं—

आत्मा, शरीर, इन्द्रियाँ, अर्थ (भोग्य पदार्थ), बुद्धि, मन, प्रवृत्ति (मन, वचन और शरीर के व्यापार), दोष (जिनके कारण सांसारिक कर्मों में प्रवृत्ति होती है), पुनर्जन्म, फल (सुख या दुःख का अनुभव), दुःख और अपवर्ग (मोक्ष अर्थात् दुःख से छुटकारा)। वैशेषिक दर्शन में प्रमेय पक्ष का विवेचन अधिक विस्तारपूर्वक किया गया है। इसके अनुसार पदार्थ छः प्रकार के होते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय (Inherence) जैसे पट में तन्तु का सम्बन्ध। बाद में अभाव को सातवाँ पदार्थ माना गया। द्रव्य के नौ भेद हैं—भू (पृथ्वी), जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। गुण चौबीस माने गये हैं जैसे—स्पर्श, रूप, रस गन्ध आदि।

इन दर्शनों के अनुसार भी आत्मा शरीर और मन से भिन्न है। वह नित्य तथा सर्वव्यापक (विभु) है। जैन और सांख्य दर्शन की भाँति यहाँ भी आत्मा को अनेक माना गया है। पर यहाँ चैतन्य को आत्मा का तत्त्व या उसका नित्य लक्षण नहीं माना गया है। मन के सम्बन्ध से ही आत्मा को चैतन्य गुण और ज्ञान प्राप्त होते हैं। मन एक सूक्ष्म, अविभाज्य तथा नित्य तत्त्व है जो अणु के रूप में रहता है। यह आत्मा के लिये ज्ञान, और सुख-दुःख की अनुभूति का साधन है। शरीर अन्य भौतिक पदार्थों की भाँति परमाणुओं द्वारा निर्मित होता है।

न्याय तथा वैशेषिक दोनों के अनुसार आत्मा का मन और शरीर के साथ संयुक्त होना ही दुःख का करण है। मिथ्याज्ञान तथा उससे उत्पन्न राग, द्वेष और मोह से प्रेरित हो आत्मा अच्छे और बुरे कर्मों को करता है और कर्मों के प्रभाव से दुःख

तथा आवागमन के बन्धन में पड़ जाता है। अपवर्ग या मोक्ष तत्त्वज्ञान अर्थात् सत्य के सम्यक् ज्ञान द्वारा मिल सकता है। मोक्ष में दुःखों और कष्टों से छुटकारा मिल जाता है। यह आनन्द की अनस्था नहीं है बल्कि केवल दुःखों से मुक्ति की अवस्था है। यही निःश्रेयस (जीवन का लक्ष्य) है। असंग भावना उत्पन्न करना, स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियों एवं इच्छाओं का दमन तथा परम सत्य का ध्यान, यही उस निःश्रेयस की ओर ले जाने वाली साधनायें हैं। इनसे अविद्या अथवा अज्ञान का उच्छेद होता है।

न्याय तथा वैशेषिक[१] दोनों में ईश्वर को सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं विनाश का आदि कारण मानते हैं। परमाणुवाद का सिद्धान्त दोनों दार्शनिक सम्प्रदायों में महत्त्वपूर्ण है पर वैशेषिक में इसका पूर्ण विवेचन है। इसका अर्थ है कि समस्त भौतिक पदार्थ परमाणुओं द्वारा निर्मित होते हैं। ये दोनों दर्शन अनेकवादी कहे जाते हैं क्योंकि इनके अनुसार अन्तिम अथवा परमार्थ सत्य एक नहीं बल्कि अनेक हैं। भौतिक परमाणु, काल, दिक्, आत्मा आदि सबकी स्वतंत्र सत्ता मानी जाती है।

न्याय-दर्शन की तर्क-पद्धति को अधिकांश दार्शनिक सम्प्रदायों ने ग्रहण किया।

पूर्व मीमांसा—इसके प्रणेता जैमिनि माने जाते हैं जिन्होंने मीमांसा-सूत्र की रचना की। इस शास्त्र में वैदिक कर्म-काण्ड की व्याख्या मिलती है। इसमें वेदों को ही धर्म का मूल माना गया है। जैमिनि ने वैदिक देवताओं की सत्यता को माना है पर सर्वोपरि ईश्वर के सम्बन्ध में वे मौन हैं। कुछ मीमांसक ईश्वर में विश्वास करते हैं पर कुमारिल (सातवीं शताब्दी) आदि के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। आत्मा एक नित्य एवं शाश्वत तत्त्व है पर चैतन्य उसका नित्य लक्षण नहीं है। शरीर से संयुक्त होने पर तथा बाह्य पदार्थोंके सामीप्य से ही आत्मा में चैतन्य गुण उत्पन्न होता है। इस शास्त्र में छः प्रमाण (सम्यक् ज्ञान के साधन) माने गये हैं। चार तो वही हैं जो न्याय में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अर्थापत्ति (Presumption) और अभाव को भी ज्ञान के साधन के रूप में माना है। इस शास्त्र के अनुसार कर्म का सिद्धान्त एक नैतिक सिद्धान्त है जो विश्व का नियमन करता रहता है। जब मनुष्य कोई कर्म करता है तो उसकी आत्मा में एक शक्ति उत्पन्न होती है जिसे 'अपूर्व' कहते हैं। यही अपूर्व भविष्य में उस कर्म का फल उत्पन्न करता है। इस प्रकार कर्म के फल का संचालन अपूर्व ही करता है। मीमांसा-शास्त्र के अनुसार नित्य, नैमित्तिक यज्ञादि के करने से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। पर मुक्ति की भावना यहाँ प्रारम्भ में अन्य दर्शनों की भाँति नहीं थी। मुक्ति का अर्थ स्वर्गलाभ था जहाँ आत्मा शुभ कर्मों का फल भोगता है। बाद में मुक्ति का अर्थ पूर्ण रूप से दुःख से छुटकारा माना गया।

मीमांसा-शास्त्र वस्तुवादी अर्थात् यथार्थवादी है; इसमें भौतिक जगत के अस्तित्व

---

१. कणाद के वैशेषिक सूत्र में ईश्वर का उल्लेख नहीं है पर बाद में ईश्वर की भावना का समावेश इस दर्शन में हो गया।

को स्वीकार किया गया है। इस शास्त्र में प्रधानतः वेद व उसके शब्द और ध्वनि की नित्यता का प्रतिपादन किया गया है। इसके अनुसार वेदमंत्र ही देवता हैं।

वेदान्त—उपनिषद्, भगवद्गीता और बादरायण का वेदान्त-सूत्र, यही तीनों वेदान्त-दर्शन के आधार हैं। दार्शनिकों तथा आचार्यों ने इनकी व्याख्या अपने-अपने ढंग से की और इस प्रकार वेदान्त की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ। साधारण रूप से वेदान्त की दो धारायें मानी जाती हैं—अद्वैतवाद और ईश्वरवाद। अद्वैतवाद में परम सत् ब्रह्म निर्विशेष (निर्गुण) तत्त्व के रूप में माना जाता है और ईश्वरवाद में सविशेष (सगुण) ईश्वर के रूप में। अद्वैत की धारा में शंकराचार्य अग्रगण्य हैं। रामानुज और मध्व ईश्वरवाद की परम्परा में आते हैं और इनके सम्प्रदायों को क्रमशः विशिष्टाद्वैत और द्वैत कहा जाता है।

शंकर का निर्विशेष अथवा अद्वैत वेदान्त—शंकर इस देश के महान् विचारकों में से हैं। वे दक्षिण में उत्पन्न हुए थे। उनका काल आठवीं शताब्दी के अन्त और नवीं शताब्दी के प्रारम्भ के लगभग (७८८-८२० ई०) माना जाता है।

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' यही शंकर के अद्वैत वेदान्त का सार है। इसका अर्थ है कि केवल ब्रह्म ही परम सत्य है और जगत् मिथ्या है। ब्रह्म सच्चिदानन्द[1] स्वरूप है जो रूप, गुण, सीमा तथा कार्य-कारण के सम्बन्ध से परे है। एकमात्र ब्रह्म ही है और उसमें किसी प्रकार की विविधता नहीं है। वह अनिर्वचनीय है। जिस तरह अँधेरे में रस्सी में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है उसी प्रकार ब्रह्म पर भ्रान्तिवश जगत का आरोप किया जाता है। जिस प्रकार रस्सी ही सत्य है और सर्प भ्रान्ति-मात्र है, उसी प्रकार केवल ब्रह्म ही सत्य है और जगत मिथ्या और भ्रान्ति है। एकमात्र सत्य ब्रह्म केवल जगत के रूप में ही नहीं प्रतिभासित होता बल्कि वही जीव के रूप में भी प्रतिभासित होता है। जगत का प्रतिभास मिथ्या है पर जीव का प्रतिभास उस प्रकार एक दम मिथ्या नहीं है, क्योंकि इसमें वही ब्रह्म अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के प्रत्याछन्न अथवा आवरण के कारण जीव के रूप में प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार, जैसे कि पीले शीशे के आवरण के कारण जिसका पता देखने वाले को न हो, एक श्वेत शंख पीला दिखाई देता है। रस्सी और साँप के उदाहरण में तो एक बिल्कुल दूसरी वस्तु साँप का प्रतिभास हो जाता है पर शीशे के आवरण वाले दृष्टान्त में वही वस्तु दूसरे लक्षणों के साथ प्रतिभासित होती है। जिस प्रकार शीशे की चादर के कारण शंख पीला प्रतीत होता है उसी प्रकार अन्तःकरण की भौतिक और इसलिये मिथ्या उपाधि के आवरण के कारण ब्रह्म अहंकार के रूप में प्रतीत होता है और यही जीव है। जिस तरह पीतता (पीलेपन) का निषेध कर देने से शंख का सत्य रूप प्रगट हो जाता है उसी तरह जीव के वैशिष्ट्य, अहंभाव तथा अन्य जीवों से उसके पार्थक्य

१. इसका अर्थ उपनिषदों के प्रकरण में देखिये।

का निषेध एवं निराकरण कर देने से उसका वास्तविक ब्रह्मरूप प्रगट हो जाता है। अतः शंकर के अनुसार वह स्वयं ब्रह्म ही है जो अन्तःकरण जैसी भौतिक जगत से सम्बन्ध रखने वाली उपाधियों के कारण जीव के रूप में प्रतिभासित होता है। इस प्रकार शंकर ने उपनिषदों के 'तत्त्वमसि' (तू वही है) या 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसका तात्पर्य है कि जीव ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

शंकर के दर्शन में माया का सिद्धान्त बहुत महत्त्वपूर्ण है। कहीं-कहीं उन्होंने मिथ्या जगत को ही माया कहा है। एक दूसरे स्थान पर माया को वह शक्ति माना है जिसके कारण जगत की भ्रान्ति उत्पन्न होती है तथा जीव का आभास होता है। प्रकृति को भी माया ही कहा है। माया को वह तत्त्व माना है जिसके द्वारा सगुण ईश्वर विश्व-ब्रह्माण्ड का विकास करता है। माया की दो शक्तियाँ मानी गई हैं—आवरण तथा विक्षेप। माया की आवरण-शक्ति के कारण जीव ब्रह्म से अपने एकत्व को भूल जाता है तथा जगत की विविधता को सत्य मान लेता है। प्रत्येक जीव के साथ माया अविद्या के रूप में लगी रहती है। माया की विक्षेप-शक्ति के द्वारा नाम-रूप मय जगत का प्रसार होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि शंकर के मायावाद पर बौद्ध-दर्शन का प्रभाव है।

शङ्कर के दर्शन को भलीभाँति समझने के लिए सत्य की उन तीन कोटियों का ज्ञान आवश्यक है जिनका उन्होंने विवेचन किया है। सत्य की कोटियाँ बौद्ध दर्शन—शून्यवाद और विज्ञानवाद—में भी थीं। उनसे शंकर के परमगुरु गौडपाद ने ग्रहण किया और उनका प्रभाव शङ्कर पर पड़ा। सत्य की तीन कोटियाँ इस प्रकार हैं—

(१) प्रतिभासिक सत्ता—भ्रान्तिमय आभास, जैसे स्वप्न इत्यादि।

(२) व्यावहारिक सत्ता—कार्य और कारण के नियमों द्वारा सञ्चालित व्यावहारिक जगत के भौतिक पदार्थ, जीव आदि।

(३) पारमार्थिक सत्ता—परम सत्य अर्थात् निर्गुण ब्रह्म।

पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है और सब उसी का विवर्त अर्थात् मिथ्या आभास है। व्यावहारिक दृष्टि से संसार की विविधता तथा जीव भी सत्य हैं क्योंकि ये साधारण अनुभव के आधार पर सत्य लगते हैं। इस दृष्टि से सगुण ईश्वर की भी सत्ता है जो संसार का निर्माण तथा उसका नियमन करता है। पर व्यावहारिक दृष्टि के सत्य तो साधारण मनुष्यों के लिए छूट के रूप में हैं। अन्ततोगत्वा निर्गुण ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। पर जगत भी न तो एकदम असत् है और न सत् ही है और इस प्रकार वह विलक्षण है (सदसद्विलक्षण)।[१]

१. जगत खरगोश की सींग की तरह असत् नहीं है जिसकी बिलकुल कोई सत्ता ही न हो; कम से कम व्यावहारिक दृष्टि से वह सत् लगता है। पर वह पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या आभास मात्र है और इसलिए सत् भी नहीं कहा जा सकता।

अन्य सम्प्रदायों की तरह शंकर के दार्शनिक सम्प्रदाय में भी जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष माना गया है। जीव स्वयं ब्रह्म ही है पर माया के व्यष्टि रूप अविद्या के कारण अनात्म तत्त्व अर्थात् प्रतिभासित होने वाली भौतिक उपाधियों से उसका तदाकार हो जाता है। फिर वह अपने को कर्ता एवं भोक्ता समझने लगता है और इस प्रकार कर्म, दुःख तथा आवागमन के बन्धन में पड़ता है। इस कारण तत्त्वज्ञान ही उनसे मुक्त होने का साधन है। तत्त्वज्ञान का अर्थ है कि जीव के सत्य स्वरूप को समझना और ब्रह्मसे उसके तादात्म्य का साक्षात् करना। ब्रह्म से आत्मा का यह कोई नया तादात्म्य नहीं होता, वह तो सदैव ही रहता है और उसे केवल साक्षात् करना रहता है। इसके लिये अपने प्रति और जगत के प्रति अपने दृष्टिकोण को पूर्णरूपसे परिवर्तित करना पड़ता है। तादात्म्य का साक्षात् कर लेने पर मुक्ति मिल जाती है। मुक्ति की अवस्था में आत्मा ब्रह्म ही हो जाता है और उसका कोई वैशिष्ट्य (individuality) नहीं रह जाता। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति की दो अवस्थायें इस दर्शन में भी मिलती हैं।

शङ्कर ने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये व्यावहारिक संयम का भी निर्देश किया है। उसमें वैराग्य की भावना को दृढ़ करना, अहंवादी प्रवृत्तियों को बदलना, निष्काम-कर्म, योग्य गुरु से वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करना, मनन और सत्य का ध्यान, ये प्रमुख हैं। शंकर के अनुसार मोक्ष ज्ञानमार्ग द्वारा ही सम्भव हो सकता है। कर्म-मार्ग इस लक्ष्य की प्राप्ति में केवल प्रारम्भिक सहायता प्रदान कर सकता है। भक्ति-मार्ग भी शंकर के अनुसार श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि इसमें उपासक और उपास्य का भेद बहुत समय तक बना रहता है, पर अन्ततोगत्वा यह भेद मिट जाता है और इस प्रकार भक्ति-मार्ग द्वारा भी सत्य का साक्षात्कार हो जाता है।

शङ्कर के दर्शन का प्रभाव आज भी भारतीय जीवन में दृष्टिगोचर होता है। शङ्कर में केवल विलक्षण दार्शनिक प्रतिभा ही नहीं थी अपितु उनमें धर्म-संगठन की भी महान् शक्ति थी। उनके स्थापित किये हुए मठ आज भी देश में विद्यमान हैं। ये मठ बद्रीनारायण, जगन्नाथपुरी, द्वारका और शृंगेरी (दक्षिण) में हैं। इन्होंने हिन्दू-धर्म के आदर्शों की पवित्रता को बनाये रखा तथा वर्तमान काल में हिन्दू-धर्म के पुनर्सङ्गठन में हाथ बँटाया।

रामानुज (१०१७-११३७ ई०) का विशिष्टाद्वैत—इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है कि रामानुज भक्ति-सम्प्रदाय के आचार्य थे। इन्होंने वेदान्त के साथ वैष्णव-धर्म का समन्वय करने का प्रयास किया। इनका भी जन्म दक्षिण में हुआ था। रामानुज के दर्शन में ब्रह्म को सगुण ईश्वर माना गया है। उनके अनुसार ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, आनन्दमय और सर्वव्याप्त है। वह जगत का निमित्त और उपादान दोनों कारण है। वह करुणासिन्धु है और उसी की कृपा से मनुष्य को मोक्ष प्राप्त होता है। इस दर्शन के अनुसार जीव ज्ञाता, भोक्ता और कर्ता है। वह स्वयं-

प्रकाश, चैतन्यमय तथा वैशिष्ट्यपूर्ण है। जीव अनेक हैं। उनमें ईश्वर की तरह संसार की गति को नियन्त्रित करने की शक्ति नहीं है। रामानुज ने शंकर के मायावाद का खण्डन किया और जगत को ईश्वर की सत्य-सृष्टि मानी जिसकी सत्ता ईश्वर से स्वतंत्र नहीं है।

रामानुज के मतानुसार ब्रह्म (ईश्वर), आत्मा और जगत तीनों एक दूसरे से भिन्न तथा समान रूप से सत्य और नित्य हैं। पर ये तीनों नितान्त अविभाज्य भी नहीं हैं। यद्यपि उनमें भिन्नता है फिर भी उनके बीच एक विलक्षण प्रकार का निकट सम्बन्ध है जो आत्मा और शरीर के सम्बन्ध की तरह है। आत्मा और जगत दोनों शरीर हैं और ईश्वर उनकी आत्मा है। जीव और जगत दोनों का ही केन्द्रभूत तत्त्व ईश्वर है। इन तीनों के इस विशिष्ट संघात के कारण ही इस दर्शन को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। इस दर्शन में आत्माओं का तादात्म्य ब्रह्म से नहीं माना गया है।

इस दर्शन के अनुसार भी अविद्या द्वारा प्रेरित कर्मों के कारण ही आत्मा बन्धन में पड़ता है। वासुदेव (विष्णु) की भक्ति के द्वारा ही मोक्ष मिल सकता है। ज्ञान और कर्म भी भक्ति के सहायक के रूप में माने गये हैं। जीवन का चरम लक्ष्य नारायण (विष्णु) के लोक की प्राप्ति है जहाँ उनके संरक्षण में पूर्ण मुक्ति और आनन्द की प्राप्ति होती है। जीव का वैशिष्ट्य मुक्ति की अवस्था में भी बना रहता है।

रामानुज ने भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया।

मध्व (११९७-१२७६ ई०) का द्वैतवाद—मध्व भी भक्ति-सम्प्रदाय के आचार्य थे। उन्होंने भी ब्रह्म का तादात्म्य विष्णु के साथ किया। मध्व ने द्वैतवाद का प्रतिपादन किया; एक ओर तो अनेक गुणों से समन्वित ब्रह्म (ईश्वर) की सत्ता मानी और दूसरी ओर जड़ जगत तथा जीव की जो ब्रह्म से भिन्न हैं। ब्रह्म, जड़ जगत तथा जीव एक दूसरे से भिन्न हैं फिर भी जड जगत और जीव ब्रह्म पर ही आश्रित हैं।

जीवों की संख्या अनेक मानी गई हैं। मध्व ईश्वर को जगत का केवल निमित्त कारण मानते हैं। उन्होंने भी शंकर के माया के सिद्धान्त का खण्डन किया।

मध्व के दर्शन में पाँच प्रकार का भेद बताया गया है : ईश्वर और आत्मा का, विभिन्न आत्माओं का, ईश्वर और भूत-तत्त्व का आत्मा और भूत-तत्त्व का तथा अपने ही विभिन्न रूपों में स्वयं भूत तत्त्व (Matter) का।

मध्व के अनुसार भी भक्ति के फलस्वरूप विष्णु के प्रसाद से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। मुक्ति में आत्मा को ईश्वर का सामीप्य प्राप्त होता है।

इस्लाम

इस्लाम की शिक्षायें—मध्य युग में इस्लाम भी भारत का एक प्रमुख धर्म बन जाता है। इस धर्म के संस्थापक पैगम्बर मुहम्मद (५७०-६३२ ई०) थे जिनका

आविर्भाव अरब में हुआ। इस्लाम ईश्वर की एकता का प्रतिपादन करता है। अल्लाह एक है और उसके अतिरिक्त कोई और देवता नहीं है। वह सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और करुणामय है। उसने समय-समय से संसार में अपने पैगम्बरों को भेजा है और मुहम्मद उसके अन्तिम पैगम्बर (नबी) हैं। इस धर्म के अनुसार पापकर्म करने वालों तथा धर्म में विश्वास न करने वालों को मृत्यु के बाद घोर यातना मिलेगी तथा पुण्य करने वालों और धार्मिक व्यक्तियों को शाश्वत सुख मिलेगा। इस्लाम अल्लाह में अटूट विश्वास पर बहुत अधिक बल देता है।

संयम, परोपकार, भाई चारे की भावना, निर्लोभता, क्षमा, ईमानदारी, निर्धनों की सहायता के लिये जकात देना, ये इस धर्म की प्रमुख नैतिक शिक्षायें हैं। इस धर्म के अनुसार सभी मनुष्य अल्लाह की संतान हैं और इसलिये सभी मुसलमान सगे भाई-बहन की तरह हैं।

दिन में पाँच बार नमाज़, प्रत्येक शुक्रवार को सामूहिक नमाज़, रमजान के महीने में रोज़ा (दिन का पूर्ण उपवास) और मक्का की तीर्थ यात्रा (हज) यही प्रधानतः इस धर्म का क्रिया-पक्ष है। कुरान मुसलमानों का पवित्रतम धर्मग्रन्थ है।

इस्लाम अवतारवाद, मूर्तिपूजा तथा ऊँच-नीच की भेद भावना का घोर विरोध करता है। मानव-समानता का आदर्श इस्लाम की एक बड़ी विशेषता है।

इस्लाम का प्रसार तथा भारत में आगमन—मुहम्मद ने शक्ति द्वारा इस्लाम के प्रचार का आदेश किया। उनके बाद उनके प्रतिनिधि और उत्तराधिकारी खलीफाओं ने इस आदेश का पालन किया। खलीफा केवल धर्म के अध्यक्ष ही नहीं होते थे : ये साथ ही साथ शासक और सेनापति भी होते थे। इस्लाम का प्रचार विभिन्न प्रदेशों में द्रुतगति से होने लगा। पर इसके प्रचार का कारण केवल शक्ति ही नहीं थी। इस्लाम की शिक्षायें भी इतनी सीधी-सादी और आकर्षक थीं कि लोगों ने उनका स्वागत किया। दलित वर्ग उनसे विशेषरूप से प्रभावित हुये।

७३२ ई० तक मुस्लिम साम्राज्य पश्चिमी योरप में पिरीनीज (Pyrenees) पर्वत से लेकर चीन और भारत की सरहद तक फैल गया।

सातवीं शताब्दी में ही अरब व्यापारी इस्लाम को दक्षिणी भारत में ले आये। आठवीं शताब्दी में सिन्ध में अरब-शासन की स्थापना के पश्चात् मुसलमान धर्मप्रचारक भारत में आये। पर इनका अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। वास्तव में तुर्की शासन की स्थापना के बाद १३ वीं शताब्दी से ही भारत में इस्लाम के प्रभाव और प्रसार की वृद्धि होती है। सरकार मुसलमान धर्मप्रचारकों की सहायता करने लगी। निम्न वर्गों ने स्वेच्छापूर्वक इस्लाम को अपनाया। इससे उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति सुधर गई। कुछ लोगोंने राजनीतिक दबाव के कारण इस्लाम को ग्रहण किया तथा कुछ अन्य लोगों को हिन्दू समाज की तत्कालीन संकीर्णता के कारण इस्लाम की शरण लेनी पड़ी।

सूफ़ी मत—कालान्तर में इस्लाम के भीतर बहुत से मत-मतान्तर प्रगट होने लगे। शिया और सुन्नी में वैमनस्य भी बढ़ने लगा। पर सूफ़ी मत के सन्त उदार प्रवृत्ति के पोषक थे। वे सादगी और संयम का जीवन व्यतीत करते थे तथा कुरान के बाह्यार्थ को महत्त्व न देकर उसके रहस्यार्थ को ही प्रधान मानते थे। वे ईश्वर को प्रकाशमय, करुणामय और सर्वव्यापक मानकर उसके साथ प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करते थे। उनका आदर्श ईश्वर से एकत्व प्राप्त करना था। वे जगत् के कण-कण में ईश्वर के जलवे को रहस्यात्मक ढंग से देखते थे। इसीलिये वे सभी जीवों के प्रति स्नेह एवं दया का व्यवहार करते थे। वे योग की क्रियाओं द्वारा विषय-भोग की प्रवृत्ति का दमन करते थे तथा ईश्वर के प्रति प्रेम-भक्ति की अभिव्यक्ति संगीत और नृत्य द्वारा करते थे। उन्होंने ईश्वर की रसात्मक भक्ति सम्बन्धी कवितायें भी लिखी। सूफ़ियों के लिये गुरु का महत्त्व बहुत अधिक था। इनके अनेक सम्प्रदाय थे। सूफ़ी सन्तों को हिन्दू भी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उनके कारण हिन्दुओं में इस्लाम के प्रति श्रद्धा बढ़ी। मध्य काल के इन सूफी सन्तों में शेख मईनुद्दीन चिश्ती, निजामुद्दीन औलिया, मलिक मुहम्मद जायसी, शेख सलीम चिश्ती इत्यादि प्रमुख हैं। जायसी ने अवधी भाषा में 'पद्मावत' तथा अन्य ग्रन्थों की रचना की। पर सूफ़ी सम्प्रदाय विद्वानों तक ही सीमित था। साधारण जनता में इसका प्रसार नहीं हो सका। भारतीय सूफ़ी-धर्म के आदर्श वेदान्त एवं बौद्ध-धर्म से प्रभावित हैं।

भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव—विद्वानों[1] के अनुसार इस्लाम का प्रभाव हिन्दू धर्म, साहित्य, कला तथा विज्ञान पर ही नहीं पड़ा अपितु उसके कारण हिन्दू-सांस्कृतिक दृष्टि में भी परिवर्तन आ गया। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हिन्दू धर्म तथा संस्कृति में आमूल परिवर्तन हो गया। समन्वय के प्रयत्न तथा पारस्परिक प्रभाव के होने पर भी दोनों संस्कृतियों ने अपना-अपना वैशिष्ट्य अन्त तक बनाये रखा।

इस्लाम के प्रभाव के कारण पूर्व मध्यकाल में हिन्दू-धर्म के अन्दर कुछ नवीन सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ। इनमें कबीर तथा नानक के सम्प्रदाय विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। कबीर ने हिन्दू-धर्म तथा इस्लाम के बीच की खाई को पाटने तथा दोनों धर्मों के सामञ्जस्य का प्रयास किया। इन्होंने दोनों धर्मों के बाह्य आडम्बरों तथा अन्ध-विश्वासों का खण्डन कर उनकी मौलिक एकता पर बल दिया। अल्लाह, खुदा, राम, रहीम, ब्रह्म आदि को उसी एक सर्वोच्च निराकार सत्ता के विभिन्न नाम बताये। कबीर एक समाज-सुधारक भी थे। उन्होंने मनुष्य की समानता[2] पर बल दिया और ऊँच-

---

१. Dr. Tara Chand, Influence of Islam on Indian Culture.

२. कुछ विद्वानों के अनुसार मानव समानता का आदर्श इस्लाम की ही देन थी। देखिए, A Survey of Indian History by K. M. Panikkar, p. 130

नीच के भेद-भाव और जाति-प्रथा का घोर विरोध किया। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के एक महान समर्थक थे।

कबीर की ही भाँति सिख-धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक ने भी निर्गुण ईश्वर की उपासना का उपदेश दिया। इस धर्म में भी इस्लाम की भाँति एकेश्वरवाद मिलता है। नानक ने भी धार्मिक आडम्बरों, कर्मकाण्ड तथा ऊँच-नीच के विचार का विरोध किया और सभी को अपने मत में दीक्षित किया।

कुछ विद्वानों के अनुसार आर्य समाज पर भी, जिसकी स्थापना स्वामी दयानन्द ने १९ वीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध में किया, इस्लाम के प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं।[१] मूर्ति-पूजा का विरोध तथा दूसरे धर्म के लोगों को भी अपने धर्म में दीक्षित करना, ये प्रवृत्तियाँ आर्य-समाज में सम्भवतः इस्लाम के कारण ही आई हों। पर आर्य-समाज में प्रधानतः प्राचीन वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का प्रयास किया गया। इस सम्प्रदाय ने इस्लाम का विरोध भी किया।

कुछ विद्वानों का मत है कि चैतन्य और वल्लभ की कृष्ण-भक्ति-शाखा पर भी सूफ़ीमत का कुछ प्रभाव पड़ा पर यह प्रश्न विवादग्रस्त है।

इस्लाम के प्रभाव के कारण प्रादेशिक भाषाओं की भी उन्नति हुई। कुतुबन, मंझन, जायसी आदि सूफ़ी सन्तों ने हिन्दी में रचनायें की। जायसी का पद्मावत एक उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थ है जिसमें सूफ़ी-सिद्धान्तों का निरूपण मिलता है। अमीर खुसरो (१४ वीं शताब्दी) भी हिन्दी के अच्छे लेखक थे। भक्ति-सम्प्रदाय के सन्तों ने भी देशी भाषाओं के साहित्य को सुसम्पन्न किया। कबीर ने हिन्दी में पदों की रचना की तथा नानक ने गुरुमुखी तथा पंजाबी भाषा की उन्नति में सहयोग दिया। गुजराती, बंगाली, मराठी आदि भाषाओं की भी उन्नति इसकाल में हुई। हिन्दू-मुस्लिम संपर्क से उर्दू भाषा का भी विकास हुआ। फारसी, तुर्की और संस्कृत तथा उससे निकली हुई भाषाओं के सम्पर्क से ही इस भाषा का विकास हुआ।

कला के क्षेत्र में भी इस्लाम का प्रभाव महत्त्वपूर्ण है। इसका निर्देश प्रथम अध्याय में हो चुका है। उच्चवर्ग की वेषभूषा तथा सामाजिक व्यवहार पर भी इस्लाम की संस्कृति का प्रभाव पड़ा।

पर विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय, सामञ्जस्य और सम्मिश्रण की प्रवृत्ति के बावजूद इस्लाम के आगमन के बाद से भारत में हिन्दू और मुसलमान, दो भिन्न समाज हो गये जिनके धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदर्शों में स्पष्ट अन्तर था। ये दोनों समाज अपनी विशिष्टताओं के साथ सदैव ही बने रहे।

ईसाई धर्म

ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव प्राचीन फिलस्तीन (Palestine) में हुआ। इसके

---

१. The Legacy of India, ed. G. T. Garratt, p. 290

संस्थापक महात्मा ईसा थे। उन्होंने ईश्वर की एकता तथा उसकी सर्ववत्सलता एवं निष्पक्षता का प्रतिपादन किया और प्रेम, करुणा, मानव-सेवा, अहिंसा, त्याग और परोपकार का संदेश दिया। उनके अनुसार सभी मनुष्य उसी परम पिता परमेश्वर की संतान हैं और सभी आपस में भाई-भाई हैं तथा समान हैं। उन्होंने ईश्वर के प्रति सेवा, श्रद्धा और प्रेम-भाव की शिक्षा दी और दीन-दुर्बलों और निस्सहाय प्राणियों की सेवा को धार्मिक आचार का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग बताया। महात्मा ईसा के बाद ईसाई धर्म में समय-समय पर अनेक मत-मतान्तर होते रहे।

भारत में ईसाई धर्म का आगमन प्रथम शताब्दी में ही हुआ। एक परम्परा के अनुसार दक्षिणी भारत में मलाबार के तट-प्रदेश में सन्त टामस (Thomas) द्वारा सीरियन (Syrian) शाखा के ईसाई धर्म का प्रचार इसी काल में हुआ। पर प्रारम्भिक काल में ईसाई धर्म के अनुयायी अपने को हिन्दू-समाज के अन्तर्गत ही मानते थे।[१]

मध्यकाल में जब भारत में पाश्चात्य देशों के उपनिवेश स्थापित हुये तो ईसाई धर्म-प्रचारकों ने वहाँ से आकर इस धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया। कालान्तर में अंग्रेजों का राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित होने लगा। अंग्रेजों ने ईसाई धर्म-प्रचार को प्रोत्साहन दिया। भारत में कैथलिक तथा प्रोटेस्टैंट दोनों ईसाई मतों का प्रचार हुआ। कैथलिकों की जेसुइट संस्था ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किये। भारत में ईसाई धर्म की अनेक संस्थायें कार्य करने लगीं। आज भी यहाँ ईसाई धर्म के अनुयायी एक बड़ी संख्या में हैं।

ईसाई धर्म के प्रभाव—ईसाई धर्म-प्रचारकों ने इस देश के आधुनीकरण और नवाभ्युत्थान में बड़ा सहयोग दिया। शिक्षा के क्षेत्र में इनका कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने पहले ईसाई धर्म के संदेशों के प्रचारार्थ मुद्रणालय खोले और हिन्दी, बङ्गाली, तेलगू, मलयालम, कन्नड़ आदि भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद तथा अनेक पत्र-पत्रिकायें निकालीं। इससे प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति हुई। इन्होंने अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार में भी बड़ा कार्य किया। इनकी अनेक संस्थायें थीं जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा के लिये स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना की। पाश्चात्य शिक्षा के कारण नवीन विचारों का प्रचार हुआ जिसके फलस्वरूप लोगों के सामाजिक और राजनैतिक दृष्टिकोण परिवर्तित होने लगे तथा देश में नवीन जागृति आने लगी।[२] इन कॉलेजों में मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज, विलसन कॉलेज (बम्बई), सेंट जेवियर कॉलेज (कलकत्ता), सेंट जॉन्स कॉलेज (आगरा), सेंट ऐन्ड्रयूज कॉलेज (गोरखपुर), ईविंग क्रिश्चियन कॉलेज (इलाहाबाद) इत्यादि अभी तक देश के प्रमुख शिक्षा-केन्द्र बने हुये हैं। इसके

१. Radhakrishnan, S., East and West, p. 34.
२. Nehru, J L., The Discovery of India (1946 ed.), p. 337.

अतिरिक्त ईसाई-संस्थाओं ने अनेक प्राइमरी स्कूलों, हाईस्कूलों तथा प्रशिक्षण केन्द्रों (Training Colleges) की भी स्थापना की। इससे यह अनुमान लग सकता है कि १९ वीं शताब्दी में देश के पुनर्जागरण के पीछे ईसाई धर्मसंस्थाओं के कार्यों का कितना महत्त्वपूर्ण हाथ था।

प्रायः एक सौ वर्षों से ईसाई धर्म-प्रचारक तथा धर्म-संस्थायें जन-कल्याण के कार्य भी करती रही हैं। हरिजनों तथा आसाम की गारो और खासी, छोटा नागपुर की मुण्डा, बिहार की संथाल, उड़ीसा की खोण्ड आदि वन-जातियों की सांस्कृतिक उन्नति के लिये ईसाई धर्म-संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। कुछ दलित वर्गों को ईसाई धर्म में दीक्षित कर उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति में भी सुधार ला दिया। देश में अनेक स्थानों पर अस्पतालों की भी स्थापना इन संस्थाओं ने की। देश की अशिक्षा एवं दरिद्रता को भी दूर करने का प्रयत्न किया तथा ग्राम-सुधार के कार्य में भी हाथ बँटाया। यह सभी कार्य ईसाई-धर्म प्रचारकों ने अधिकतर मानव-सेवा के ही आदर्श से अनुप्रेरित होकर किया।

ईसाई धर्म के प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव[1] तथा पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क के कारण इस देश में सुधारवादी आन्दोलनों का भी प्रादुर्भाव हुआ। राजा राममोहनराय ने १८२२ ई० में बंगाल में ब्रह्म-समाज की स्थापना की। ईश्वर एक है तथा सब व्यक्ति समान हैं और आपस में भाई-भाई हैं, ये इस संस्था के उत्कृष्ट सिद्धान्त थे। इसने जाति-प्रथा और मूर्ति-पूजा का विरोध किया तथा सभी धर्मों के सद्गुणों को अपनाने का आदेश किया। ब्रह्मसमाज की लोकप्रियता बढ़ने लगी और उसके सिद्धान्तों का प्रभाव लोगों पर पड़ने लगा। १८६७ ई० में बम्बई में प्रार्थना-समाज नामक संस्था की स्थापना हुई। इस संस्था ने भी विधवा-विवाह और स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया तथा जाति-प्रथा, बाल-विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया। इन सुधारवादी आन्दोलनों का प्रादुर्भाव पाश्चात्य-प्रभाव के कारण हुआ। पाश्चात्य-प्रभावों के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भी कुछ प्रमुख सुधारवादी आन्दोलनोंका जन्म हुआ। इस प्रकार १८७७ ई० में स्वामी दयानन्द ने आर्य-समाज की स्थापना की। इसका उद्देश्य प्राचीन भारतीय आदर्शों का पुनरुद्धार था। आर्य-समाज ने भी छुआ-छूत आदि सामाजिक कुरीतियों का घोर विरोध किया। स्वामी दयानन्द प्राचीन और अर्वाचीन युगों के बीच एक सेतु की तरह थे। उनका नाम आधुनिक भारत के निर्माताओंमें गिना जाता है। १९ वीं शताब्दी के अन्त में रामकृष्ण मिशन की भी स्थापना हुई। इस आन्दोलन का सूत्रपात रामकृष्ण परमहंस ने किया। परन्तु विवेकानन्द ने इनके सिद्धान्तों का विदेशों में भी प्रचार किया। इन्होंने सब धर्मों की मूलभूत एकता पर बल दिया और वेदान्त-धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया।

---

१. Farquhar, J. N., Modern Religious Movements in India, p. 433.

इनके अतिरिक्त बहुत-सी अन्य संस्थायें भी स्थापित हुईं।

कुछ विद्वानों का मत है कि ईसाई धर्म का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव भक्ति-आन्दोलन पर भी पड़ा। पर किसी-न-किसी रूप में भक्ति की परम्परा इस देश में बहुत पहले से ही विद्यमान थी। अतः सशक्त प्रमाणों के अभाव में यह मत अनुमान के रूप में ही माना जा सकता है।

ईसाई धर्म का मानव-सेवा, समाज-सुधार और मनुष्य की एकता के आदर्शों की प्रतिष्ठा में बहुत बड़ा हाथ है[1]। इस प्रकार भारतीय संस्कृति पर इस धर्म के प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

पठनीय सामग्री

Piggot, S., Prehistoric India.
Macdonell, Vedic Mythology.
Pande, G. C., Studies in the Origins of Buddhism.
Nalinaksh Dutt, Aspects of Mahayana Buddhism.
2500 Years of Buddhism.
6. Jaini, Outlines of Jainism.
Mitra. R. L., Decline of Buddhism.
Cultural Heritage of India, Vols. III & IV (Ram Krishna Mission—Institute of Culture, Culcutta).
Nehru, J. L., The Discovery of India.
Pusalkar, A. D. Studies in the Epics and the Puranas.
Woodroffe, Sakti and the Saktas.
Radhakrishnan, S., East and West.
Hiriyanna, Outline of Indian Philosophy.
History of Philosophy, Eastern and Western, Ed. Radhakrishnan.
Farquhar, J. N., Religious Movements in India.
डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, कला और संस्कृति।
Legacy of India., ed., G. T. Garrett.
Titus, M. T., Indian Islam.
Bhandarkar, R. G., Vaishnavism, Shaivism and other minor Religious systems.

---

१. देखिए, Cultural Heritage of India, Vol IV, p. 570.

अध्याय ५

भारतीय वाङ्मय

भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिये संस्कृत भाषा का विशेष महत्त्व है। संस्कृत हमारी राष्ट्रीय सम्पत्ति है जिस पर देश के प्रत्येक भाग को समान अधिकार है और जिसके विकास में देश के प्रत्येक भाग ने समान सहयोग दिया है। भारत की सभी प्रादेशिक भाषायें संस्कृत की ऋणी हैं। केवल शब्दों और व्याकरण के नियमों की दृष्टि से ही नहीं अपितु विचार, साहित्यिक स्वरूप और साहित्य के विषय की दृष्टि से भी प्रादेशिक साहित्य ने अत्यधिक रूप से संस्कृत साहित्य से स्फूर्ति और आदर्श ग्रहण किया है। हमारी राष्ट्रीय चेतना, हमारे राष्ट्रीय स्वभाव और व्यवहार की जड़ें और हमारे विचार का ढाँचा और उनकी उत्पत्ति अन्ततोगत्वा संस्कृत साहित्य पर ही आश्रित हैं। देश की संस्कृति के सच्चे स्वरूप को समझने के लिये संस्कृत साहित्य का अध्ययन आवश्यक है।

(अ) धार्मिक साहित्य

भारतीय सभ्यता के धर्म-प्रधान होने का सबसे अधिक प्रभाव साहित्य के ऊपर ही दिखलाई पड़ा है। भारत में धार्मिक ग्रन्थों की रचना बहुसंख्या में हुई और भारतीयों ने भी उनको सुरक्षित रखने के लिये पूर्ण प्रयत्न किया। प्राचीन भारत की संस्कृति की जो प्रतिष्ठा विश्व के दूसरे देशों में है उसके अधिकांश का श्रेय भारत के धार्मिक साहित्य को है। ऐसे तो प्रत्येक दर्शन या धर्म-संप्रदाय का पृथक साहित्य है किन्तु स्थान के अभाव के कारण हम सब का अध्ययन न करके केवल कुछ प्रमुख ग्रन्थों का ही अध्ययन करेंगे।

वैदिक वाङ्मय

वैदिक साहित्य भारतीय वाङ्मय का सबसे प्राचीन अंश है। विश्व के इतिहास में भी वेदों जैसा प्राचीन कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है। वेद भारतीय संस्कृति के मूल हैं। ये भारत के सबसे प्राचीन धर्म-ग्रन्थ हैं और भारतीय धर्मों के आधार हैं। धर्म के क्षेत्र में किसी बात के प्रामाणिक माने जाने में वेदों का समर्थन सहायक होता है। वैदिक युग की सांस्कृतिक दशा जानने के एकमात्र साधन होने के कारण इनका ऐतिहासिक महत्त्व भी बहुत अधिक है।

'वेद' शब्द 'विद्' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'जानना'। 'वेद' शब्द का वास्तविक अर्थ 'ज्ञान' है।

महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेद-व्यास को वेदों का संकलन करने वाला कहा जाता है। वेद-व्यास शब्द के अर्थ ही हैं—वेद का वर्गीकरण करने वाला। इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय अनुश्रुति वेद व्यास को वेदों का संपादक बतलाती है, निर्माता नहीं। वेदों की रचना किसी मनुष्य ने नहीं की। वे नित्य और अपौरुषेय हैं। सृष्टि के प्रारंभ में परमात्मा ने कुछ ऋषियों को मन्त्रों का प्रकाश दिया। मन्त्रों में जिसकी स्तुति हो वह उसका देवता कहलाता है और मन्त्र का सर्व-प्रथम द्रष्टा ऋषि होता है। वैदिक साहित्य को इसी कारण से श्रुति की संज्ञा दी गई क्योंकि पुराने ऋषियों को ये श्रवण-परम्परा से प्राप्त हुये थे। पाश्चात्य विद्वान् ऋषियों को ही मन्त्रों की रचना का श्रेय देते हैं।

वैदिक साहित्य को प्रायः चार भागों में बाँटा जाता है—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। इनके अतिरिक्त वेदांग और सूत्र भी वैदिक साहित्य से जुड़े हैं।

संहिता का शाब्दिक अर्थ है संग्रह। संहिताओं में देवताओं की स्तुति के मंत्रों का संग्रह होता है। संहितायें चार हैं—ऋक्, यजु, साम और अथर्व।

ऋग्वेद—ऋग्वेद में दस मण्डल हैं जिनमें कुल मिलाकर १०२८ सूक्त और १०६०० मन्त्र हैं। विद्वान् ऋग्वेद-संहिता को प्राचीनतम मानते हैं। उनके विचार से आर्यों ने ऋग्वेद की रचना पंजाब में की थी जब वे अफ़गानिस्तान से गंगा-यमुना तक के प्रदेश में ही फैले थे। ऋग्वेद की पाँच शाखाओं (शाकल, वाष्कल, अश्वलायन, शंखायन, और माण्डूक्य) में केवल शाकल शाखा ही इस समय प्राप्य है। ऋग्वेद का जो कुछ भी धार्मिक या ऐतिहासिक महत्त्व हो काव्य की दृष्टि से भी इसके मन्त्र बड़े महत्त्व के हैं। कई स्थानों पर उच्च काव्य-प्रतिभा इन मंत्रों में दिखलाई पड़ती है।

यजुर्वेद—इसमें यज्ञ के समय अध्वर्यु पुरोहित के द्वारा उच्चारित किये जानेवाले मंत्रों का संग्रह है। यजुर्वेद ४० अध्यायों में विभाजित किया गया है। यजुर्वेद के दो भेद हैं—कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद में केवल मंत्र हैं। इनमें से कुछ छन्दोबद्ध हैं और कुछ गद्यात्मक हैं। कृष्ण यजुर्वेद में मंत्र तथा ब्राह्मण भाग मिश्रित हैं। शुक्ल यजुर्वेद की प्रधान शाखाओं के नाम हैं—माध्यन्दिन और काण्व। कृष्ण यजुर्वेद की जो शाखायें उपलब्ध हैं उनके नाम हैं तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी और कपिष्ठल। विद्वान् यजुर्वेद को ऋग्वेद के बाद की रचना मानते हैं जब कि आर्य कुरु-पांचाल प्रदेश में बस गये थे और जब उनकी धार्मिक और सामाजिक दशा में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये थे।

सामवेद के पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक दो भाग हैं। पहली अर्चिका में ६ प्रपाठक और दूसरी में ९ हैं। यज्ञ में होम के लिये किसी देवता को बुलाने के लिये उद्गाता नाम का ऋत्विक् उचित स्वर से उस देवता का मन्त्र गाता था। गेय ऋचायें ही गाई जाती थीं और उन्हें ही साम कहते थे। एक साम के गाने में तीन ऋचाओं के

बराबर समय लगता था। सामवेद की गान-पद्धतियाँ भी निश्चित हैं। पूर्वार्चिक के लिये ग्रामगेय गान और अरण्यगान तथा उत्तरार्चिक के लिये ऊहगान और ऊह्यगान प्रयुक्त होते थे। सामवेद को भारतीय संगीत का मूल कहा जा सकता है। सामवेद में कुल १५४९ ऋचायें हैं। इनमें से केवल ७८ ही नई हैं शेष सब ऋग्वेद ही से ली गई हैं। सामवेद की शाखायें हैं—कौथुमीय, जैमिनीय और राणायनीय।

अथर्ववेद में २० काण्ड, ३४ प्रपाठक, १११ अनुवादक, ७३१ सूक्त और ५८३९ मंत्र हैं। अथर्ववेद के मंत्रों में से लगभग १२०० ऋग्वेद से लिये गये हैं। अथर्ववेद की दो शाखायें उपलब्ध हैं—शौनक तथा पैप्पलाद। कुछ विद्वान् अथर्ववेद को अन्ध विश्वास और जादू-टोने का भंडार मानते हैं। कुछ इसमें आर्य और अनार्य संस्कृतियों का सम्मिश्रण देखते हैं। कुछ विद्वान् अथर्ववेद में जन साधारण के धार्मिक विचारों और कृत्यों का प्रतिबिम्ब देखते हैं। अथर्ववेद में धार्मिक, सामाजिक और नैतिक जीवन से संबंधित सामग्री के अतिरिक्त आयुर्वेद संबन्धी बहुत सी सामग्री है। दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन, प्राण-विद्या, ब्रह्मचर्य, औषधि, वनस्पति-विज्ञान, विष और सर्पदंश के प्रभाव को दूर करना, राष्ट्र तथा पृथिवी संबंधी विचार आदि अथर्ववेद के विषय हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थ—संहिताओं के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हुई। यह साहित्य गद्यात्मक है और यज्ञ से इसका संबंध है। ब्राह्मण-ग्रन्थों का कार्य है यज्ञ-संबंधी कर्म-काण्ड पर विचार और वेद में आये विषयों पर व्याख्यात्मक एवं मौलिक चिन्तन करना। इसी कारण से कुछ विद्वान् ब्राह्मण साहित्य को वैदिक मंत्रों का भाष्य मानते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषय दो प्रकार के हैं—(१) विधि भाग का सम्बन्ध यज्ञों से है। इसमें यज्ञ की विधि, वेदी के निर्माण का ढंग और यज्ञ-संबंधी अन्य विषयों का विवेचन है; (२) अर्थवाद में उदाहरणों के द्वारा यज्ञ के महत्त्व और फल को समझाया गया है। इसमें प्राचीन काल में यज्ञ करनेवाले कई राजाओं के विवरण हैं। ऋग्वेद से संबंधित ब्राह्मणों के नाम हैं—ऐतरेय और कौषीतकी। ऐतरेय ब्राह्मण अधिक प्रसिद्ध है। इसी में शुनःशेप की प्रसिद्ध कथा मिलती है। कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय कहलाता है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण सौ अध्याय का होने के कारण शतपथ ब्राह्मण कहलाता है। सभी ब्राह्मणों से इसका महत्त्व अधिक है। प्राचीन इतिहास के साधन के रूप में वैदिक साहित्य में ऋग्वेद के बाद इसी का स्थान है। यज्ञ-संबंधी कर्मकाण्ड के अतिरिक्त इसमें अनेक उपाख्यान और सामाजिक विषयों के वर्णन भी मिलते हैं। सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थों के नाम हैं—ताण्ड्य या पंचविंश, षड्विंश, अद्भुत और जैमिनी। अथर्ववेद का एक ही ब्राह्मण है—गोपथ ब्राह्मण।

आरण्यक—ये ब्राह्मणों के अन्तिम भाग ही हैं। इनका अध्ययन गाँवों या

नगरों में नहीं बल्कि अरण्य या ऋषियों के तपोवनों में होता था। आरण्यकों की प्रधान विशेषता उनका दार्शनिक दृष्टिकोण या अध्यात्म-चिन्तन ही है। इनमें आत्मा और ब्रह्म के विषय में उच्च विचार मिलते हैं। इन्हीं आरण्यकों से उपनिषदों का विकास हुआ है।

उपनिषदों का वर्णन उनके अत्यधिक महत्त्व के कारण अलग किया गया है।

बहुत समय बीतने के पश्चात् वैदिक साहित्य अपनी विशालता और भाषा की कठिनता के कारण सभी के लिए सरलता से बोधगम्य न रह सका। वैदिक क्रियायें भी जटिल होती गईं। इसी से वेदों को समझने में सहायक और उपयोगी ग्रन्थ लिखे गये। इन विद्याओं को वेदाङ्ग कहते हैं। इनकी संख्या ६ है—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कल्प और ज्योतिष।

शिक्षा—वेदों के शुद्ध उच्चारण संबंधी नियम जिन ग्रन्थों में हैं उन्हें शिक्षा कहते हैं। वेद-पाठ में शुद्ध स्वर-उच्चारण का जो महत्त्व उससे इन ग्रन्थों का महत्त्व समझा जा सकता है। वैदिक शिक्षा का प्रतिनिधित्व प्रातिशाख्य साहित्यको दिया जा सकता है। वेदों की विभिन्न शाखाओं से इसका संबंध है। बाद में इसी के आधार पर शिक्षा-ग्रन्थों की रचना हुई। इनमें याज्ञवल्क्य-शिक्षा, नारद-शिक्षा और पाणिनीय-शिक्षा विशेष प्रसिद्ध हैं। विश्व में ध्वनि-शास्त्र या उच्चारण-शास्त्र की सर्व-प्रथम वैज्ञानिक विवेचना इन्हीं शिक्षा-ग्रन्थों में हुई है।

छन्द—वेद-मन्त्र गायत्री, त्रिष्टुभ्, जाती आदि छन्दों में रचे गये हैं। छन्द-ज्ञान भी शुद्ध उच्चारण के लिये आवश्यक है। यह छन्द-शास्त्र का विषय है। ऋक्-प्रातिशाख्य, शांखायन-श्रौत-सूत्र और निदान-सूत्र में छन्द-शास्त्र का वर्णन है। किन्तु छन्द-शास्त्र का स्वतंत्र ग्रन्थ पिङ्गलमुनि का छन्द-सूत्र ही है। इस छन्द-सूत्र में वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का विवेचन है।

व्याकरण—व्याकरण का सम्बन्ध भाषा-विषयक सब प्रकार के नियमों से है। पाणिनि की अष्टाध्यायी व्याकरण की सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रसिद्ध रचना है। विश्व के किसी भी देश में व्याकरण का ऐसा उत्कृष्ट ग्रन्थ नहीं मिलता। पाणिनि से भी पहले गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन और भारद्वाज जैसे व्याकरण के आचार्यों के नामों के उल्लेख मिलते हैं किन्तु दुर्भाग्य से इनकी रचनायें प्राप्य नहीं हैं।

निरुक्त—वेद के कठिन शब्दों की तालिका और कोश का नाम निघण्टु है। निरुक्त में निघण्टु के शब्दों की व्युत्पत्ति और व्याख्या मिलती है। वर्तमान काल में यास्क के निरुक्त को छोड़कर दूसरा कोई प्राप्य नहीं है।

ज्योतिष—यज्ञ तथा दूसरे शुभ कार्यों के फलदायक होने के लिये आवश्यक है कि वे उचित काल और मुहूर्त में किये जायें। इसी का निर्धारण और नियमन ज्योतिष का प्रतिपाद्य विषय है। इस विषय की विभिन्न रचनाओं में लगधमुनि का वेदाङ्ग ज्योतिष सब से अधिक प्राचीन है।

कल्प-सूत्र—वैदिक साहित्य का विस्तार होने पर छोटे-छोटे वाक्यों का सूत्र बनाकर सभी महत्त्वपूर्ण विधि-विधान उनके द्वारा प्रकट किये जाने लगे। यज्ञों की व्यवस्था और गृहस्थ और सामाजिक जीवन के लिये नियम प्रतिपादित करना ही कल्प-सूत्रों का विषय है। कल्पसूत्रों के दो प्रमुख भेद हैं—श्रौत सूत्र और स्मार्त सूत्र।

श्रौत का अर्थ है श्रुति अर्थात् वेद से संबंधित यज्ञ-भाग। इसमें आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि के आधान, अग्निहोत्र आदि सात हविर्यज्ञों तथा अग्निष्टोम आदि सात सोमयज्ञों का वर्णन है। ऋग्वेद के श्रौत सूत्रों के नाम हैं—शाङ्खायन और आश्वलायन। शुक्ल यजुर्वेद का एक ही श्रौत सूत्र है—कात्यायन। कृष्ण यजुर्वेद के छः श्रौत सूत्रों के नाम हैं—आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, भारद्वाज, मानव और वैखानस। सामवेद के तीन सूत्र हैं लाट्यायन, द्राह्यायण और आर्षेय या मशक। वैतान श्रौत सूत्र का सम्बन्ध अथर्ववेद से है।

स्मार्त-सूत्रों के दो विभेद बतलाये जाते हैं—गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र।

गृह्यसूत्र में उन आचारों का वर्णन है जिन्हें गृहस्थ आवसथ्य या वैवाहिक अग्नि में करता है। इनमें जन्म से मरण तक किये जानेवाले संस्कारों का भी विधान है। गृह्यसूत्रों से प्राचीन भारतीय गृहस्थों के आचार-विचार और विभिन्न प्रदेशों के रीति-रिवाजों का अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है। ऋग्वेद के गृह्यसूत्रों में शांखायन और आश्वलायन प्रमुख हैं। पारस्कर शुक्ल यजुर्वेद का गृह्यसूत्र है। कृष्ण यजुर्वेद के प्रमुख गृह्य-सूत्रों के नाम हैं आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, मानव, काठक, और वैखानस। गोभिल और खादिर गृह्यसूत्रों का संबंध सामवेद से है। कौशिक गृह्यसूत्र अथर्व-वेद का है।

धर्मसूत्रों में सामाजिक जीवन के संबंध में विस्तार के साथ नियमों का प्रतिपादन किया गया है। धर्म की विवेचना, वर्णाश्रमधर्म, वर्ण-संकर, ब्रह्मचारी, गृहस्थ एवं राजा के कर्त्तव्य, विवाह के भेद, न्यायालयोंकी व्यवस्था, दाय की व्यवस्था, निषिद्ध भोजन, शुद्धि, प्रायश्चित्त, तप आदि धर्मसूत्र के प्रतिपाद्य विषय हैं। वेदों से संबंधित धर्मसूत्रों में से केवल तीन ही अब तक प्राप्त हो सके हैं—आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी और बौधायन। अन्य उपलब्ध धर्मसूत्र हैं—गौतम और वसिष्ठ। इनके अतिरिक्त कुछ धर्मसूत्रों के उल्लेख अन्यत्र भी मिलते हैं। संभवतः इन सब धर्मसूत्रों का भी किसी वैदिक शाखा से संबंध था। स्मृतियों का विकास भी धर्मसूत्रों ही से हुआ था।

इन सूत्रों के अतिरिक्त शुल्ब सूत्रों की भी रचना हुई। शुल्बसूत्र श्रौत सूत्रों से संबंधित हैं। शुल्ब शब्द का वास्तविक अर्थ है नापने का डोरा। शुल्ब सूत्रों को ज्यामिति के प्राचीनतम ग्रन्थ कहा जा सकता है। इनमें यज्ञ की वेदियों को नापने, उनके लिये स्थान चुनने और उनकी निर्माण-विधि का विवेचन है।

वेदों की रचना कैसे और कब हुई इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है।

भारतीय परम्परा के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं अर्थात् ईश्वर ही उनका कर्ता है, कोई मनुष्य नहीं। ईश्वरीय प्रेरणा से विभिन्न मन्त्र ऋषियों के मानस में प्रकट हुये और ऋषियों ने अपने तप की शक्ति से उनका साक्षात्कार किया और उन्हें संसार के सामने रखा। इस प्रकार से ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा मात्र थे, उनके कर्ता नहीं। इस परम्परा को मानने पर वेदों की रचना-काल के निश्चय करने की समस्या ही नहीं उठती। किन्तु पाश्चात्य विद्वान् इस परम्परा को अक्षरशः नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि जिन ऋषियों के नाम मन्त्रों के साथ उनके द्रष्टा के रूप में आते हैं वे ही वास्तव में उनके रचयिता हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने वेदों के रचना-काल के सम्बन्ध में विभिन्न मतों का प्रतिपादन किया है। यहाँ यह याद रखना चाहिये कि संपूर्ण वैदिक साहित्य में ऋग्वेद संहिता ही प्राचीनतम है और इसलिये वेद के काल के निर्धारण में ऋग्वेद के रचना-काल का निर्णय ही मुख्य रूप से महत्त्वपूर्ण है। किन्तु वैदिक भाषा की कठिनता और प्राचीनता के कारण वैदिक मन्त्रों का सही अर्थ समझना और उनकी रचना के काल का निर्णय सरल नहीं है। दुर्भाग्य से पुरातत्व-विज्ञान से भी इस प्रश्न के ऊपर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अभी तक भारतवर्ष में कोई भी सामग्री ऐसी उपलब्ध नहीं हुई है, जिसका वैदिक आर्यों से सम्बन्ध निर्विवाद हो। अतएव इस समस्या का कोई अन्तिम रूप से हल नहीं हो पाया है।

इस सम्बन्ध में एक ओर तो मैक्समूलर का मत है। वे ऋग्वेद की रचना १२०० और १००० ई० पू० के बीच रखते हैं। उन्होंने ऋग्वेद के अतिरिक्त दूसरी संहिताओं की रचना १०००-८०० ई० पू०, ब्राह्मणों की ८००-६०० ई० पू० और सूत्रों की ६००-२०० ई० पू० निर्धारित की है। दूसरी ओर बाल गंगाधर तिलक और जर्मन विद्वान् याकोबी ज्योतिष शास्त्र के प्रमाणों के आधार पर ऋग्वेद का प्रारम्भ ४५०० ई० पू० में रखते हैं। अविनाश चन्द्र दास ने ऋग्वेद में आये भूगर्भ-विद्या सम्बन्धी कुछ उल्लेखों के प्रमाण पर ऋग्वेद की रचना कई लाख वर्ष पहले बतलाई है। अभी तक की हुई गवेषणा के आधार पर विण्टरनिट्ज का मत अधिक संयत और सही मालूम पड़ता है। वे वैदिक साहित्य के आरम्भ होने का काल २५०० से २००० ई० पू० तक मानते हैं। पश्चिमी एशिया के आधुनिक तुर्की के बोगजकुई स्थान का १४०० ई० पू० का अभिलेख जिसमें वैदिक देवताओं के उल्लेख हैं इस मत का समर्थन करता है।

उपनिषद्

उपनिषद् शब्द "उप" और "नि" पूर्वक "सद्" धातु से बना है और इसका अर्थ है किसी के समीप बैठना। इससे विद्यार्थी का शिक्षा लेते समय गुरु के समीप बैठना सूचित होता है। कालान्तर में इस शब्द से उस गूढ़ शिक्षा और सिद्धान्त क

बोध होने लगा जो ऐसे अवसरों पर दी जाती थीं। और आगे चलकर यही शब्द उन ग्रन्थोंके लिये भी प्रयुक्त होने लगा जिनमें ऐसी शिक्षायें रहती थीं। उपनिषदों की संख्या बहुत अधिक है। बाद के एक उपनिषद् में १०८ उपनिषदों के नाम गिनाये गये हैं।

उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों में कुछ पहले की रचनायें हैं और कुछ बाद की। सबसे प्राचीन उपनिषदों में से कुछ तो आरण्यकों के अन्तर्गत् आते हैं और कुछ आरण्यकों के अन्त में जुड़े हुये हैं। उपनिषदों को कई कारणों से वेदान्त भी कहा जाता है : उपनिषदों की रचना वैदिक काल के अन्त में हुई, वैदिक शिक्षा में वे अन्त में पढ़ाये जाते थे और बाद के दार्शनिकों का मत था कि वेदों का वास्तविक या अन्तिम अर्थ उपनिषदों में ही मिलता है।

वैदिक साहित्य का ही अंश होने के कारण उपनिषदों के लिये भी कहा जाता है कि ब्रह्मा ने उन्हें प्रकट किया और ऋषियों ने उनका दर्शन किया था।

उपनिषदों को कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इनमें से कुछ ब्राह्मणों के ही अंश के रूप में उनके अन्तर्गत समाविष्ट हैं। इनके नाम हैं ऐतरेय, कौषीतकि, तैत्तिरीय, महानारायण, बृहदारण्यक, छान्दोग्य और केन उपनिषद्। महानारायण को छोड़कर ये सभी उपनिषद् उपनिषदों के रचना-काल की प्रथम अवस्था की कृतियाँ हैं। ये निश्चय ही बुद्ध और पाणिनि से पूर्व की रचनायें हैं।

दूसरा वर्ग पहले से कुछ बाद का लेकिन बुद्ध से पहले का ही है। इनका प्रायः पृथक् ग्रन्थ के रूप में अस्तित्व है। ये मुख्यतः और कभी-कभी पूर्णतया पद्य में मिलते हैं। इनमें कहीं-कहीं सांख्य और योग के भी विचार मिलते हैं। इस वर्ग में कठ, श्वेताश्वतर, महानारायण, ईश, मुण्डक और प्रश्न उपनिषद् आते हैं।

मैत्रायणी और माण्डूक्य उपनिषद् बुद्ध के बाद के काल के हैं। उनकी भाषा, शैली और विषय भी उन्हें बाद की रचना बताते हैं। लेकिन उनका संबंध कुछ वैदिक शाखाओं से है जिसके कारण ऊपर गिनाये गये उपनिषदों के साथ उनकी गणना वैदिक उपनिषद् के रूप में होती है।

इनके अतिरिक्त भी कुछ उपनिषद् हैं जिनका अस्तित्व स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में है या जो बृहत् संग्रहों में मिलते हैं। इनमें से कुछ का वेदों से बहुत कम सम्बन्ध है ; तुलनात्मक दृष्टि से वे पुराणों और तन्त्रों से अधिक मिलते-जुलते हैं। कुछ में दर्शन से संबंधित सामग्री नहीं के बराबर है। ये वेदों से असंबंधित उपनिषद् छः प्रकार के कहे जा सकते हैं—१. जो वेदान्त के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हैं। २. जो योग की शिक्षा देते हैं। ३. जो संन्यास का गौरव-गान करते हैं। ४. जो विष्णु को सर्वोच्च देव के रूप में मानते हैं। ५. जो शिव को सर्वोच्च देवता का स्थान देते हैं।

६. शाक्त और दूसरे गौण सम्प्रदायों के उपनिषद्। इन सभी उपनिषदों को अथर्ववेद का उपनिषद् कहा जाता है। इनमें से कुछ दूसरों की तुलना में प्राचीन हैं।

उपनिषदों की विचारधारा उस सन्देहवाद का परिणाम है जिसके कुछ चिह्न वैदिक ऋचाओं में भी मिलते हैं। लेकिन उपनिषदों की दार्शनिक प्रवृत्ति और वेदों के कर्मकाण्ड में ऐसा मूल भेद है कि उपनिषदों की विचारधारा का जन्म पुरोहितों के वर्ग से भिन्न लोगों में हुआ था। इस नई प्रवृत्ति में क्षत्रिय लोगों का प्रमुख योग था। वैदिक-साहित्य में दार्शनिक विचारधारा का प्रारम्भ अर्थहीन वैदिक कर्मकाण्डों का विवेकपूर्ण अर्थ ढूँढ़ने की प्रवृत्ति में दिखलाई पड़ता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही हम क्षत्रियों को यज्ञ के वास्तविक महत्त्व को ढूँढ़ने का प्रयत्न करते पाते हैं। उपनिषदों के काल में ब्राह्मणेतर वर्ग संसार के सत्य स्वरूप के विषय में अधिक जिज्ञासु हो गया था। छांन्दोग्य उपनिषद् में पुनर्जन्म या आवागमन और आत्मा के सिद्धान्तों को सर्व-प्रथम क्षत्रिय वर्ण में उत्पन्न बतलाया गया है।

इन उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय दर्शन है। सृष्टि के पीछे छिपे सत्य की खोज करना उपनिषदों का लक्ष्य है। उनकी खोज का परिणाम है ब्रह्मन् और आत्मन् का तादात्म्य। इस विचार को "तत् त्वम् असि" में व्यक्त किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक आरुणि और उसके पुत्र श्वेतकेतु की कथा से मालूम होता है कि उस युग में ब्रह्मन्, आत्मन् और संसार के सच्चे स्वरूप और सम्बन्ध के विषय में ज्ञान न होने पर वेदों का अध्ययन निरर्थक समझा जाता था। आवागमन और पुनर्जन्म के सिद्धान्त से ही कर्मवाद का नैतिक सिद्धान्त सम्बन्धित है। सत्य को जानने की सच्ची उत्कण्ठा उस युग की विशेषता थी। सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करने में वर्ण, सामाजिक महत्त्व और सांसारिक वैभव के अन्तर महत्त्व नहीं रखते। जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य ब्रह्मन् से ऐक्य स्थापित करना है। यह केवल आत्मन् और ब्रह्मन् के तादात्म्य का ज्ञान प्राप्त करने ही से सम्भव है। सांसारिक सुखों के महत्त्व को घटाने से और उनके प्रति बढ़ती उदासीनता से उस निराशावादिता का सूत्रपात हुआ जो आगे चलकर भारतीय विचारधारा का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गई।

उपनिषदों का भारतीयों पर जो सदैव गहरा प्रभाव रहा है उसका रहस्य है सच्ची लगन जिसके साथ उपनिषदकारों ने सत्य की खोज की है। उपनिषदों की कल्पना दैवी नहीं है। वे पूर्ण रूप से मानवीय हैं और इसीलिये हमारे निकट हैं।

गीता

गीता के रचयिता का नाम हमें निश्चित रूप से नहीं ज्ञात है। महाभारत के संकलन करनेवाले व्यास को ही गीता की रचना का श्रेय दिया जाता है। गीता महाभारत के भीष्मपर्वन् का अंश है और उसके १८ अध्याय भीष्मपर्वन् के २३ अध्याय से ४० अध्याय तक फैले हैं।

प्रायः ऐसा तर्क उपस्थित किया जाता है कि कृष्ण ने युद्धक्षेत्र में अर्जुन से ७०० श्लोक नहीं कहे होंगे। उन्होंने केवल कुछ महत्त्व की बातें ही कही होंगी जिन्हें वर्णन करनेवाले ने विस्तृत रूप दे दिया होगा। इस प्रकार के तर्क के पीछे वास्तविक कारण यह है कि कुछ विद्वान् सोचते हैं कि गीता में जो परस्पर विरोधी सी लगनेवाली विचार-पद्धतियों का सामंजस्य स्थापित किया गया है वे वास्तव में विभिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न काल में जोड़े गये अंश हैं। गार्बे (Garbe) का कथन है कि भगवद्गीता मूलतः सांख्य योग की एक रचना थी जिसमें कृष्ण-वासुदेव सम्प्रदाय मिल गया। ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में कृष्ण और विष्णु में तादात्म्य स्थापित करके इसे वैदिक परम्परा के अनुकूल बना दिया गया। मूल ग्रन्थ २०० ई०पू० में बना होगा और दूसरी शताब्दी ईसवी में वेदान्त के किसी अनुयायी ने इसे इसका वर्तमान रूप दिया। हॉपकिन्स (Hopkins) का विचार है कि वस्तुतः यह एक असाम्प्रदायिक रचना सम्भवतः एक उत्तरकालीन उपनिषद् थी जो विष्णु-सम्बन्धी कविता के रूप में विकसित हुई और वर्तमान गीता इसी का कृष्णावतार से सम्बन्धित संस्करण है। होल्ट्ज़मान (Holtzmann) इसे बहु-ईश्वरवादी कविता का वैष्णव प्रभाव से परिवर्तित रूप मानते हैं। कीथ (Keith) कहते हैं कि प्रारम्भ में यह श्वेताश्वतर उपनिषद् की भाँति का एक उपनिषद् था लेकिन बाद में कृष्ण के सम्प्रदाय के अनुरूप इसमें परिवर्तन कर दिये गये। बार्नेट (Barnett) का विचार है कि विभिन्न प्रकार की पद्धतियाँ लेखक के मस्तिष्क में अव्यवस्थित रूप से गुथ गई हैं। ओटो (Otto) का कथन है कि मूल गीता ऐतिहासिक महाकाव्य (epic) का एक सुन्दर टुकड़ा है जिसमें दार्शनिक या सिद्धान्त-सम्बन्धी कोई साहित्य सम्मिलित नहीं था। इस मत का समर्थन याकोबी (Jacobi) ने किया है। उनका विचार है कि गीता के मूल अंश को दार्शनिकों ने विकसित करके उसे उसका वर्तमान रूप दिया।

लेकिन ऐसे तर्क और ऐसी धारणाएँ आवश्यक नहीं हैं। भारतीय परम्परा ने तो सदैव यह माना है कि ऊपर से परस्पर विरोधी लगनेवाले तत्त्व रचयिता के मस्तिष्क में एक सूत्र में पिरोये-से लगते हैं और समन्वय का सुन्दर आदर्श प्रस्तुत करते हैं। डा० राधाकृष्णन् यह मानते हैं कि कालान्तर में पुस्तक में कई परिवर्तन हुए होंगे लेकिन उनका कथन है कि गीता का रचना-काल ईसापूर्व पाँचवीं शताब्दी में रखा जा सकता है। गीता प्रारम्भिक उपनिषदों के बाद की और दार्शनिक सिद्धान्तों के विकास और उनके सूत्र रूप में प्रतिपादन से पहले की रचना है। इसकी प्राचीन रचना-शैली और अन्तरंग साक्ष्य के आधार पर हम इसे निश्चय रूप से ईसा से पूर्व के युग की रचना कह सकते हैं।

प्रत्येक अध्याय के अन्त में गीता का नाम "भगवद्गीता नाम का उपनिषद्" (भगवद्गीतासु उपनिषत्सु) करके दिया गया है। उपनिषद् के साथ गीता के सम्बन्ध

को वैष्णवीय तन्त्रसार के एक श्लोक में बहुत अच्छे रूप में प्रस्तुत किया गया है; सब उपनिषद् गाय हैं, कृष्ण दुहने वाले हैं, अर्जुन बछड़ा है, अच्छी बुद्धि के लोग पीने वाले हैं और अमृत के समान गीता ही दूध है (सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥)। गीता प्रमुख स्फूर्ति उपनिषदों से ही लेती है। गीता वास्तव में महाभारत के काल में उत्पन्न होनेवाली नई परिस्थितियों में उपनिषदों के आदर्श का प्रयोग करती है। उपनिषदों के आदर्शवाद को सगुण में विश्वास रखने वालों के अनुकूल बनाने के लिये गीता उपनिषदों के दर्शन में से ही एक धार्मिक व्यवस्था को ढूँढ़ने का प्रयत्न करती है। गीता की दार्शनिक पृष्ठभूमि उपनिषदों से ली गई है। गीता की भक्ति भी उपनिषदों की उपासना से विकसित हुई है। निष्काम कर्म का समर्थन उपनिषदों में भी है। भागवत् धर्म के बढ़ते प्रभाव के कारण गीता के लेखक ने उपनिषद् के ब्रह्म को शिव, विष्णु आदि नामों वाले सगुण ईश्वर में परिवर्तित कर दिया।

गीता का ध्येय जीवन की समस्याओं को सुलझाना और सत्कर्म को प्रोत्साहित करना है। गीता एक ऐसे युग में रची गयी थी जब सदाचार-प्रधान धर्मों का चलन था। यह विशेषता गीता में प्रत्येक स्थल पर लक्षित होती है। गीता सदाचार का ग्रन्थ है। यह वस्तुतः एक योगशास्त्र है। योग का शाब्दिक अर्थ चाहे जो हो, योग उस अभ्यास और शिक्षा का द्योतक है जिससे हम बिना अपनी आत्मा को कलुषित किये हुये ही अपने को संसार के दुःखों को झेलने की शिक्षा देते हैं। लेकिन कोई भी सदाचार का सिद्धान्त बिना किसी दार्शनिक सत्य का सहारा पाये स्थायी नहीं हो सकता। इसीलिये गीता का योगशास्त्र ब्रह्मविद्या पर आधारित है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में गीता को ब्रह्म-प्राप्ति की विद्या के योग का शास्त्र (ब्रह्मविद्यायाम् योगशास्त्रे) कहा गया है। गीता विचार का सिद्धान्त ही नहीं अपितु जीवन का नियम भी है, केवल सत्य की खोज ही नहीं है वरन् उस सत्य का जीवन में साक्षात्कार भी करना है।

गीता की रचना के समय भारतीय विचारधारा के अन्तर्गत जो विभिन्न तत्त्व परस्पर प्रतिस्पर्धा कर रहे थे उन्हें एक स्थान पर लाकर एक सुगठित इकाई बना दिया गया है। वैदिक यज्ञों की विधि, उपनिषदों की ब्रह्मन् की शिक्षा, भागवत सम्प्रदाय का सगुण ईश्वर में विश्वास, सांख्य का द्वैतवाद और योग की साधना सभी के विरोध मिटाकर एक सूत्र में पिरो दिये गये हैं। शताब्दियों से गीता हिन्दुओं के प्रमाणिक शास्त्रीय ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित है। उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र के साथ इसकी गणना प्रस्थान-त्रय में होती है। वेदान्ती दार्शनिकों ने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये इन्हीं से समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। गीता पर शङ्कराचार्य, रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्क, वल्लभ और आधुनिक काल में तिलक, अरविन्द और गाँधी के प्रसिद्ध भाष्य हैं।

भगवद्गीता दार्शनिक ग्रन्थ नहीं है। यह एक धार्मिक पुस्तक है। संस्कृत

साहित्य में यह सबसे अधिक लोकप्रिय धार्मिक कविता है। इसके लिए कहा जाता है कि सभी ज्ञात भाषाओं में यह सबसे अधिक सुन्दर सम्भवतः एकमात्र अवशिष्ट सच्चे रूप में दार्शनिक कविता है।

गीता में मुक्ति का सन्देश सीधा और सरल है। जब कि यज्ञ धन के अधिक व्यय के कारण केवल धनवानों के लिये ही साध्य था और ज्ञानमार्ग का अनुसरण केवल शिक्षित या सुसंस्कृत ही कर सकते थे गीता द्वारा प्रतिपादित भक्ति का मार्ग सभी के लिये संभव है। गीता की शिक्षा का सार्वभौमिक विस्तार है। गीता के रचयिता ने किसी नये सम्प्रदाय, किसी नई विचार धारा या किसी नये दार्शनिक सिद्धान्त को जन्म नहीं दिया। यह उस मनीषी की रचना है जो सत्य को उसके विभिन्न स्वरूपों में देखता हो। यह हिन्दुओं के किसी सम्प्रदाय विशेष की सम्पत्ति नहीं है, यह तो हिन्दू-धर्म को उसकी पूर्णता में उपस्थित करती है; केवल हिन्दू-धर्म ही नहीं बल्कि धर्म अपनी पूर्ण सार्वभौमिकता में इस समन्वय में परिलक्षित होता है।

यदि जनता के ऊपर प्रभाव की मात्रा किसी ग्रन्थ के महत्त्व का सूचक है तो निश्चय ही गीता भारतीय विचार-जगत् में बहुत महत्त्वपूर्ण रचना है। शताब्दियों से लाखों-करोड़ों हिन्दुओं ने इस ग्रन्थ से स्फूर्ति प्राप्त की है। आज भी अपनी शिक्षाओं कीव्यापकता और महानता के कारण यह लोगों को ज्ञान का प्रकाश देती है।

पुराण

पुराण शब्द का अर्थ है पुराना या जो प्राचीन काल से चला आता हो। प्रारंभ में पुराण शब्द 'पुराने आख्यान' का द्योतक था। ब्राह्मण, उपनिषद् और प्राचीन बौद्ध-साहित्य में पुराण शब्द इतिहास के साथ-साथ प्रयुक्त होता है। किन्तु इतिहास-पुराण से वास्तव में किसी विशेष ग्रन्थ का बोध नहीं होता। प्रारंभ में पुराण प्राचीन घटनाओं या आख्यानों के लिये प्रयुक्त होता था। वह प्रायः सदैव गाथा, नाराशंसी, वाकोवाक्य और इतिहास के साथ प्रयुक्त होता था। प्रारंभ में इतिहास को पुराणों के ऊपर प्रमुखता मिली थी लेकिन धीरे-धीरे पुराणों का महत्त्व बढ़ा।

अथर्ववेद में चारों वेद के अनन्तर पुराण का उल्लेख है। इससे यह सोचा जा सकता है कि पुराण से ग्रन्थ विशेष का बोध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् में तत्कालीन प्रचलित शास्त्रों में वेदों के अनन्तर पुराणों का भी उल्लेख है। सूत्रकाल में तो ग्रन्थरूप में पुराणों की सत्ता के विषय में सन्देह नहीं रह जाता। इन पुराणों का स्वरूप बहुत कुछ वैसा ही था जैसा हमें उपलब्ध पुराणों का है। गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है कि न्याय करने में राजा को वेद, धर्मशास्त्र, वेदाङ्ग और पुराणों को प्रमाण मानना चाहिये। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में दो उद्धरण पुराण से और एक भविष्यत् पुराण से दिये गये हैं। यद्यपि ये तीनों उद्धरण वर्तमान पुराणों में नहीं मिलते हैं

फिर भी इन्हीं के समान अर्थ वाले अंश प्राप्य हैं। संभवतः उस समय के पुराणों में कालान्तर में परिवर्तन किये गये। इस प्रकार से पाँचवीं या चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में वर्तमान पुराणों से मिलते-जुलते ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी।

पुराणों और महाभारत का तुलनात्मक अध्ययन करने से मालूम पड़ता है कि महाभारत को उसका अन्तिम रूप प्राप्त होने से पूर्व ही पुराणों का पृथक् साहित्य के रूप में अस्तित्व था और जिस रूप में वर्तमान पुराण हैं उनमें भी बहुत-सी सामग्री वर्तमान महाभारत से पहले की है। महाभारत स्वयं अपने को पुराण बतलाता है और पुराण की भाँति ही इसका आरंभ होता है। सूत लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा महाभारत के वक्ता हैं। लोमहर्षण के लिये कहा गया है कि उसने पुराणों का अध्ययन किया था। महाभारत में आख्यानों के प्रारंभ में प्रायः यह वाक्यांश मिलता है "पुराणों में ऐसा सुना जाता है।" हरिवंश में वायुपुराण से उद्धरण दिया गया है और कई स्थलों में हरिवंश और वायुपुराण में अक्षरशः साम्य है। कई आख्यान और उपदेशात्मक अंश महाभारत और पुराणों में समान रूप से मिलते हैं। लूडर्स (Lüders) ने सिद्ध किया है कि पद्मपुराण में उपलब्ध ऋष्यश्रृंग का आख्यान महाभारत में उपलब्ध इसी आख्यान से अधिक प्राचीन है।

यह कहना युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता कि सभी पुराण एक ही मूल पुराण के संशोधित और विकसित रूप हैं। पुराण-संबंधी साहित्य के विकास के इतिहास में कभी भी केवल एक ही पुराण का अस्तित्व नहीं था। इसी के साथ ही दूसरी बात यह है कि हमारे वर्तमान पुराण प्राचीन पुराण नहीं हैं। यह निष्कर्ष इस बात से निकाला जा सकता है कि वर्तमान काल का एक भी पुराण पंच लक्षण की परिभाषा से साम्य नहीं रखता।

पुराणों की उत्पत्ति के विषय में स्वयं पुराणों में ही देवताओं से संबंध जोड़ने वाले आख्यान मिलते हैं। आधुनिक विद्वानों ने भी इस विषय पर कई मत प्रतिपादित किये हैं।

पुराणों का संकलन संभवतः सूत ने वैदिक युग में वंश और आख्यानों से किया था। यह सूत धर्मशास्त्रों के सूत से भिन्न था। यह एक पवित्र और पूज्य ब्राह्मण था। पुराणों की सामग्री को महाभारत के युद्ध की चार पीढ़ी बाद एकत्रित और सम्पादित किया गया। इसी कारण से इसके बाद के राजवंश के इतिहास के वर्णन में भविष्य काल का प्रयोग हुआ है। पुराणों के विकास की दूसरी अवस्था उपनिषदों का युग था। इसी समय सांख्य और उपनिषद् के विचारों के अनुकूल सृष्टि-संबंधी कुछ अध्याय जोड़ दिये गये। सूत्र काल में पुराण शब्द का वास्तविक अर्थ गौण हो गया था। इसके स्थान पर पुराण एक विशिष्ट प्रकार के ग्रन्थों के लिये प्रयुक्त होने लगा। संभवतः इसी समय के पुराणों के कारण

पंच लक्षण वाली परिभाषा बनी। हिन्दू कर्मकाण्ड और व्यवहार, वर्णाश्रम-धर्म, श्राद्ध, दान, दीक्षा, व्रत और तीर्थ आदि विषयों से संबंधित सामग्री जो वस्तुतः धर्मशास्त्रों की प्रतिपाद्य विषय थी चौथी शताब्दी के मध्य तक जोड़ दी गयी थी। इसके बाद भी पुराणों के साथ लोग मनमानी करते रहे। पुराणों को विश्वकोष बनाने की इच्छा से विभिन्न उपायों से विभिन्न प्रकार की सामग्री समय-समय पर पुराणों में जोड़ी गई।

पार्जिटर (Pargiter) का अनुसरण करके कुछ विद्वानों ने यह मत रखा है कि प्राचीन भारत में दो प्रकार की परम्परायें थीं। एक वेदों से सम्बद्ध थी और इसके प्रचारक और पोषक ब्राह्मण थे। दूसरी परम्परा पुराणों से सम्बद्ध थी और उसके समर्थक क्षत्रिय थे। पार्जिटर की इस कल्पना के मूल में दो विश्वास निहित हैं। १—पुराणों के प्रमुख पात्र क्षत्रिय थे और उनमें से अधिकांश का वेदों में उल्लेख नहीं है; २—पुराणों का अस्तित्व बनाये रखने का श्रेय सूत लोगों को है जिनकी उत्पत्ति क्षत्रियों से है। लेकिन ये विचार न्याय-संगत नहीं हैं। क्षत्रिय और ब्राह्मण परम्परायें मूल रूप में भिन्न नहीं थीं। ऐसे ग्रन्थ जिन्हें विद्वानों ने क्षत्रिय परम्परा का बतलाया है उनमें भी ब्राह्मणों के गौरव का गान है। इस प्रकार से ब्राह्मणों द्वारा रचित साहित्य में भी क्षत्रियों के आख्यान हैं। राजवंशावलियों को ही पार्जिटर ने वास्तविक क्षत्रिय परम्परा की कृतियाँ बतलाया है। लेकिन पुराणों में इनका आनुपातिक महत्त्व कम है। पुराणों के अधिकांश भाग में वैदिक और ब्राह्मण संबंधी साहित्य है। फिर पुराण वैदिक धर्म को महत्त्व देते हैं और अपने को स्वयमेव पंचम वेद कहते हैं। वास्तविकता यह है कि वेद और पुराण दो भिन्न परम्पराओं की देन नहीं हैं। दोनों ब्राह्मण-परम्परायें हैं। अन्तर केवल परिस्थिति, ध्येय और लक्ष्य का है जिन्होंने उनकी रचनाओं को प्रभावित किया है। सूत लोमहर्षण निकृष्ट वर्ण-संकर सूत जाति के जिनका प्रधान कार्य रथ चलाना था, नहीं थे। वे उच्च कुल के ज्ञानी विद्वान् थे। अग्निकुण्ड-सूत (उत्पन्न) होने के कारण वे संक्षेप में सूत कहलाते थे।

पुराणों के रचना-काल के विषय में पाश्चात्य विद्वानों में भ्रान्तिपूर्ण धारणा थी। वे इनकी रचना अब से सहस्र वर्ष पूर्व की नहीं मानते थे। किन्तु यह विचार प्रमाणों के सम्मुख युक्ति-संगत नहीं मालूम पड़ता। अलबेरुनी (१०३० ई०) ने १८ पुराणों की सूची दी है, कई पुराणों से उद्धरण दिये हैं और विष्णुधर्मोत्तर पुराण का उसने स्वयं गहन अध्ययन किया था। कुमारिल (७५० ई०), शङ्कर (नवीं शताब्दी) और रामानुज (१२ वीं शताब्दी) ने पुराणों को प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थ माना है। बाण (६२५ ई०) ने हर्षचरित में अपने गाँव में वायुपुराण के पारायण को सुनने का उल्लेख किया है।

पुराणों में कलियुग राजाओं का वर्णन भी पुराणों के रचना-काल के निर्धारण में सहायक हो सकता है। इन सूचियों में दूसरे राजवंशों के साथ शैशुनाग, नन्द,

मौर्य, शुंग, आन्ध्र और गुप्त वंशों का इतिहास मिलता है। गुप्तों का वर्णन उनके प्रारंभिक साम्राज्य का ही द्योतक है। इस प्रकार से पुराणों को गुप्त युग के बाद के किसी राजवंश या प्रसिद्ध सम्राट् का ज्ञान नहीं है। निश्चय ही उनकी रचना गुप्तकाल से बहुत बाद की नहीं हो सकती।

प्रारंभिक पुराणों की रचना अधिकांश रूप से ईसवी संवत् की प्रारंभिक शताब्दियों से पूर्व ही पूर्ण हो गई प्रतीत होती है। बौद्धों के महायान सम्प्रदाय की पुस्तकें ललितविस्तर, सद्धर्म-पुण्डरीक, करण्ड-व्यूह और महावस्तु जिनकी रचना ईसवी संवत् भी प्रारंभिक शताब्दियों में हुई थी शैली और विषय दोनों की दृष्टि से पुराणों का अनुकरण सी करती प्रतीत होती हैं। ललितविस्तर तो स्पष्ट अपने को पुराण बतलाता है।

पुराणों के युग का निर्णय सदैव विवाद-ग्रस्त रहेगा। अपने वर्तमान स्वरूप में पुराण किसी विशेष युग की रचना नहीं कहे जा सकते। एक ही पुराण के विभिन्न अंश विभिन्न युगों के हैं।

पुराणों की परिभाषा अमरसिंह ने अपने अमरकोश में दी है। यही परिभाषा कुछ पुराणों में भी दी गई है। इसके अनुसार पुराणों के पाँच लक्षण हैं—(१) सर्ग या सृष्टि (२) प्रतिसर्ग या सृष्टि का लय तथा पुनः सृष्टि (३) वंश या देवताओं और ऋषियों की वंशावलियाँ। (४) मन्वन्तर या प्रत्येक मनु का युग और उसकी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का इतिहास और (५) वंशानुचरित या राजाओं की वंशावलियाँ (सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥)। यही पुराणों के पाँच विषय हैं। लेकिन आश्चर्य की बात यह है कि जितने भी पुराण उपलब्ध हैं उनमें से एक भी इस परिभाषा से पूर्ण साम्य नहीं रखता। कुछ पुराणों में तो इन पाँच लक्षणों के अतिरिक्त भी बहुत से विषय सम्मिलित हैं। कुछ पुराणों की विषय-सामग्री तो इन पाँच लक्षणों से सर्वथा भिन्न है। पंच लक्षण उपलब्ध पुराणों के नगण्य से अंश हैं। पुराणों में अधिकतर सामग्री धार्मिक शिक्षा, दान, धार्मिक अनुष्ठान और पवित्र स्थानों के वर्णन से संबंधित है। इस प्रकार पुराणों की प्रसिद्ध परिभाषा पूर्णतया सही नहीं उतरती है। यह समस्या पुराणों के संकलन-कर्ताओं के सामने भी थी। इसी से बचने के लिये वे कहते हैं कि पंचलक्षण की परिभाषा उपपुराणों के लिये प्रयुक्त होती है और महापुराणों के तो दस लक्षण होते हैं। इन दस लक्षणों में पाँच लक्षणों की तो गणना होती ही है; शेष पाँच लक्षण हैं—वृत्ति (जीविका के साधन), रक्षा (देवताओं का अवतरित होना), मुक्ति, हेतु (जीव) और अपाश्रय (ब्रह्मन्)। लेकिन यह परिभाषा भी पूर्ण नहीं है। इन दस लक्षणों के अतिरिक्त भी पुराणों की कुछ विशेषतायें बचती हैं, उदाहरणार्थ ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य और रुद्र का गुणगान, धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष का विवेचन, वर्णाश्रम-व्यवस्था और सांख्य तथा योग दर्शनों का विवरण। फिर

भी कुछ विषय बच ही रहते हैं। वास्तविकता तो यह है कि पुराणों का स्वरूप सदैव अस्थिर रहा है और उनमें समय-समय पर संशोधन, परिवर्तन, घटाना और बढ़ाना लगा रहा है। इस प्रकार से प्राचीनता ही पुराणों की एक विशेषता कही जा सकती है। जो कुछ भी प्राचीन है, वह जीवन के जिस किसी भी क्षेत्र से संबंधित हो, पुराणों का विषय बन सकता है।

पुराणों या महापुराणों की संख्या १८ बतलाई जाती हैं। स्वयं पुराणों में ही महापुराणों के नाम की तालिकायें दी गई हैं जो प्रायः इस क्रम से इनका उल्लेख करती हैं:— १–ब्रह्म, २–पद्म, ३–विष्णु, ४–वायु, ५–भागवत, ६–नारदीय, ७–मार्कण्डेय, ८–अग्नि, ९–भविष्य, १०–ब्रह्मवैवर्त, ११–वराह, १२–लिङ्ग, १३–स्कन्द, १४–वामन, १५–कूर्म, १६–मत्स्य, १७–गरुड और १८–ब्रह्माण्ड। कुछ पुराणों में वायु पुराण के स्थान पर शिव पुराण[1] का और भागवत के स्थान पर देवी-भागवत का नाम आता है। पार्जिटर और फर्कुहर नाम के पाश्चात्य विद्वानों ने महापुराणों की परम्परागत संख्या १८ में शिव पुराण और हरिवंश पुराण जैसे कुछ और नामों को जोड़ने का प्रयत्न किया है किन्तु ये सुझाव ग्राह्य नहीं हैं।

पुराणों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है। एक विधि तो यह है कि पंचलक्षण की परिभाषा से साम्य की मात्रा के आधार पर उन्हें पूर्व या उत्तर-कालीन पुराणों में बाँटा जाय। किसी पुराण में पंच लक्षण के पाँच विषयों के अतिरिक्त दूसरे विषयों की संख्या और मात्रा की कमी के अनुसार ही उसकी प्राचीनता निर्धारित होती है। इस दृष्टि से यदि विभिन्न पुराणों का विवेचन किया जाय तो वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य और विष्णु प्राचीन पुराणों के वर्ग में आते हैं।

शिव, विष्णु, अग्नि, सूर्य और ब्रह्मा में से किसी एक देवता को प्रमुखता देने के आधार पर भी पुराणों का वर्गीकरण किया जाता है।

आधुनिक काल के विद्वान् पुराणों की विषय-सामग्री के आधार पर उन्हें कई वर्गों में विभाजित करते हैं: १–वे जिनमें पुराणों की पारिभाषिक सामग्री के अतिरिक्त संस्कृत के सभी प्रसिद्ध कला और विज्ञान के ग्रन्थों का सारांश भी हो जैसे गरुड, अग्नि और नारद; २–वे जो मुख्यतः तीर्थों और व्रतों का विवरण देते हैं जैसे पद्म, स्कन्द और भविष्य; ३–वे जिनमें दो बार संशोधन और परिवर्तन किये गये जैसे ब्रह्म, भागवत और ब्रह्मवैवर्त; ४–ऐतिहासिक पुराण जिनका केवल ब्रह्माण्ड पुराण ही एक अवशिष्ट उदाहरण है; ५–साम्प्रदायिक पुराण जिनमें लिंग और वामन पुराण शैव हैं और मार्कण्डेय का सम्बन्ध देवी से है और ६–प्राचीन पुराण जो इतने परिवर्तित हुये हैं कि अपना स्वरूप ही खो बैठे हैं जैसे वराह, कूर्म और मत्स्य।

---

१. डा० पुसालकर ने सिद्ध किया है कि शिव पुराण की गणना महापुराणों के बीच नहीं हो सकती।

स्वयं कुछ पुराणों ने ही उपपुराणों का उल्लेख किया है। उपपुराणों की भी संख्या १८ बतलाई जाती है। लेकिन इनकी तालिका में नामों के विषय में कोई निश्चित क्रम या स्थिरता नहीं है। हम देखते हैं कि किसी धार्मिक ग्रन्थ का रचयिता यदि अपनी रचना को किसी पुराण का अंश नहीं घोषित करता था तो वह उसे भी उपपुराणों की संज्ञा दे देता था। माहात्म्य जिनकी संख्या बहुत अधिक थी इसी प्रकार उपपुराणों के नाम से प्रसिद्ध हुये। साधारण रूप से पुराणों और उपपुराणों में कोई मूल-भूत अन्तर नहीं है। उपपुराण अधिक साम्प्रदायिक हैं। स्थानीय सम्प्रदायों की विभिन्न धार्मिक आवश्यकताओं के भी ये अधिक अनुकूल हैं। इनकी विषय-सामग्री में भी विविधता है। इनकी रचना भी बहुत बाद में हुई है; इस कारण से इनका ऐतिहासिक महत्त्व कम है। विविध तालिकाओं का तुलनात्मक विवेचन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः १८ उपपुराणों के नाम इस प्रकार से थे—१. सनत्कुमार, २. नरसिंह, ३. नन्द, ४. शिवधर्म, ५. दुर्वासा, ६. नारदीय, ७. कपिल, ८. वामन, ९. उपनस्, १०. मानव, ११. वरुण, १२. काली, १३. महेश्वर, १४. साम्ब, १५. सौर, १६. पराशर, १७. मारीच और १८. भार्गव। हाजरा (Hazra) नाम के विद्वान् ने लगभग १०० उपपुराणों के नाम गिनाये हैं। लेकिन इनमें से १५ से अधिक अभी मुद्रित नहीं हो पाये हैं।

त्रिपिटक

बौद्ध लोगों के धर्म ग्रन्थ तीन पिटारियों या पिटकों के रूप में हैं। इसीलिये इन्हें त्रिपिटक या पाली में तिपिटक कहते हैं। इनके नाम हैं विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्मपिटक। विनयपिटक में बौद्ध भिक्षुओं के लिये नियम हैं। सुत्तपिटक में बुद्ध की नैतिक शिक्षाएँ हैं। अभिधम्मपिटक में शिक्षाओं में निहित दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। त्रिपिटकों में ही कुछ स्थलों पर बौद्धधर्म-ग्रन्थों को स्वरूप और विषय-सामग्री की दृष्टि से ९ अंगों में विभाजित किया गया है : सुत्त (गद्य में उपदेश), गेय्य (गद्य और पद्य दोनों में उपदेश), वेय्याकरण (अर्थ), गाथा (श्लोक), उदान (लघु कविता), इतिवुत्तक ('बुद्ध ने ऐसा कहा' इस वाक्यांश से प्रारम्भ होनेवाले कुछ लघु कथन), जातक (पूर्व जन्मों की कथाएँ), अब्भुतधम्म (अद्भुतकृत्य) और वेदल्ल (प्रश्न और उत्तर के रूप में शिक्षायें)।

तीनों पिटकों का वर्णन इस प्रकार से है—

(१) विनय पिटक—इसे पिटकों में प्रथम स्थान दिया गया है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित पुस्तकें हैं—

(क) पातिमोक्ख में संयम और अनुशासन के नियम और उनको भंग करने पर प्रायश्चित का विवरण है।

(ख) सुत्तविभंग-में पातिमोक्ख के नियमों की ऐतिहासिक भूमिका-सी दी गई है जिसमें बतलाया गया है कि कोई नियम कैसे, कब और क्यों बना कि नियमों के साथ ही प्रत्येक शब्द पर टीका और विवादास्पद विषयों की विवेचना भी है। सुत्तविभंग के दो भाग हैं—महाविभंग और भिक्खुनी-विभंग।

(ग) खन्दक एक प्रकार से सुत्तविभंग का पूरक है। इसके दो भाग हैं। महावग्ग में संघ की स्थापना की कहानी और भिक्षुसंघ में प्रवेश, उपोसथ और वर्षाऋतु के लिए नियम हैं। साथ ही जूते, आसन, सवारी, वस्त्र, औषध और संघ में व्यवस्था स्थापित करने के भी नियम दिये गये हैं। चुल्लवग्ग में भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिये नियम संगृहीत हैं। इसमें बुद्ध के जीवन और भिक्षुसंघ के इतिहास से सम्बन्धित शिक्षापूर्ण घटनाओं के वर्णन हैं। चुल्लवग्ग के अन्तिम दो प्रकरणों में राजगृह और वैशालीकी बौद्ध सभाओं का वर्णन है।

(घ) परिवार में विनयपिटक के दूसरे भागों का सार प्रश्न और उत्तर के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

(२) **सुत्तपिटक**में पाँच निकाय हैं—दीघ, मज्झिम, संयुत्त, अंगुत्तर और खुद्दक। इनमें पहले चार या तो बुद्ध द्वारा दिये गये उपदेश के रूप में हैं जिनके साथ छोटी भूमिकाओं में शिक्षा किस स्थान और किस परिस्थिति में दी गई इसका उल्लेख है अथवा जो वार्तालाप के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

(क) दीघ निकाय—तीन खण्डों में विभक्त है। इसमें अति विस्तार के ३४ सुत्त संगृहीत हैं। इनके विषय विविध प्रकार हैं। सुत्तों में कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक सुत्त स्वयं ही एक पृथक् रचना मानी जा सकती है। इसमें मिलनेवाले कुछ प्रसिद्ध सुत्त हैं—ब्रह्मजाल सुत्त, सामञ्ञफल सुत्त और महापरिनिब्बान सुत्त।

(ख) मज्झिम निकाय में भी तीन खण्ड हैं। इसमें बौद्ध-धर्म से सम्बन्धित प्रायः सभी विषयों का उल्लेख है। उस समय की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक दशा के ऊपर इसमें महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है।

(ग) संयुत्त निकाय में अधिकांश रूप में नैतिक और दार्शनिक समस्याओं से संबंधित सुत्तों का संकलन है। इसमें ५६ वर्ग या संयुत्त हैं। सुत्तों का वर्गीकरण तीन प्रकार से हुआ है—१. बौद्ध सिद्धान्त के किसी महत्त्वपूर्ण विषय से संबंधित, २. देव, मनुष्य या दानव वर्ग से संबंधित, ३. कोई प्रमुख व्यक्ति जिसका प्रमुख पात्र या कहनेवाला हो। संयुत्त निकाय का एक दूसरा वर्गीकरण ५ वग्गों (वर्गों) में है—सगाथ, निदान, खन्ध, सलायतन और महा। पहले वर्ग में बौद्ध धर्म की नैतिक शिक्षाओं को महत्त्व दिया गया है। अन्य वर्गों में (Epistemology) और दर्शन की प्रमुखता है।

(घ) अंगुत्तर निकाय में ११ खण्ड या निपात हैं जो वर्गों में विभाजित किये

गये हैं। इसका ध्येय पुनरुक्ति के द्वारा कुछ सिद्धान्त के तत्त्वों को बोधगम्य बनाना है। इसकी शैली संयत है और विषयों की विविधता इसकी विशेषता है।

(ङ) खुद्दक निकाय—यह निकाय प्रधान रूप से पद्य में है। यह वास्तव में विविध ग्रन्थों का संकलन मात्र है जो अन्य निकायों की रचना के बाद सुत्तपिटक में जोड़ दिये गये। खुद्दक के अन्तर्गत निम्नलिखित रचनायें आती हैं :

१. खुद्दक पाठ—भिक्षु संघ में प्रवेश करनेवाले के लिये प्रथम पाठ-पुस्तक की भाँति इसका उपयोग होता था। बौद्ध सम्प्रदाय में मन्त्र या प्रार्थना के रूप में यह प्रयुक्त होता था।

२. धम्मपद—दूसरे बौद्ध धर्म-ग्रन्थों के श्लोकों के संकलन के रूप में यह पुस्तक बुद्ध की नैतिक शिक्षाओं को बड़े सुन्दर रीति से प्रस्तुत करती है। बौद्ध जगत में इसकी लोकप्रियता बहुत अधिक है।

३. उदान वग्गों और सुत्तों में विभाजित है। प्रत्येक सुत्त में बुद्ध के कथन और उनके साथ ही वर्णन भी रखे गये हैं।

४. इतिवुत्तक में गद्य और पद्य में बुद्ध के प्रमाणिक कथनों का संकलन है। इन अंशों का प्रारंभ "भगवान् अर्हत ने ऐसा कहा था और यह मैंने सुना है" ऐसे वाक्य से होता है। इनके अंत में "भगवान् ने यह अर्थ बतलाया है और मैंने यह सुना है" वाक्यांश मिलता है।

५. सुत्त निपात में काव्यात्मक सुत्तों को ५ वग्गों में संकलित किया गया है। धम्मपद के बाद यही पुस्तक बौद्धों में जनप्रिय है। बौद्ध धर्म की नैतिक शिक्षाओं, बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक इतिहास और बौद्ध काल की दशा के अध्ययन के लिये यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है।

६. विमान वत्थु में स्वर्ग के कुछ आवासों का वर्णन है जिन्हें लोग पृथ्वी पर अपने पुण्य कार्यों के कारण देवता की योनि में पाते हैं।

७. पेत वत्थु में पृथ्वी पर किये गये पापों के कारण मृत्यु के बाद के दुःख और यंत्रणा का वर्णन है।

८-९. थेरगाथा और थेरीगाथा में भिक्षुओं और भिक्षुणियों द्वारा रचित कविताओं का संग्रह है।

१०. जातकों में बुद्ध के पूर्व जन्मों की कहानी है। प्रत्येक जातक कहानी में ये भाग रहते हैं—पच्चुपन्नवत्थु (वर्तमान काल की कथा अर्थात् बुद्ध ने किस अवसर पर इस कहानी को बतलाया), अतीतवत्थु (भूतकाल की कहानी अर्थात् गद्य में बुद्ध के किसी पूर्व जन्म का वृत्तान्त), गाथा (श्लोक जो अधिकतर अतीतकाल की कथा से सम्बन्धित होते हैं), वेय्याकरन (टीका जिसमें गाथा के प्रत्येक शब्द की व्याख्या है) और समोधान (जिसमें बुद्ध वर्तमान की कथा के पात्रों की अतीत की कथा के

पात्रों से एकरूपता स्थापित करते हैं)। जातक कथाओं के स्वरूप में विविधता है। कुछ व्यावहारिक बुद्धि या नीति की शिक्षा देती हैं। कुछ परियों की कहानी जैसी हैं। केवल कुछ ही में सदाचार की सीधी शिक्षा दी गई है। इनमें भी निर्विवाद रूप से बौद्ध सिद्धान्त की कहानियाँ बहुत ही कम हैं। आधे से भी अधिक कहानियों की उत्पत्ति बौद्धधर्म से भिन्न स्रोतों से मालूम होती हैं। ये कहानियाँ विविध विषयों की हैं : पशुओं की कृतज्ञता और मनुष्यों की कृतघ्नता, स्त्रियों की दुष्टता, परिहास, यक्षिणियाँ, मृत्यु पर सान्त्वना, डाकू, चोर, जुआ खेलनेवाले और गणिकायें। जातकों में अधिकांश पद्य भाग सम्भवतः ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से पहिले का नहीं है और अधिकतर गद्य ईसवी सम्वत् के प्रारम्भ होने के बाद का है। जातकों में समाज और सभ्यता के विभिन्न पहलुओं के विषय में महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलती है।

११. निद्देस दो भागों में विभाजित है—महानिद्देस और चुल्लनिद्देस। इसमें सारिपुत्त द्वारा सुत्त निपात के अन्तिम दो वग्गों में से ३२ सुत्तों की व्याख्या है।

१२. पटिसम्भिदामग्ग में तीन बड़े भाग हैं जिनमें से प्रत्येक में १० अध्याय बौद्ध सिद्धान्त के किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर हैं। ऐसे तो इसमें अभिधम्म पिटक की शैली के अनुकरण में प्रश्नोत्तर हैं लेकिन सुत्त पिटक की भाँति इसके सुत्तों का आरम्भ होने के कारण यह सुत्त पिटक में सम्मिलित किया गया।

१३. अपदान में पद्य में बौद्धधर्म के सत्पुरुषों के पराक्रम और पुण्य कार्यों का उल्लेख है। इन जीवन-चरित्रों में ५५० भिक्षुओं के और ४० भिक्षुणियों के हैं। इनमें भी जातकों की भाँति वर्तमान और अतीत दोनों जीवन की कहानियाँ हैं।

१४. बुद्ध वंश में गौतम अपने से पूर्व के २४ बुद्धों की जो अन्तिम १२ कल्पों में हुये थे गाथा काव्य में प्रस्तुत करते हैं।

१५. चरिया पिटक में श्लोकों में जातकों का संकलन है।

(३) अभिधम्मपिटक—यह भी उन्हीं विषयों से संबंधित है जिनका विवरण सुत्त पिटक में मिलता है। अन्तर केवल यह है कि अभिधम्म पिटक में उल्लेख अधिक पाण्डित्य-पूर्ण है। यह मुख्यतः प्रश्नोत्तर के रूप में लिखा गया है। अभिधम्म में ७ पुस्तकें हैं जिन्हें सत्तपकरण कहते हैं। इनके नाम हैं, धम्म-सङ्गणि, विभङ्ग, धातुकथा, पुग्गल पञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। अभिधम्म की पुस्तकों में हमें न तो नवीनता और न गहराई ही देखने को मिलती है। इन पुस्तकों में कथावत्थु अधिक प्रसिद्ध है।

बौद्ध लोगों के धार्मिक ग्रन्थों की रचना पाली, मागधी और दूसरी प्रादेशिक भाषाओं में हुई थी। किन्तु इनमें से केवल पाली ही में लिखा त्रिपिटक पूर्ण रूप में मिलता है। दूसरी भाषाओं के संस्करणों के केवल कुछ अंश ही मिले हैं। पाली

भाषा का त्रिपिटक थेरवाद सम्प्रदाय का है जिसका लंका और बरमा में बहुत अधिक प्रचार है।

त्रिपिटकों की रचना का काल विवाद का विषय होते हुये भी स्थूल रूप से निश्चित किया जा सकता है। स्पष्ट ही बुद्ध की शिक्षाओं का संग्रह जो उनकी मृत्यु के बाद बना ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी से पहले का नहीं हो सकता। प्रायः विद्वान् इस बात पर सहमत हैं कि पाली त्रिपिटक प्रथम या द्वितीय बौद्ध सभा के समय के नहीं हैं। दूसरी ओर बौद्ध अनुश्रुति के ही अनुसार त्रिपिटकों को उनका अन्तिम रूप लंका के राजा बट्टगामणि के राज्यकाल में मिला था। इस प्रकार त्रिपिटकों की रचना पहली शताब्दी ईसा पूर्व के प्रथम चरण के बाद की नहीं हो सकती। मिलिन्दपञ्हो नाम की पुस्तक पहला साहित्यिक साक्ष्य है जिसमें तीनों पिटकों और पाँचों निकायों का उल्लेख है।

पाली त्रिपिटक के ग्रन्थों की परस्पर तुलनात्मक प्राचीनता भी कुछ सीमा तक निर्धारित की जा सकती है। महावग्ग और चुल्लवग्ग बौद्धों की तीसरी सभा के विषय में मौन हैं। अतएव वे अशोक के सयय से पहले के हैं। सुत्तविभङ्ग और पाँचो निकायों का उल्लेख चुल्लवग्ग में मिलने के कारण ये ग्रन्थ बहुत प्राचीन सिद्ध होते हैं। इस स्थल पर अभिधम्म पिटक का उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह पिटक बहुत बाद की रचना सिद्ध होता है। कथावत्थु की रचना विनय, सुत्त और अभिधम्म ग्रन्थों के बाद की है। अधिकतर विद्वान् यह मानते हैं कि विनय पिटक के अधिकतर भाग और सुत्त पिटक के प्रथम चार निकायों का संग्रह ३५० ई० पूर्व तक हो गया था।

जैन आगम

जैन मतावलम्बी अपने धार्मिक साहित्य को सिद्धान्त या आगम कहते हैं। इसमें १२ अंग, १२ उपांग, १० प्रकीर्ण, ६ छेद सूत्र, ४ मूल सूत्र और नन्दि सूत्र तथा अनुयोग सूत्र की गणना होती है। इनमें से अंगों को छोड़ कर शेष की सूची और नामों में भी अन्तर मिलते हैं। उदाहृण के लिये प्रकीर्णों की संख्या अनिश्चित है। इसी प्रकार से सिद्धान्तों की परम्परागत संख्या ४५ है लेकिन विभिन्न स्थलों पर दी गई पुस्तकों की संख्या ४५ और ५० के बीच आती है।

जैनों की धार्मिक पुस्तकों में स्वयं इनका विभाजन दो प्रकार से किया गया है। अंग और अंगबाहिरिय (अंगो से बाहर दूसरे ग्रन्थ) अथवा अंग पविट्ठ (जो अंगों के अन्तर्गत हों) और अडङ्ग पविट्ठ (जो अंगों के अन्तर्गत न हों)।

जैनों के धार्मिक साहित्य का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

बारह अंग—१. पहला अंग आयारंग-सुत्त (आचाराङ्ग-सूत्र) है। यह दो भागों में विभाजित है। इसमें जैन भिक्षु के आचार के नियमों का वर्णन है।

२. सूयगडङ्ग (सूत्रकृताङ्ग) का ध्येय नये भिक्षुओं को दूसरे मतों से दूर रखना और उन्हें कठिनाइयों और प्रलोभनों से सचेत करना है जिससे अपने धर्म में उनका विश्वास बढ़े और वे सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति कर सकें। इसमें जैनों के अतिरिक्त दूसरे मतों की समीक्षा भी है।

३. ठाणंग (स्थानांग) में जैन धर्म के विविध सिद्धान्तों का विवरण है।

४. समवायंग में शैली और विषय की दृष्टि से तीसरे अंग का ऐसा अनुसरण किया गया है कि हम इसे तीसरे अंग का ही एक भाग कह सकते हैं।

५. भगवती वियाहपन्नत्ति (व्याख्या-प्रज्ञप्ति) भगवती-सूत्र के नाम से अधिक विख्यात है। इसमें प्रमुख शिष्य गोयम इन्दभूति के प्रश्नों के उत्तर के रूप में महावीर जैन धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। महावीर के जीवन और उनके कृत्यों, शिष्यों और दूसरे समकालिकों के साथ उनके संबंध का बड़ा सजीव वर्णन है। कुछ आख्यानों में महावीर के पूर्ववर्तियों और उन संन्यासियों का विवरण है जिन्होंने अपनी घोर तपस्या से दैवी पद प्राप्त किया। सत्कर्मों और दुष्कर्मों से मिलनेवाले स्वर्ग और नरक का बड़ा विशद वर्णन भी इसी ग्रन्थ में मिलता है।

६. नाया-धम्म-कहाओ (ज्ञाताधर्म-कथाः) में कथा, आख्यायिका, पहेली आदि के माध्यम से जैन धर्म के सिद्धान्तों की शिक्षा दी गई है। इसके साथ ही यात्रियों, नाविकों और डाकुओं के साहस के कृत्यों का भी वर्णन है। प्रायः कहानियों में कई जन्मों का उल्लेख रहता है।

७. उवासगदसाओ (उपासक-दशाः) में उन धनी व्यापारियों की कथा है जो जैन धर्म स्वीकार करते हैं, तपश्चर्या के द्वारा अद्भुत शक्ति प्राप्त करते हैं और स्वेच्छा से प्राण त्याग कर स्वर्ग में देवता के रूप में उत्पन्न होते हैं।

८-९. अन्त-गडदसाओ (अन्तकृद्दशाः) और अणुत्तरोववाइय-दसाओ। (अनुत्तरौपपातिकदशाः) दोनों ही में एक ही योजना का पालन हुआ है। दोनों में ऐसे जैन भिक्षुओं के विवरण हैं जिन्होंने विविध प्रकार की तपस्याओं के द्वारा शरीर का अन्त कर स्वर्ग की प्राप्ति की।

१०. पण्हावागरणाइं (प्रश्न-व्याकरणानि) में जैन धर्म के पंच महाव्रतों और उनसे संबधित पंच गुणों का वर्णन है।

११. विवाग-सुयम् (विपाक-श्रुतम्) में अच्छे और बुरे कर्मों के जन्मान्तर में मिलने वाले फलों को कथाओं द्वारा समझाया गया है।

१२. दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद) अन्तिम अंग है। यह अंग उपलब्ध नहीं है लेकिन दूसरे ग्रन्थों में उल्लेखों से इसके विषय में सूचना मिलती है।

बारह उपांग—प्रत्येक अंग से संबंधित एक उपांग है। लेकिन यह संबंध केवल बाह्य है। अंगों के नाम इस प्रकार से हैं:—

१. ओवाइय अथवा उववाइय (औपपातिक) में मुख्य रूपसे बतलाया गया है कि किस प्रकार से मनुष्य देवताओं के बारह लोकों में से किसी एक को प्राप्त करता है।

२. रायपसेणइज्ज अथवा रायपसेनइय (राजप्रश्नीय) में राजा पएसि भिक्षु केसि से आत्मा के शरीर से पृथक् होने के सिद्धान्त को सुनकर धर्म-परिवर्तन करता है।

३. जीवाभिगम में सजीव प्राणियों के एक व्यापक वर्गीकरण तथा पूर्ण विस्तार के साथ समस्त ब्रह्माण्ड का वर्णन है।

४. पन्नवणा (प्रज्ञापना) में भी जीवधारियों का वर्गीकरण किया गया है।

५-७. जम्बुद्दीवपन्नत्ति (जम्बु-द्वीप-प्रज्ञप्ति), चन्द-पन्नत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति) और सूर-पन्नत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति) वैज्ञानिक ग्रन्थ हैं जिनमें खगोल, भूगोल, सृष्टि और काल-विभाजन का वर्णन है।

८-१२ निरयावलियाओ, कप्पावदंसिआओ (कल्पावतंसिकाः), पुप्फिआओ (पुष्पिकाः), पुप्फाचूलि आओ (पुष्प-चूलिकाः) और वह्निदसाओं (वृष्णि-दशाः)—कभी-कभी ये पाँचो उपांग एक ही ग्रंथ निरयावली-सुत्तम् के पाँच भाग माने जाते हैं। इन सबकी विषय-सामग्री कथाओं से भरी है और ये मृत्यु के बाद के जीवन के विवरण को प्रमुखता देते हैं।

दस प्रकीर्ण (पइण्ण)—इनका स्थान वैदिक परिशिष्टों जैसा है। ये अधिकांश रूप में छन्दबद्ध हैं। जैन धर्म से संबंधित सभी विषयों का उल्लेख इनमें मिलता है। इनके नाम इस प्रकार से हैं:—

१. चउसरण (चतुःशरण), २. संथार (संस्तार), ३. आउर-पच्चक्खाण (आतुर-प्रत्याख्यान), ४. भत्तपरिन्ना (भक्त-परिज्ञा), ५. तंदुल-वेयालिय (तन्दुल-वैतालिक), ६. चंदाविज्झय (चन्द्रवैध्यक), ७. गणिविज्जा (गणिविद्या), ८. देविन्दत्थअ (देवेन्द्रस्तव), ९. वीरत्थअ (वीरस्तव) और १०. महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान)।

छः छेद-सूत्र—इनका जैन साहित्य में वही स्थान है जो बौद्ध धर्म में विनय-पिटक का है। इनमें भिक्षु और भिक्षुणियों के जीवन के विषय में नियम दिये गये हैं। साथ ही बहुत-सी कथा-सामग्री भी इनमें सम्मिलित है। इनके नाम निम्नलिखित हैं:—

१. निसीह (निशीथ) में दैनिक जीवन के नियमों के उल्लंघन के लिये दण्ड का विधान है।

२. महानिसीह (महानिशीथ) में प्रायश्चित, तपश्चर्या और नैतिक विषयों के अतिरिक्त कथाओं का भी समावेश है।

३. ववहार (व्यवहार) में दण्ड प्रदान करने का विवरण है।

४. आयारदसाओ (आचारदशाः)अथवा दसासुयक्खन्ध (दशाश्रुतस्कन्ध)—अनुश्रुतियों में इस छेद-सूत्र का लेखक भद्रबाहु बतलाया जाता है। इसके आठवें स्कन्ध का नाम कल्पसूत्र है। कल्पसूत्र में खण्ड के रूप में तीन ग्रन्थ सम्मिलित किये गये हैं। जिन-चरित्र में महावीर और उनके पूर्ववर्ती जिनों का जीवन-चरित्र वर्णित है। महावीर के जीवन की कथा विस्तार के साथ और काव्य शैली में दी गई है। दूसरे ग्रन्थ थेरावली में गण, उनकी शाखा और गणधरों की सूची दी गई है। सामाचारी नामके तीसरे खण्ड में तपस्वियों के लिये वर्षा ऋतु के नियम दिये गये हैं।

५. कप्प (कल्प) बृहत्कल्प-सूत्र या बृहत्साधुकल्प-सूत्र के नाम से भी प्रसिद्ध है। यही प्राचीन और वास्तविक कल्पसूत्र है। भिक्षु और भिक्षुणियों के नियमों के लिये यही प्रमुख ग्रन्थ है।

६. पञ्चकप्प (पञ्चकल्प) आधुनिक काल में अनुपलब्ध है। कभी-कभी इसके स्थान पर जिनभद्र द्वारा रचित जीयकप्प (जितकल्प) को छेद-सूत्रों की सूची में रखा जाता है।

चार मूल-सूत्र—इनके नाम निम्नलिखित हैं:—

१. उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन) सूत्र जैन धार्मिक साहित्य में धार्मिक कविता के रूप में सर्वाधिक महत्त्व के अंशों में से है। इसमें प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार की सामग्री मिलती है। इसमें आकर्षक कथायें, उदाहरण, शिक्षायें और वार्तालाप मिलते हैं जो प्राचीन भारत में प्रचलित संन्यासी आदर्श को माननेवाली काव्य-परम्परा के अंश हैं। इसमें कई सुभाषित वाक्य भी हैं।

२. आवस्सय अथवा आवस्सग (षडावशयक) सूत्र में एक जैन मतावलम्बी के लिये आवश्यक छः दैनिक कर्त्तव्यों का उल्लेख है।

३. दसवेयालिय (दशवैकालिक) सूत्र में विहार के जीवन के विवरण हैं। साथ ही कुछ आख्यान भी जोड़ दिये गये हैं।

४. पिंड-निज्जुत्ति (पिण्ड-निर्युक्ति) ओह-निज्जुत्ति (ओघ-निर्युक्ति) अथवा पक्खि (पाक्षिक-सूत्र) को चौथा मूलसूत्र बतलाया जाता है। पहले दो ग्रन्थों में पवित्र जीवन और अनुशासन के विषय में नियम हैं।

नन्दि-सुत्त (नान्दी-सूत्र) और अणुओगदार (अनुयोगद्वार)—ये दोनों स्वतंत्र ग्रन्थों के रूप में गिनाये जाते हैं। ये गद्य में है लेकिन किसी-किसी स्थल पर श्लोक भी जोड़े गये हैं। इनमें अणुओगदार प्रश्नोत्तर के रूप में है। दोनों ही बृहत् विश्वकोष के रूप में हैं और उन सभी बातों का उल्लेख करते हैं जो एक जैन भिक्षु के

लिये ज्ञातव्य हैं। लेकिन इनका सम्बन्ध केवल धर्म से ही नहीं है बल्कि इनमें लौकिक शास्त्रों और विद्याओं का भी विवरण है।

रचना-काल—जैनों के धार्मिक साहित्य की प्राचीनता और प्रामाणिकता के विषय में श्वेताम्बर जैन लोगों की अनुश्रुति इस प्रकार से है :—

जैन धर्म के मूल सिद्धान्त जिन्हें स्वयं महावीर ने अपने शिष्य गणधरों को सिखाया था चौदह पूर्वों के रूप में थे। लेकिन कुछ समय बाद ये ग्रन्थ लोगों को विस्मृत हो गये। महावीर के केवल एक ही शिष्य ने इनको याद रखा। यह ज्ञान छः पीढ़ियों तक चलता रहा। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में एक भीषण दुर्भिक्ष के कारण सम्प्रदाय के प्रमुख भद्रबाहु के दक्षिण भारत चले जाने पर धार्मिक साहित्य के लोप हो जाने की आशंका से स्थूलभद्र की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में एक सभा बुलाई गई जिसमें ११ अंगों का संकलन किया गया और १४ पूर्वों के अवशेष को १२ वें अंग दिट्ठिवाय के रूप में एकत्रित किया गया। भद्रबाहु के साथ दक्षिण जानेवाले जैनियों ने इस धार्मिक साहित्य को अस्वीकार कर दिया क्योंकि उनके विचार से तो सभी पूर्व और अंग लुप्त हो गये थे। उन्होंने ही दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया। आगे चल कर फिर श्वेताम्बरों के धार्मिक साहित्य के लिये अव्यवस्थित होकर पूर्णतया लुप्त हो जाने का भय था। अतएव महावीर की मृत्यु के १४० वर्ष बाद वलभी में देवर्द्धि क्षमा-श्रमण की अध्यक्षता में एकसभा हुई जिसमें धार्मिक ग्रन्थ एकत्रित कर लिपिबद्ध किये गये। किन्तु बारहवाँ अंग इसके पहले ही लुप्त हो चुका था।

यह तो स्पष्ट है कि सम्पूर्ण आगम या सिद्धान्त एक ही समय की रचना नहीं है। यह एक लम्बी अवधि के साहित्यिक प्रयास का परिणाम है। इसीलिये इस साहित्य के प्रत्येक अंश का रचना-काल पृथक् रूप से निश्चित करना चाहिये।

अनुश्रुति के अनुसार श्वेताम्बरों के धार्मिक साहित्य को उसका अन्तिम रूप पाँचवी शताब्दी ईसवी में वलभी की सभा में देवर्द्धि के हाथों मिला था। देवर्द्धि का कार्य प्राचीन प्रतिलिपियों और मौखिक अनुश्रुति की सहायता से पवित्र ग्रंथों का संकलन करना मात्र था।

इन धार्मिक ग्रन्थों का सूत्रपात बहुत पहले ही हो गया था। इसमें संशय नहीं कि इनमें कुछ भाग प्राचीन ग्रन्थों के हैं। श्वेताम्बर लोगों में पाठों में मनमानी परिवर्तन करने की धृष्टता नहीं थी। वे उन्हें उनके सच्चे रूप में ही रखना चाहते थे। यहाँ तक कि ऐसे नियम जो जैन भिक्षुओं को नग्न रहने की आज्ञा देते हैं उनमें भी वे परिवर्तन न कर सके। इनके सब से अधिक प्राचीन अंश महावीर और उनके शिष्यों के समय के रहे होंगे। गणधर जो महावीर के शिष्य थे विशेषकर आर्य सुधर्मन के लिये कहा जाता है कि उन्होंने महावीर के कथनों को ही अंग और उपांग के रूप में संकलित किया। दिगम्बर लोग भी मानते हैं कि महावीर के शिष्य १४ पूर्वों और ११ अंगों को जानते थे।

धर्मग्रन्थों के विकास और संकलन की दूसरी अवस्था पाटलिपुत्र की सभा द्वारा सूचित होती है। पहली शताब्दी ईसवी के लगभग के अभिलेखों और प्रस्तर-पट्ट पर अंकित चित्रों से पता चलता है कि उस समय निश्चय ही धार्मिक ग्रन्थ रहे होंगे और महावीर के जीवन के विषय में प्रचलित कथा वैसी ही रही होगी जैसी हमें इन धार्मिक ग्रन्थों में मिलती है।

लेकिन इस धार्मिक साहित्य में कुछ ग्रन्थ पाटलिपुत्र की सभा के बाद भी जोड़े गये। कई ग्रन्थ शामार्य, आर्यरक्षित, वीरभद्र और दूसरे बाद के लेखकों की रचना बतलाये जाते हैं। देवर्द्धि ने मूलरूप से इनका संकलन ही किया। उससे पहले ही इस साहित्य की रचना के पूर्ण हो जाने की सूचना कई बातों से मिलती है। इसमें शून्यवाद और विज्ञानवाद जैसे बौद्ध सिद्धान्तों का उल्लेख नहीं मिलता। जैन ग्रन्थों का यह दार्शनिक दृष्टिकोण उन्हें तीसरी ईसवी से पहले का बतलाता है। इनके सबसे बाद के अंश भी ऐसी पुस्तकों का ही उल्लेख करते हैं जो गुप्त युग से पहले ही रचे गये थे। ये यह भी सूचित करते हैं कि मगध जहाँ उनके धर्म का प्रारम्भ हुआ था वही अब भी उनके धर्म का गढ़ था।

बाद की अनुश्रुतियों में और स्वयं इन धार्मिक पुस्तकों में कहा गया है कि महावीर ने अपने धर्म की शिक्षा अर्धमागधी में दी थी। किन्तु उपलब्ध ग्रन्थोंकी भाषा महाराष्ट्री और जैन-महाराष्ट्री से बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

ऊपर जिस साहित्य का वर्णन किया गया है वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय का है। दिगम्बर सम्प्रदाय के लोग इन ग्रन्थों की प्राचीनता और प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करते। दिगम्बर लोगों की अनुश्रुति के अनुसार केवल दृष्टिवाद ही नहीं बल्कि दूसरे ११ अंग भी लुप्त हो गये थे और मूल धार्मिक साहित्य प्राप्य नहीं है। श्वेताम्बरों के उपांग और छेदसूत्र आदि को वे नहीं मानते। इस धार्मिक साहित्य के स्थान पर उमास्वाति, कुन्दकुन्द, वट्टकेर, यतिवृषभ और दूसरे प्रसिद्ध विद्वानों की रचनायें ही सम्प्रदाय के लिये प्रामाणिक हैं।

(ब) लौकिक साहित्य

वैदिक साहित्य के अनन्तर लौकिक संस्कृत में साहित्य-रचना हुई। लौकिक साहित्य में समय और महत्त्व दोनों की दृष्टि से प्रथम स्थान रामायण और महाभारत का है। पाश्चात्य विद्वानों ने इन ग्रन्थों को वीर-काव्य (epics) कहा है। रामायण और महाभारत के मूल की रचना निश्चय रूप से चौथी शताब्दी से पूर्व हुई होगी। ये ग्रन्थ उन वीर-गीतों और आख्यानों पर आधारित हैं जो उत्तर वैदिक काल ही में प्रचलित थे। बाद के काव्य-ग्रन्थों की शैली का वास्तविक प्रारम्भ इन्हीं ग्रन्थों में देखने को मिलता है। सम्भवतः इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर ही बाद के विद्वानों ने

महाकाव्य की परिभाषा बनाई और उसकी विशेषतायें निश्चित की। भारतवर्ष में प्रायः सभी प्रकार की साहित्यिक रचना के लिये ये दोनों ग्रन्थ विषय-सामग्री की अक्षय निधि हैं। इन ग्रन्थों का सांस्कृतिक और सामाजिक महत्त्व भी अधिक है। इन ग्रन्थों में भारत ने सदैव अपने आदर्श पाये हैं। उस युग की सांस्कृतिक दशा जानने के लिये तो इनमें अपार सामग्री का भंडार मिलता है।

रामायण—रामायण के वर्तमान स्वरूप में लगभग २४ सहस्र श्लोक हैं। रामायण सात काण्डों में विभाजित किया गया है। इनके नाम हैं—बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड। रामायण की कथावस्तु सर्वविदित है अतएव उसके वर्णन की आवश्यकता नहीं है।

रामायण अपने मूल स्वरूप में हमें उपलब्ध नहीं है। वर्तमान रामायण में बहुत-सी नई सामग्री जोड़ दी गई है। रामायण का उत्तरकाण्ड और बालकाण्ड का बहुत अधिक अंश रामायण के मूल में जोड़े गये हैं। इन अंशों की सामग्री का शेष-भाग की कथा-वस्तु से अल्प या बिल्कुल ही कोई सम्बन्ध नहीं है, अपितु कुछ स्थानों में परस्पर विरोध ही दिखलाई पड़ता है। अन्य काण्डों के कुछ प्रक्षिप्त स्थलों को छोड़कर केवल इन्हीं दोनों काण्डों में राम का असाधारण शक्ति के मानव के स्थान पर विष्णु के अवतार के रूप में चित्रण किया गया है। इन काण्डों को भाषा और शैली से भी दूसरे कवि की झलक आती है।

वर्तमान काल में उपलब्ध रामायण की प्रतियाँ तीन प्रमुख संस्करणों में विभाजित की जा सकती हैं—उत्तरी और दक्षिणी भारत की, पूर्वी भारत की और उत्तर-पश्चिम भारत की; इन तीनों संस्करणों में परस्पर इतना अन्तर है कि रामायण के मूल स्वरूप का निर्णय करना कठिन है। सम्भवतः इसका कारण यह है कि प्रारम्भ में कई शताब्दियों तक रामायण मौखिक परम्परा के रूप में ही चलती रही। इस बीच में वाचकों के लिये श्रोताओं की रुचि के अनुकूल पाठ में परिवर्तन करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। जब रामायण को एक बार लिखित रूप प्राप्त हो गया तो इसका स्वरूप निश्चित-सा हो गया और परिवर्तनों की सम्भावना कम हो गई।

यह तो निर्विवाद है कि रामायण की मूल रचना और उसके अन्तिम रूप के बीच बहुत समय का अन्तर रहा होगा। यह बात इसी से स्पष्ट है कि राम एक मानव से विष्णु के अवतार के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। महाभारत में रामायण और उसके रचयिता **वाल्मीकि** का कई स्थलों पर उल्लेख है। रामायण की संक्षिप्त कथा भी महाभारत में मिलती है। महाभारत के हरिवंश में रामायण के नाटकीय प्रदर्शन का उल्लेख आता है। इन प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रामायण की रचना महाभारत के अपना अन्तिम स्वरूप प्राप्त करने के दो सौ वर्ष पहले हो गई थी। महाभारत का अन्तिम स्वरूप निश्चय ही चौथी शताब्दी के बाद का नहीं है।

इस प्रकार रामायण की रचना दूसरी शताब्दी ईसवी के अन्त से पहले की मालूम होती है।

प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि वाल्मीकि ने मूल रामायण जिसमें राम मानव-रूप में आते हैं तीसरी या संभवतः चौथी शताब्दी ईसवी में रची थी। जातक में राम की जो कथा है उसमें रावण का कोई उल्लेख नहीं है। इससे यह प्रतीत होता है कि जब त्रिपिटक का संकलन हो रहा था उस समय राम से संबंधित कुछ वीर-गीत प्रचलित थे लेकिन राम का वीर-काव्य नहीं रचा गया था। बृहद्देवता और ऋग्विधान जो ईसा पूर्व चौथी शताब्दी की रचनायें हैं के छन्दों का स्वरूप रामायण के छन्दों से मिलता है। इसी प्रकार रामायण की मूल रचना महाभारत की मूल रचना से बाद की मालूम पड़ती है। पाणिनि ने वासुदेव, अर्जुन और युधिष्ठिर का उल्लेख किया है किन्तु राम के विषय में मौन हैं। महाभारत में तो प्राचीन गद्य के अवशेष मिलते हैं और रामायण में बाद की अलंकार-प्रधान शैली के दर्शन होते हैं।

इस प्रकार रामायण की मूल रचना ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में और उसका अन्तिम स्वरूप दूसरी शताब्दी के अन्त से पहिले ही निश्चित किये जा सकते हैं।

भारतीय साहित्यिक परम्परा में रामायण को आदि काव्य और रामायण के रचयिता वाल्मीकि को आदि कवि का पद दिया जाता है। रामायण में प्रकृति-वर्णन, शब्दालंकार और अर्थालंकार आदि काव्य की विशेषतायें उपस्थित हैं। रामायण के काव्य-गुण महाभारत से तुलना करने पर और अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। जहाँ महाभारत ने अपना वीर-काव्य का रूप खो-सा दिया है रामायण का मूल-स्वरूप अब भी शेष है। यद्यपि दोनों ही ग्रन्थों के छन्द समान हैं, रामायण के छन्द अधिक परिष्कृत हैं। इसी प्रकार जहाँ महाभारत में पात्रों की स्वाभाविक भावनायें बिना किसी अलंकार के मिलती हैं रामायण में वे कवि की लेखनी से कुछ रंगी-सी लगती हैं।

रामायण कालान्तर के कवियों के लिये केवल आदर्श ही नहीं था, उससे साहित्यिकों को अपनी रचनाओं के लिये सामग्री भी मिलती थी।

साहित्यिक महत्त्व के साथ ही रामायण का सांस्कृतिक महत्त्व भी बहुत अधिक है। रामायण में विभिन्न सामाजिक संबंधों के सुन्दर और आदर्श उदाहरण उपस्थित किये गये हैं। इसी से रामायण की लोकप्रियता है और सदियों से रामायण ने भारतीय समाज को स्फूर्ति और चेतना दी है और उसका पथ-प्रदर्शन किया है।

महाभारत—महाभारत की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनके दो प्रमुख संस्करण हैं—उत्तरी और दक्षिणी। इन दोनों संस्करणों के भी उप-विभाग किये जा सकते हैं। उत्तरी संस्करण में शारदा या कश्मीरी, नेपाली, मैथिली, बंगाली और देवनागरी संस्करण सम्मिलित हैं। दक्षिणी संस्करण के अन्तर्गत तेलुगु ग्रन्थ और मलयालम्

संस्करण आते हैं। इन संस्करणों में परस्पर कई अन्तर हैं। लेकिन साधारणतया दक्षिणी संस्करण उत्तरी संस्करण से अधिक विस्तृत हैं। दक्षिणी संस्करण अधिक संयत, संगठित और व्यावहारिक हैं। महाभारत के प्रकाशित और पूर्ण संस्करणों में कलकत्ता, बम्बई और कुम्भकोनम् के ही संस्करण महत्त्वपूर्ण हैं। लेकिन इनमें से कोई भी शुद्ध उत्तरी या दक्षिणी संस्करण नहीं कहा जा सकता। पूना के भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट ने सभी महत्त्वपूर्ण प्रतियों को एकत्रित कर और विचारपूर्वक अध्ययन कर महाभारत के मूल रूप को निर्धारित करने का गौरवपूर्ण और महत्त्वपूर्ण कार्य उठाया है। इस प्रयत्न में इस संस्था को श्लाघनीय सफलता मिल रही है।

महाभारत की रचना का श्रेय प्रसिद्ध मुनि व्यास को दिया जाता है जिन्हें पुराणों का रचयिता और वेदों का संकलनकर्ता भी कहते हैं। महाभारत के प्रारम्भ में कहा गया है कि व्यास ने इस ग्रन्थ को सर्वप्रथम अपने शिष्य वैशम्पायन को सुनाया। वैशम्पायन ने सम्पूर्ण महाभारत का पाठ राजा जनमेजय के सर्प-यज्ञ के अवसर पर किया। उस समय सूत उग्रश्रवस् ने उसे सुना था और नैमिषारण्य में शौनक के यज्ञ के अवसर पर ऋषियों के कहने पर उसे इस ग्रन्थ का पाठ करना पड़ा था।

जिस रूप में महाभारत हमें उपलब्ध है वह किसी एक कवि की रचना नहीं है और न ही पूरे ग्रन्थ की रचना एक ही समय में हुई थी। महाभारत में विविध प्रकार के विषयों से सम्बन्धित सामग्री एकत्रित की गई है। इसी प्रकार से शैली, भाषा और छन्द की दृष्टि से भी अन्तर है। इन स्थलों में पहले और बाद की सामग्री का अद्भुत सम्मिश्रण मिलता है। इसी से महाभारत की रचना का कोई विशिष्ट काल नहीं बतलाया जा सकता। इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। पाश्चात्य विद्वान् विण्टरनित्ज़ ने सभी प्रमाणों का सम्यक् विचार कर यह कहा है कि महाभारत को उसका वर्तमान स्वरूप ईसा पूर्व चौथी शताब्दी ईसवी के बीच किसी समय प्राप्त हुआ था। इस कथन का आधार यह है कि एक ओर तो महाभारत में बौद्ध-धर्म और यवनों के लिये कई उल्लेख हैं और दूसरी ओर बाण और कुमारिल की रचनाओंमें और पाँचवीं शताब्दी से आगे के अभिलेखों में महाभारत को प्रामाणिक धार्मिक ग्रन्थ या स्मृति जैसा आदर दिया गया है। इन अभिलेखों में महाभारत को एक लाख श्लोकों की रचना कहा गया है जो कि उसके वर्तमान स्वरूप से मिलता है।

महाभारत की मूल कथा कब रची गई इसका निर्णय करना कठिन है। अब प्रायः विद्वान् पाण्डवों और कौरवों के महायुद्ध को ऐतिहासिक घटना मानते हैं जिसका समय १४०० और १००० ई० पू० के बीच रखा जाता है। इसी प्रकार से सूत-परम्परा और वीरगीतों का आरम्भ भी बहुत पहले ही माना जाता है। अतएव कोई आश्चर्य नहीं कि महाभारत में प्राप्त बहुत-सा वीर साहित्य महाभारत के युद्ध के समय ही

प्रचलित रहा हो। लेकिन कब यह वीर-साहित्य महाभारत के रूप में संगठित हुआ यह बतलाना अत्यन्त दुष्कर है। प्रमाणों से यह सूचित होता है कि मूल महाभारत ब्राह्मण-काल में संभवतः रचा जा चुका था। शाङ्खायन श्रौतसूत्र में कुरुक्षेत्र के युद्ध का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र महाभारत और भारत दोनों का पवित्र ग्रन्थ के रूप में उल्लेख करता है। पाणिनि ने महाभारत और उसके पात्रों के नामों के व्युत्पत्तिकी व्याख्या दी है। पतञ्जलि ने तो पाण्डु लोगों से संबंधित वीर-काव्य का स्पष्ट उल्लेख किया है। पाली त्रिपिटकों में महाभारत के उल्लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में भी पूर्वी भारत में लोग महाभारत से परिचित हो रहे थे। लेकिन इन प्रमाणों के होते हुये भी महाभारत की मूल रचना के लिये बहुत पहले की तिथि इसलिये नहीं स्वीकृत हो सकती क्योंकि वेद महाभारत के विषय में पूर्ण रूप से मौन हैं।

अपने वर्तमाम स्वरूप में महाभारत एक रचना नहीं है बल्कि एक पूरा साहित्य ही है। समय-समय पर जोड़ी गई सामग्री के कारण महाभारत का मूल रूप बिलकुल ही परिवर्तित हो गया है। महाभारत में वीर-गीतों के रूप में कुछ प्राचीन आख्यान जिनमें से कुछ स्वतंत्र और कुछ महाभारत के पात्रों के जीवन से संबंधित हैं, ब्राह्मण धर्म के आख्यानों से संबंधित धार्मिक कविता, पुराणों के समान ही दर्शन, सदाचार तथा सृष्टि के विषय में सामग्री और वंशावलियाँ, शैव और वैष्णव सम्प्रदायों की कथायें और नीति से संबंधित आख्यान तथा कथायें भी सम्मिलित कर दी गई हैं। इस प्रकार महाभारत एक साथ ही वीर-काव्य, स्मृति और पुराण भी बन गया है। महाभारत तो वास्तव में विश्वकोष-सा है। स्वयं महाभारत में ही उसके लिये ऐसी बात कही गई है—यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् (जो कुछ इसमें है वह दूसरे स्थान पर भी प्राप्य है लेकिन जो कुछ इसमें नहीं है वह कहीं भी प्राप्य नहीं है)।

महाभारत की मूल कथा कौरवों और पाण्डवों के वंश-कलह के विषय में थी। कुरुक्षेत्र के महायुद्ध के सबंध में कई पृथक् वीरगीतों की रचना हुई होगी। कालान्तर में किसी कवि ने इन्हें एक सूत्र में पिरो दिया होगा। महाभारत की मूल कथा इतनी प्रसिद्ध है कि उसका विवरण देने की कोई आवश्यकता नहीं।

महाभारत में जो आख्यान जोड़े गये हैं उनमें से कुछ का मूल कथा-वस्तु से दूर का ही संबंध है। उदाहरण के लिये शकुन्तला और उसके पुत्र भरत की कथा का उल्लेख किया जा सकता है।

कुछ वीर-गीतों के आख्यान तो बिल्कुल ही स्वतंत्र हैं और कथा के अन्तर्गत कथा जोड़ने की प्रवृत्ति के फल हैं। ऐसी कथाओं के प्रसिद्ध उदाहरण हैं—नल और दमयन्ती की कथा तथा रामोपाख्यान। लेकिन सच्चे वीर-गीतों के दर्शन विदुला

की कथा में होते हैं। विदुला अपने पुत्र को उसकी कायरता पर फटकारती है और वीरोचित कर्त्तव्य के लिये ओजपूर्ण शब्दों में प्रोत्साहित करती है।

महाभारत में ब्राह्मण-धर्म की कई कथाओं और आख्यानों का भी समावेश हुआ है। जनमेजय के सर्प-यज्ञ के संबंध में ऐसी बहुत-सी कथायें मिलती हैं। च्यवन ऋषि की कथा प्रसिद्ध ही है। इन कथाओं में से अधिकांश ब्राह्मणों का गौरव बढ़ाने के लिये हैं। सावित्री और सत्यवान की प्रसिद्ध कथा की विण्टरनित्ज ने बड़ी प्रशंसा की है। तीर्थयात्रा खण्ड में लोमश ऋषि कई आख्यान सुनाते हैं। इन्हीं में अगस्त्य तथा वशिष्ठ और विश्वामित्र की भी कथायें हैं।

इसी प्रकार से महाभारत के अन्तर्गत कई कथायें ऐसी मिलती हैं जिनका लक्ष्य सांसारिक बुद्धि और नीति की शिक्षा देना है। मुद्गल की कथा से कर्मवाद को प्रतिपादित किया गया है। शान्तिपर्व और राजधर्मानुशासनपर्व में संन्यास के आदर्श और सिद्धान्तों और ब्राह्मण धर्म के सदाचार के सिद्धान्तों से संबंधित कथायें हैं। वास्तव में इन दोनों पर्वों में भीष्म के मुख से राजा, चारों आश्रमों और वर्णों के कर्त्तव्य, राजनीति और मोक्ष के सिद्धान्त के विषय में शिक्षायें दिलाई गई हैं।

महाभारत में जितने भी दार्शनिक स्थल हैं उनमें सर्वश्रेष्ठ भगवद्गीता ही है। इसका विस्तृत वर्णन अन्यत्र दिया जा चुका है।

हरिवंश, महाभारत के अन्त में खिल के रूप में जुड़ा हुआ है। महाभारत की भाँति यह भी किसी एक कवि की एक ही समय की रचना नहीं है। इसमें विष्णु के गौरव के लिये बहुत से आख्यान जोड़े गये हैं।

संस्कृत साहित्य इतना विस्तृत और समृद्ध है कि साहित्य के विभिन्न अंगों के क्रमिक विकास का इतिहास संक्षेप में प्रस्तुत करना कठिन है। इस कारण से केवल प्रमुख विभूतियों और प्रसिद्ध रचनाओं का संक्षिप्त निर्देश ही किया जा सकता है।

कालिदास—भारतीय साहित्य के रत्नकोष में कालिदास निश्चय ही सर्वोज्ज्वल हीरक है। किन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि ऐसी महान् विभूति के व्यक्तित्व, जीवन या समय के विषय में हमें कोई भी प्रामाणिक तथ्य नहीं मालूम। कुछ विद्वान् इसे अग्निमित्र का आश्रित कवि बतलाते हैं। कुछ विद्वान् कालिदास का संबंध उज्जैन के उस विक्रमादित्य से बतलाते हैं जिसे ५८ ई० पू० में प्रारम्भ होने वाले विक्रम संवत् का संस्थापक भी कहते हैं। लेकिन अधिकांश विद्वान् इन मतों को स्वीकार नहीं करते। वास्तव में कालिदास की तिथि के संबंध में दो ही बातें निश्चित हैं—एक तो यह कि अग्निमित्र उसके एक नाटक का नायक है जिससे कालिदास १५० ई० पू० के बाद ही के होंगे; दूसरे यह कि ६३४ ई० के एहोले अभिलेख में कालिदास का महान् कवि के रूप में उल्लेख होने से उनका समय निश्चय ही ६३४ ई० से पहले का होगा। यदि यह मान लिया जाय कि ४७३ ई० के मन्दसोर अभिलेख में कालिदास की

रचनाओं की झलक मिलती है तो कालिदास निश्चय ही ४५० ई० के बाद के नहीं हो सकते। प्रायः विद्वान् अब मानने लगे हैं कि कालिदास गुप्तकाल में संभवतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में थे। इस मत के पक्ष में कई प्रमाण हैं—कालिदास की रचनाओं में वर्णित दशा गुप्तकालीन स्थिति से साम्य रखती है, कालिदास ने अश्वघोष और कामसूत्र से कुछ चीजें ली हैं, कालिदास ने वाकाटक राजा प्रवरसेन द्वितीय की रचना सेतुबन्ध का संशोधन किया था, कालिदास की रचनाओं में गुप्त सम्राटों के नामों के प्रच्छन्न उल्लेख हैं और कालिदास हूण आक्रमण से परिचित थे।

कालिदास के जीवन के चारों ओर अनुश्रुतियों और दन्तकथाओं का ऐसा जाल बुन गया है कि किसी भी तथ्य का पता नहीं चलता। इन कथाओं के अनुसार कालिदास प्रारम्भ में मूर्ख और अशिक्षित थे लेकिन बाद में काली की कृपा से ये विद्वान् बने। उनकी रचनाओं के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कालिदास के व्यक्तित्व के विषय में कुछ बातें जानी जा सकती हैं। यह संभवतः उज्जयिनी के रहने वाले ब्राह्मण थे। यह उदार विचारों के शैव थे। ब्राह्मणों के लिए नियत विद्याओं के विभिन्न अंगों का इन्होंने ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वैदिक साहित्य, दर्शन-सम्प्रदायों विशेषकर सांख्य और योग, धर्मशास्त्र, कामसूत्र, नाट्यशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष और ललित कलाओं से भी वे भली-भाँति परिचित थे। भारत के विभिन्न प्रदेशों में पर्यटन के द्वारा भी इनके ज्ञान की वृद्धि हुई थी। उनकी बहुमुखी प्रतिभा, राजदरबार के नियमों का ज्ञान, उनकी विचक्षण बुद्धि, उनकी विनम्रता और साथ ही आत्म-सम्मान की भावना तथा सन्तोष सभी उनकी रचनाओं से प्रकट होते हैं।

कालिदास के काव्य-ग्रन्थ चार हैं। ऋतुसंहार में ६ सर्ग हैं जिनमें से प्रत्येक में एक ऋतु का वर्णन है। कुछ अर्थों में यह काव्य कालिदास की दूसरी रचनाओं की तुलना में नहीं आ पाता। इस कारण से कुछ विद्वान् इसे कालिदास की कृति नहीं मानते। किन्तु यह शंका समुचित नहीं है। वास्तव में यह कालिदास की प्रथम और उनकी अपरिपक्व आयु की रचना है।

कालिदास का दूसरा काव्य-ग्रन्थ खण्ड-काव्य मेघदूत है। इसके दो खण्ड हैं—पूर्व-मेघ और उत्तर-मेघ। इसमें कुबेर के शाप से रामगिरि में निर्वासित एक यक्ष वर्षा के आरम्भ होने पर मेघ के द्वारा अलका-निवासिनी अपनी प्रिया को सन्देश भेजता है। कालिदास की यह रचना उनकी परिपक्व बुद्धि और उनकी बहुमुखी काव्य-प्रतिभा की द्योतक है। कवि ने इस काव्य के लिए मन्दाक्रान्ता छन्द का उपयोग किया है। इसी से उसे प्रत्येक श्लोक में कुशलता के साथ एक पूर्ण भाव चित्र उपस्थित करने में सफलता मिली है। इस ग्रन्थ में कवि की उच्च प्रतिभा परिलक्षित होती है। स्वल्प शब्दों के उपयोग, कल्पना और विचार की श्रेष्ठता और भावनाओं का उद्रेग करने की

क्षमता के कारण इस काव्य का बहुत ऊँचा स्थान है। काव्य में करुणा बड़ी ही मर्म-स्पर्शी है। इन्हीं कारणों से इस ग्रन्थ की जनप्रियता है।

महाकाव्य कुमार-सम्भव कालिदास की तीसरी रचना है। इसमें शिव और पार्वती के पुत्र कार्तिकेय (कुमार) के जन्म की कथा दी गई है। कुमारसम्भव में १८ सर्ग हैं लेकिन इनमें से आरम्भ के आठ सर्ग ही कालिदास की रचना माने जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि अष्टम सर्ग में शिव और पार्वती की सुरति का जो वर्णन है उससे क्रुद्ध होकर पार्वती ने श्राप दिया जिससे काव्य पूरा न हो सका। बाद के सर्ग काव्य-कौशल की दृष्टि से पहले आठ सर्गों की तुलना में अच्छे नहीं मालूम पड़ते। कुमारसम्भव नाम से सूचित होता है कि इस ग्रन्थ में कम से कम कुमार के जन्म तक की कथा का वर्णन होना चाहिये था। सम्भवतः अष्टम सर्ग तक ही लिख कर कालिदास ने ग्रन्थ को अपूर्ण छोड़ दिया था और बाद के किसी कवि ने उसकी पूर्ति की। साहित्य की दृष्टि से इस काव्य की बड़ी प्रतिष्ठा है। कई स्थलों पर इसमें उच्च कोटि के वर्णन मिलते हैं। विविधता की अधिकता, उच्च कल्पना और भावनाओं की सजीवता के कारण यह आधुनिक रुचि के अधिक अनुकूल है।

रघुवंश कालिदास का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। भारतीय साहित्य में इसका गौरवपूर्ण स्थान है। शास्त्र के नियमों की दृष्टि से यह महाकाव्य का सुन्दर उदाहरण है। इसमें दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक के ४० इक्ष्वाकुवंशी राजाओं के चरित का वर्णन है। इसमें कुल १९ सर्ग हैं। इस महाकाव्य में कवि ने अपने ऊपर कई राजाओं के जीवन की विभिन्न घटनाओं के वर्णन के कठिन कार्य का भार लिया है। इसमें उन्हें आश्चर्य-जनक सफलता मिली है। इस महाकाव्य में अज-विलाप और दूसरे कई सुन्दर वर्णन के स्थल हैं।

कालिदास उन बिरले साहित्यकारों में से हैं जिन्हें काव्य और नाटक दोनों ही क्षेत्रों में समान सफलता मिली है। इन दोनों ही प्रकार के साहित्यिक कृत्यों में उनकी समानता सरलता से नहीं प्राप्य है।

मालविकाग्निमित्र कालिदास का सम्भवतः प्रथम नाटक था। यह बात नाटक से ही सूचित होती है। कालिदास अपने नव काव्य के पक्ष में स्वयं वकालत करते हैं। कुछ दोष होने पर भी नाटक पर कालिदास की प्रतिभा की छाप स्पष्ट है। इसमें पाँच अंक हैं और इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। इसमें शुङ्गवंशी राजा अग्निमित्र और मालविका, जो रानी की परिचारिका के रूप में रहती है, के सफल प्रेम की कहानी है।

विक्रमोर्वशीय में राजा विक्रम और उर्वशी नाम की अप्सरा के प्रेम की कथा है। यह कथानक पुराना है और ऋग्वेद और शतपथ ब्राह्मण में भी मिलता है। कालिदास ने कथावस्तु में कुछ परिवर्तन भी किये हैं। किन्तु कालिदास का अधिक

ध्यान चरित्र-चित्रण की ओर था। चतुर्थ अंक में विरह से पीड़ित पुरुरवा के द्वारा अपनी भावनाओं का व्यक्त करना यद्यपि नाटक की गति में बाधक है फिर भी इन्हीं शोक-गीतों से इस कृति की जन-प्रियता है।

कालिदास की सर्व-प्रसिद्ध रचना निश्चय ही शाकुन्तल या अभिज्ञानशाकुन्तल नाम का नाटक है। शाकुन्तल सर्वसम्मति से केवल संस्कृत साहित्य ही की नहीं अपितु विश्व-साहित्य की श्रेष्ठतम कृतियों में से है। शाकुन्तल का कथानक महाभारत में उपलब्ध शकुन्तला की कथा पर आधारित है किन्तु कालिदास ने इसमें कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं जिनसे नाटकीय गुण की वृद्धि हो गई है। महाभारत की निर्जीव कथा में कालिदास ने जीवन फूँक दिया है। कथानक के संघटन, नाटकीय अवसरों की उत्पत्ति, चरित्र-चित्रण की कुशलता के साथ ही प्रकृति के साथ प्रेमपूर्ण सहानुभूति की पृष्ठ-भूमि में भावनाओं के चित्रण में और गीतों के काव्यगुणों के कारण इस नाटक ने विश्व के प्रमुख विद्वानों से प्रशंसा प्राप्त किया है। शाकुन्तल में काम और धर्म, वासना और कर्त्तव्य जैसी विरोधी प्रवृत्तियों के परस्पर संघर्ष को शान्त कर समन्वय का सुन्दर आदर्श उपस्थित किया गया है। शाकुन्तल में प्रेम और करुणा का अपूर्व सम्मिलन दिखलाई पड़ता है। कालिदास की रचना के ये सभी गुण चतुर्थ अङ्क में सर्वाधिक विकसित रूप में मिलते हैं। इसी से शाकुन्तल के चतुर्थ अङ्क की विशेष प्रसिद्धि है।

कालिदास की रचनाओं में वर्णित सामाजिक और सांस्कृतिक दशा गुप्त-युग के वैभव और उत्कर्ष को प्रतिबिम्बित करती है। अपने विचारों में कालिदास ने ब्राह्मण धर्म के आदर्शों और सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। वर्णाश्रम-धर्म की व्यवस्था उनके विश्वास का अंग है। कालिदास ने अपने युग की प्रचलित प्रवृत्तियों को आत्मसात् किया है और उनकी भविष्य की प्रगति को भी प्रतिबिम्बित किया है। उनकी कविता वाल्मीकि और व्यास की कविता की भाँति वीर, आदर्श या गंभीर चरित्रों के निर्माण का साधन नहीं है। उसने अपने युग की सजीव और भौतिकवादी सभ्यता का ही प्रतिनिधित्व किया है। कालिदास भावनाओं और सौन्दर्य के कवि हैं। लेकिन भौतिकवाद से वे बह नहीं गये हैं।

उनकी प्रारंभिक रचनाओं में दार्शनिक विचार नहीं हैं लेकिन बाद की रचनाओं में संसार के स्वरूप के विषय में वे सांख्य-पद्धति के विचारों को स्वीकार करते हैं। किन्तु उनकी विचार-धारा में ब्रह्म का स्थान शिव ले लेते हैं।

कालिदास भारतीय काव्य-शैली के निःसन्देह सर्वश्रेष्ठ कलाकार हैं। परिष्कृति और पूर्णता में वे अश्वघोष से आगे हैं किन्तु साथ ही बाद के साहित्यकारों के दोषों से वे मुक्त हैं। कालिदास की शैली वैदर्भी रीति की है। रचना का सौष्ठव बढ़ाने की कला उन्हें भली भाँति मालूम है। उनकी विशेषता है कि वे किसी विचार या भावना का निर्देश ही करते हैं, विस्तृत या पूर्ण वर्णन में उनका विश्वास नहीं है। वे लम्बे-लम्बे समस्त-

पदों का उपयोग नहीं करते। अनुप्रास और यमक सरल और स्पष्ट हैं यद्यपि कुछ स्थलों पर उन्होंने अपने कौशल का प्रदर्शन भी किया है। उपमा तो कालिदास की स्वयं की विशेषता है जिसमें उनकी समता कोई नहीं कर सकता। अपने विस्तृत ज्ञान और प्रकृति तथा जीवन के निरीक्षण का उन्होंने इसमें सुन्दर उपयोग किया है। कालिदास की छन्दों के प्रयोग की प्रतिभा भी सुन्दर है।

अभी तक उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर भास ही लौकिक संस्कृत का प्रथम साहित्यकार है। गणपति शास्त्री ने सर्वप्रथम १९०९ ई० में भास के १३ नाटकों को ढूँढ़ा था। उसी समय से भास के समय के विषय में चर्चा और मतभेद का प्रारंभ हुआ। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से सातवीं शताब्दी ईसवी तक की तिथियाँ इस संबंध में सुझाई गई हैं। इन नाटकों में से मध्यम-व्यायोग, दूतघटोत्कच, कर्णभार, दूतवाक्य, ऊरुभंग और पञ्चरात्र की कथावस्तु महाभारत से ली गई है। बालचरित का कथानक कृष्ण-संबंधी है। रामायण से प्रतिमा नाटक और अभिषेक नाटक के लिये कथानक लिया गया है। अविमारक, चारुदत्त, प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण और स्वप्न-वासवदत्ता की सामग्री उस समय में प्रचलित कथा-साहित्य से ली गई है। चरित्र-चित्रण और समाज का सजीव चित्र उपस्थित करना इन नाटकों की विशेषता है। कहीं-कहीं नाट्यशास्त्र के नियमों का उल्लंघन भी हुआ है। भास की शैली सीधी और सरल है। लम्बे समास या अधिक अलंकारिक प्रयोगों से यह सर्वथा मुक्त है।

अश्वघोष बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उसका कनिष्क की सभा से संबंध बतलाया जाता है। इस प्रकार से वह पहली शताब्दी ईसवी का था। उसकी रचनाओं में सौन्दरानन्द और बुद्धचरित नाम के काव्य अधिक प्रसिद्ध हैं। सौन्दरानन्द में स्वयं बुद्ध के द्वारा अपने भाई नन्द जो संसार के सुखों और अपनी पत्नी सुन्दरी में आसक्त था को धर्म के मार्ग पर लाने की कथा है। बुद्ध-चरित में बुद्ध के जीवन की परम्परागत कथा दी गई है। इन ग्रन्थों में अश्वघोष ने काव्य-शैली का अनुकरण किया है। अश्वघोष की शैली वैदर्भी रीति की है। इन ग्रन्थों में अश्वघोष का व्याकरण और दर्शन का गहन ज्ञान परिलक्षित होता है। अश्वघोष की कुछ और भी रचनायें बतलाई जाती हैं। महायान-श्रद्धोत्पाद में महायान सम्प्रदाय के विचारों का विवेचन है। वज्रसूची में वर्ण-व्यवस्था की तीव्र आलोचना की गई है। गण्डी-स्तोत्र-गाथा भी अश्वघोष की रचना है। सरल भाषा और भव्य शैली के प्रयोग से अश्वघोष ने बौद्ध दर्शन के कुछ कठिन विचारों को भी बोधगम्य बना दिया है। अश्वघोष कवि के साथ ही नाटककार भी है। मध्य एशिया के तुर्फान नामक स्थान से उसके तीन नाटकों की प्रतियाँ मिली हैं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध शारिपुत्र प्रकरण है। बुद्ध के द्वारा मौद्गल्यायन और शारिपुत्र की धर्म में दीक्षा ही इसकी कथा-वस्तु है।

कालिदास की रचनाओं में संस्कृत-साहित्य के नाटकों और काव्यों का सर्वोच्च

विकास और सर्वश्रेष्ठ स्वरूप मिलता है। उसकी रचनाओं ने ऐसा ऊँचा आदर्श रखा कि उसके बाद के प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकारों के लिये भी उसकी समता करना कठिन है। कालिदास के बाद संस्कृत-साहित्य में अलंकारों से लदी और जटिल शब्दावली से युक्त शैली के प्रयोग की प्रवृत्ति चली। समय के साथ ही इस शैली का उत्तरोत्तर विकास हो गया। इन आडम्बरों से काव्य की आत्मा दबती गई। पाण्डित्य-प्रदर्शन और काव्य-रचना परस्पर सम्बन्धी हो गये। अनुकरण और शब्दों का आडम्बर या कौशल ही उच्च भावनाओं और कल्पनाओं के स्थान पर प्रतिष्ठित हो गये।

कालिदास की शैली और प्रतिभा की कुछ छाया **भारवि** में मिलती है। भारवि छठीं शताब्दी ईसवी के कवि हैं। इनके महाकाव्य किरातार्जुनीयम् की कथावस्तु महाभारत से ली गई है। इसमें किरात-वेष-धारी शिव और अर्जुन के युद्ध का विवरण है। भारवि की वर्णन की अद्भुत क्षमता और शैली की भव्यता स्पष्ट है। कथानक में अपनी कल्पना और काव्य-प्रतिभा को व्यक्त करने का कवि को बहुत अवसर मिला है।

गद्य के क्षेत्र में सबसे अधिक प्रसिद्ध नाम **बाण** का है। बाण स्थानेश्वर के सम्राट् हर्ष (६०६-६४८ ई०) का दरबारी था। उसकी रचना हर्षचरित संस्कृत-साहित्य में किसी महान् व्यक्ति की एकमात्र उपलब्ध जीवनी है। इसमें राज्यश्री को सती होने से बचाने तक की जीवन-कथा और साथ ही स्वयं बाण का भी कुछ इतिहास वर्णित है। उस युग के दरबार और समाज का सजीव और विशद चित्र अंकित करने में यह पुस्तक बहुत सफल हुई है। बाण की दूसरी रचना कादम्बरी है। इसमें कादम्बरी के जीवन की कथा के साथ ही और भी कई पात्रों के कई जीवन की कहानी जुड़ी हुई है। कादम्बरी संस्कृत साहित्यमें अनुपम और अद्वितीय है। बाण प्रभावशाली गद्य लिखने में प्रवीण हैं। चित्रण की सजीवता तथा प्रभाव उत्पन्न करने के लिये उनकी शैली समास और ओज-गुण से युक्त हो जाती है किन्तु दूसरे स्थानों पर अवसर के उपयुक्त ही छोटे-छोटे वाक्यों का भी सुन्दर प्रयोग है।

सम्राट् हर्ष को भी तीन नाटकों की रचना का श्रेय दिया जाता है। इनमें से रत्नावली और प्रियदर्शिका के कथानक का सम्बन्ध वत्स के प्रसिद्ध राजा उदयन की प्रेम-कथाओं से है। नागानन्द का कथानक बौद्ध आदर्श से सम्बन्धित है। इसमें जीमूतवाहन के द्वारा गरुड़ से नागों के परित्राण के लिये आत्मोत्सर्ग की कहानी है। हर्ष की भाषा सरल, संयत और प्रसाद से परिपूर्ण है।

विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस नाटक की रचना सम्भवतः छठीं शताब्दी के उत्तरार्ध में की थी। ऐतिहासिक कथावस्तु पर आधारित इस नाटक की रचना बहुत सफल हुई है। इसका कथानक है चाणक्य के द्वारा नन्दों के मन्त्री राक्षस को बुद्धि-शक्ति से पराजित कर चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनाना। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार घटना की एकता के प्रदर्शन की दृष्टि से यह नाटक संस्कृत साहित्य में अपना विशिष्ट

स्थान रखता है। चरित्र-चित्रण में भी विशाखदत्त की निपुणता दिखलाई पड़ती है। नाटक के पात्र परस्पर विरोधी युगल रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। वीर रस नाटक की विशेषता है। भावों के अनुरूप ही नाटक की भाषा भी प्रभावपूर्ण है। विशाखदत्त की एक दूसरी रचना देवी-चन्द्रगुप्त नाटक हाल ही में उपलब्ध हुआ है। इस नाटक से चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त का नाम ज्ञात होता है।

संस्कृत साहित्य में सामाजिक नाटकों में प्रमुख स्थान निश्चय ही मृच्छकटिक को प्राप्त है। मृच्छकटिक का रचयिता **शूद्रक** भास से परवर्ती और वराहमिहिर, दण्डिन् और वामन् से पूर्व का है। इसमें आदर्श चरित और समय के चक्र से निर्धन हुए चारुदत्त और वसन्तसेना नाम की गणिका के आदर्श प्रेम की कहानी है। पात्रों की सजीवता और भिन्नता की दृष्टि से यह रूपक संस्कृत साहित्य में अनुपम है। समाज के दूषित और घृणित अंग के पात्रों के चरित्र-चित्रण में इसे आश्चर्य-जनक सफलता मिली है। शूद्रक हास्य में भी कुशल हैं। उनकी भाषा सरस और सरल है।

शैव भारवि की किरातार्जुनीय की प्रतिस्पर्धा में वैष्णव **माघ** ने शिशुपाल-वध की रचना की। माघ का समय ६७५ ईसवी के लगभग निश्चित किया जा सकता है। शिशुपाल-वध महाकाव्य की कथा महाभारत से ली गई है। इसमें युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में कृष्ण के द्वारा शिशुपाल के वध की कथा है। माघ की कविता से उसका पाण्डित्य और सर्वशास्त्रज्ञता स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। अलङ्कारों और व्याकरण के नियमों के प्रयोग और प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में माघ सिद्धहस्त हैं। भारतीय विद्वानों की दृष्टि में शिशुपाल-वध की बड़ी प्रतिष्ठा है।

भर्तृहरि शृङ्गार, वैराग्य और नीति के तीन शतकों (सौ श्लोक) के रचयिता के रूपमें प्रसिद्ध हैं। उनके सम्बन्ध में कई अनुश्रुतियाँ और दन्त-कथायें प्रचलित हैं। लेकिन इनके बीच से उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में किसी प्रामाणिक बात का निर्णय करना सम्भव नहीं है। शृङ्गार-शतक में नारी के आकर्षण और प्रेम की शक्ति का वर्णन है। वैराग्य-शतक में सांसारिक सुखों की असारता बतलाकर सन्तोष को परम सुख और वैराग्य को उसका एकमात्र साधन कहा गया है। नीति-शतक में सदाचार और नीति-विषयक उपदेश दिये गये हैं। प्रत्येक श्लोक स्वयं में पूर्ण हैं। अल्प शब्दों में गहन भावों की अभिव्यक्ति भर्तृहरि की विशेषता है। संसार का सूक्ष्म ज्ञान भर्तृहरि की रचनाओं से स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

कालिदास के नाटकों की समता करने की क्षमता केवल **भवभूति** के ही नाटकों में है। भवभूति का समय ७०० ई० के लगभग निश्चित किया जा सकता है। भवभूति ने तीन रूपक लिखे हैं। महावीर-चरित में राम के जीवन की कथा प्रस्तुत की गई है। कथानक के ऐक्य का भली भाँति निर्वाह किया गया है। मालती-माधव में मालती और माधव की प्रेम-कथा के सहारे उन्मादक प्रेम का सुन्दर चित्रण है। उत्तर-राम-

चरित में सीता के परित्याग और पुनर्मिलन की कथा है। इसमें नाटककार का कौशल अपने पूर्ण विकसित रूप में हमारे सामने आता है। इसमें मानव हृदय और मस्तिष्क का सूक्ष्म ज्ञान परिलक्षित होता है। भवभूति में विदग्धता और पाण्डित्य का सुन्दर सामंजस्य मिलता है। वे वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग, व्याकरण और अलंकार-शास्त्र आदि के विद्वान् थे। भाषा के ऊपर उनका विलक्षण अधिकार था। भाव के अनुकूल ही शब्दों का चयन उनकी विशेषता है। मानव हृदय की सूक्ष्म अनुभूतियों के साथ ही प्रकृति के भयोत्पादक और लोमहर्षक स्वरूपों के अंकन में वे दक्ष हैं। ऐसे तो उन्हें वीर और शृङ्गार रस में भी सफलता मिली है लेकिन करुण रस के वर्णन में तो वे बेजोड़ हैं।

संस्कृत वाङ्मय में **कथा-साहित्य** भी बहुत समृद्ध है। इस साहित्य का ध्येय केवल पाठकों का मनोरंजन ही नहीं है अपितु कथा के माध्यम से उन्हें सांसारिक बुद्धि, सदाचार और नीति आदि की शिक्षा देना भी है। पंचतंत्र और हितोपदेश की सुन्दर और सरल कथायें विश्व-प्रसिद्ध हैं। गुणाढ्य के लिये कहा जाता है कि उसने पैशाची में बृहत्कथा की रचना की थी। यह मूल ग्रन्थ तो प्राप्य नहीं है किन्तु बाद के कवियों द्वारा रचित संक्षिप्त और संशोधित संस्करण अवश्य मिलते हैं। क्षेमेन्द्र की बृहत्कथा मञ्जरी और सोमदेव का कथासरित्सागर ऐसी ही रचनायें हैं। वेताल-पञ्चविंशतिका, शुकसप्तति और सिंहासनद्वात्रिंशिका आकर्षक कथाओं के प्रसिद्ध संग्रह हैं।

प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य—भारतीय वाङ्मय के इतिहास का अन्तिम अध्याय प्रान्तीय और प्रादेशिक भाषाओं का है। ऐसे तो मध्ययुग में अरबी और फारसी आदर्शों ने इसे कुछ प्रभावित किया और आधुनिक युग में अंग्रेजी साहित्य ने इसे कुछ क्षेत्रों में नई दिशा दिखलाई लेकिन मूलतः यह भारतीय ही रहा। आधुनिक भारतीय साहित्य के निर्माण में संस्कृत का ही प्रभाव सबसे अधिक रहा है।

प्रान्तीय साहित्य को उत्तर भारत की आर्य और दक्षिण भारत की द्रविण भाषाओं के दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

तामिल साहित्य का इतिहास बहुत प्राचीन है। तामिल साहित्य का सबसे अधिक समृद्ध काल १०० से ३०० ई० तक माना जाता है। तिरुवल्लुवर् ने १३३० कुरल रचे हैं जिनमें नीति और ज्ञान की शिक्षा दी गई है। इसी प्रकार का दूसरा संग्रह नालडियार है। शैव कवि माणिक्क-वाशगर् ने तिरुवाशगम् नाम के प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की थी जिसके गीत अपनी धार्मिक भावनाओं के कारण आज भी जनप्रिय हैं। दूसरा प्रसिद्ध शैव कवि तिरुज्ञानसम्बन्धर था। शैव धार्मिक कविताओं के साथ ही वैष्णव साहित्य की भी रचना हुई। वैष्णव-प्रबन्ध में १२ आलवारों के रचे भक्ति के गीत हैं। इनमें से अधिकांश की रचना तिरुमङ्गई ने की थी। इन आलवारों में एक स्त्री भी थी जिसका

नाम अण्डाल था। जैन लोगों की तामिल रचनायें सिन्दामणि (चिन्तामणि) और सूलामणि (चूडामणि) के नाम से प्रसिद्ध हैं। तामिल में रामायण और महाभारत के अनुवाद हुये हैं। तामिल में कुछ ऐतिहासिक कवितायें और दार्शनिक साहित्य की भी रचना हुई है।

तेलुगु, मलयालम् और कनाड़ी भाषाओं में रचित साहित्य तामिल भाषा की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण है।

पण्ढरपुर में विठोवा या विट्ठल के नामधारी विष्णु के मन्दिर में मराठी भाषा में अभङ्ग नाम के छोटे भक्ति के गीत गाने वाले कई प्रसिद्ध कवि हुये हैं। इनमें सबसे पहले ज्ञानेश्वर थे जिनकी प्रमुख रचना ज्ञानेश्वरी के नाम से विख्यात है। नामदेव और शूद्र दासी जनबाई के गीत भी भक्ति की भावना से ओतप्रोत हैं। लेकिन इन सभी से अधिक जनप्रिय कवि तुकाराम था।

गुजराती भाषा के साहित्य को जैन लोगों ने समृद्ध बनाने में बहुत योग दिया है। इस दिशा में पारसी लोगों का भी ऋण कम नहीं है।

काश्मीरी भाषा का भी अपना साहित्य है। १४ वीं शताब्दी में एक संन्यासिनी की रचना लल्ला-वाक्यानि बहुत समय तक काश्मीर में जनप्रिय रही है।

पञ्जाबी का लोक-साहित्य समृद्ध है। कई प्राचीन वीर-गाथायें अब भी अवशिष्ट हैं।

हिन्दी का भौगोलिक क्षेत्र बहुत विस्तृत है। हिन्दी के अन्तर्गत कई प्रादेशिक भाषायें आती हैं। प्रारम्भ में साहित्यिक रचना की दृष्टि से व्रजभाषा और अवधी अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। आधुनिक काल में इनका स्थान खड़ी बोली ने ले लिया है।

हिन्दी साहित्य के आदि काल को वीरगाथा-युग कहा जाता है। वीरगाथाओं में सब से अधिक प्रसिद्ध पृथ्वीराजरासो है जो चन्द बरदाई की कृति कही जाती है। १४ वीं शताब्दी से हिन्दी में भक्ति-कविता का आरम्भ होता है। ये रचनायें निर्गुण और सगुण दो प्रमुख धाराओं में विभाजित की जा सकती हैं। निर्गुण-धारा के प्रमुख कवि कबीर हैं। कबीर ने जाति, सम्प्रदाय और धार्मिक पूजा-विधि के भेदों से परे ईश्वर की प्राप्ति के मार्ग को माना है। कबीर का प्रभाव सिक्ख सम्प्रदाय के संस्थापक नानक पर स्पष्ट है। गुरु अर्जुन ने अपने पूर्ववर्तियों की कृतियों को आदि ग्रन्थ के नाम से संकलित किया। मलिक मुहम्मद जायसी जिनकी प्रसिद्ध रचना पद्मावत है, के ऊपर भी कबीर का प्रभाव था। सगुणमार्गी धारा भी दो वर्गों में विभाजित की जा सकती है। एक कृष्ण को आराध्य देव मानती थी। इसमें मीरा और सूरदास के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। राम-भक्त कवियों में सर्वोच्च स्थान तुलसीदास का है।

तुलसीदास—उत्तरी भारत के सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रसिद्ध कवि हैं। तुलसीदास की रचनाओं की संख्या बहुत अधिक है। उनकी प्रमुख रचनायें हैं—रामचरितमानस,

दोहावली, कवितावली, विनयपत्रिका, रामाज्ञा-प्रश्नावली, रामलला-नहछू, बरवै रामायण, जानकी-मङ्गल और पार्वती-मङ्गल। इनमें से केवल रामचरितमानस ही तुलसीदास को भारतीय साहित्य और संस्कृति में उच्च शाश्वत पद दिलाने के लिये पर्याप्त है। रामचरित-मानस अपने संक्षिप्त नाम रामायण से अधिक विख्यात है। इसकी कथा-वस्तु राम के जीवन का वृत्तान्त है। राम के चरित पर वाल्मीकि की प्रसिद्ध रचना भी है। किन्तु तुलसी की कृति वाल्मीकि के ग्रन्थ का अनुवाद-मात्र नहीं है। तुलसी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन्होंने वाल्मीकि के रामायण और दूसरे ग्रन्थों से ही सामग्री लेकर मानस की रचना की है। किन्तु मानस इन सभी से भिन्न है। मानस पर तुलसीदास के व्यक्तित्व और उनकी प्रतिभा की छाप स्पष्ट है। कथानक और घटनाओं का संघटन और क्रम वाल्मीकि के रामायण जैसे हैं किन्तु प्रत्येक स्थल पर वाल्मीकि की निजी विशेषता दिखलाई पड़ती है।

तुलसीदास की सबसे बड़ी विशेषता उनका समन्वयवादी होना है। तुलसीदास जिस युग में उत्पन्न हुये थे उसमें कई परस्पर विरोधी विचार-पद्धतियाँ, संस्कृतियाँ और साधना की रीतियाँ प्रचलित थीं। तुलसीदास ने इन सब में समन्वय स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया। तुलसीदास की रामायण समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक तथा शास्त्र का समन्वय, गृहस्थ्य तथा वैराग्य का समन्वय, भक्ति तथा ज्ञान का समन्वय, निर्गुण तथा सगुण का समन्वय, पण्डित तथा मूर्ख का समन्वय, देवभाषा और लोक-भाषा का समन्वय, ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूपों का समन्वय श्लाघनीय विधि से किये गये हैं। वास्तव में तुलसीदास समन्वय ही के कवि कहे जा सकते हैं।

तुलसीदास कवि से भी अधिक समाज के सुधारक और भविष्य के निर्माता हैं। तुलसीदास ने समाज के सभी पहलू और सभी प्रश्न की विवेचना कर हल प्रस्तुत किया है। तुलसीदास ने समाज के सभी संबंधों के लिये आदर्श चरित्र प्रस्तुत किये हैं। सदियों से भारतीय समाज ने इन आदर्शों से स्फूर्ति ग्रहण की है और इनके अनुरूप अपने को ढालने का प्रयत्न किया है। तुलसी की रामायण ने भारतीय समाज को प्रत्येक अवसर और परिस्थिति के लिये श्रेष्ठतम मार्ग का निर्देश किया है। यह कृति भारतीय सांस्कृतिक चेतना का अभिन्न अंग बन गई है। इतनी जनप्रिय रचना दूसरी कोई नहीं है। राजमहल से मजदूरों की कुटियों तक जहाँ कहीं भी हिन्दू हृदय है वहाँ तुलसी और उनकी रामायण का शाश्वत स्थान है। जब तक हिन्दी, भारतीय और भारतीय संस्कृति का अस्तित्व रहेगा तब तक रामायण का स्थान अक्षुण्ण रहेगा। रामायण ऐसे अंशों से भरा है जो कहावतों और चिरन्तन सत्य के रूप में प्रसिद्ध हैं, जो जन-जन की जिह्वा पर हैं और जिन्हें प्रतिदिन के जीवन में उद्धृत किया जाता है।

तुलसीदास का जन्म बड़े ही उचित समय में हुआ था। उस समय का हिन्दू समाज सामाजिक और राजनैतिक अत्याचारों से पीड़ित था। निराशा के उस अंधकार

में उसे आशा की कोई किरण नहीं दिखलाई पड़ती थी। उस समय राम के उज्ज्वल चरित्र को तुलसी ने प्रस्तुत किया। तुलसीदास ने राम की भक्ति का प्रशस्त मार्ग दिखलाया। राम की भक्ति उस काल के लिये सबसे बड़ा आश्रय सिद्ध हुई।

तुलसीदास सिद्ध-हस्त और कुशल कवि हैं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। उन्होंने उस काल में प्रचलित सभी शैलियों और छन्द-पद्धतियों का कुशल प्रयोग किया है। उनकी छन्द-रचना शिथिल नहीं होती। उन्होंने विषय और भावों के अनुकूल ही छन्दों को चुना है। रामायण में दोहा और चौपाई शैली का प्रयोग है। दोहावली में दोहे प्रयुक्त हुये हैं। विनय-पत्रिका की रचना गीत-शैली के पदों के रूप में है। कवितावली सवैया छन्दों में लिखी गई है।

तुलसीदास का व्रज तथा अवधी दोनों पर ही समान अधिकार है और उन्होंने दोनों का ही सफल प्रयोग किया है किन्तु प्रधानतः वे अवधी भाषा के कवि हैं। कुछ स्थलों पर राजस्थानी-मिश्रित तथा भोजपुरी और बुन्देलखण्डी से प्रभावित भाषा का भी प्रयोग है। तुलसी ने कुछ अरबी और फारसी के शब्दों को भी ग्रहण किया है। कहीं-कहीं संस्कृत का पुट भी दिखलाई पड़ता है। उनकी भाषा सरल, सरस, मधुर और परिमार्जित है।

मैथिली भाषा में १४०० ई० के लगभग विद्यापति ठाकुर ने राधा और कृष्ण के प्रेम के बहाने परमात्मा के लिये आत्मा की व्याकुलता को गीतों में बद्ध किया है।

बँगला भाषा में साहित्य-सृजन बहुत पहले ही प्रारंभ हो गया था। रामायण, महाभारत और पुराणों के भी बँगला भाषा में संस्करण बने थे। १४ वीं शताब्दी से बँगला में भी धार्मिक कविता रची जाने लगी। चण्डीदास विद्यापति के समकालीन थे। उन्होंने भी राधा और कृष्ण के प्रेम पर गीत रचे हैं। चण्डी-मंगल के रचयिता मुकुन्दराम कविकङ्कण की गणना बंगाल के सर्वश्रेष्ठ कवियों में होती है। चैतन्यदेव जिनका वास्तविक नाम विश्वम्भर मिश्र था कवि से अधिक भक्त थे। सन्त-कवि रामप्रसाद जिन्होंने दुर्गा की स्तुति और दूसरी धार्मिक कवितायें लिखी हैं बंगाल में बहुत प्रतिष्ठित हैं। १८०० ई० के लगभग से बंगला में नाटक साहित्य का प्रारंभ होता है। कुलीन-कुल-सर्वस्व में कुलीन ब्राह्मणों का मजाक उड़ाया गया है। नील-दर्पण में अंग्रेजों द्वारा नील के उद्योग के शोषण की तीव्र आलोचना है। प्रसिद्ध विद्वान और समाज-सुधारक राममोहन राय ने बंगला के गद्य के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। मूर्तिपूजा पर उनकी पुस्तक बँगला गद्य की प्रथम कृति है। गद्य लिखने विशेष रूप से निबन्ध-रचना में अक्षय कुमार दत्त और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का भी नाम प्रसिद्ध है। १९वीं शताब्दी से बँगला साहित्य पर अँग्रेजी का प्रभाव पड़ने लगा। बङ्किमचन्द्र चटर्जी पहले प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं। रमेशचन्द्र दत्त ने भी कुछ उपन्यास लिखे। माइकेल मधुसूदन की गणना बँगला के आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ कवियों में होती है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म १८६१ ई० में हुआ था। ये बंगाली भाषा ही में रचना करते थे किन्तु कभी-कभी उनका स्वयं ही अँग्रेजी में अनुवाद करते थे। १९१२ ई० में उनकी कुछ कविताओं का अँग्रेजी अनुवाद गीताञ्जलि के नाम से प्रकाशित हुआ। १९१३ ई० में उन्हें साहित्य का नोबेल पुरस्कार मिला और उसी समय से इनकी ख्याति और प्रतिष्ठा बढ़ती गई। यह आश्चर्य और खेद की बात है कि हम अपने देशवासियों की प्रतिभा को तभी समझ पाये जब कि विदेशियों ने उसकी मुक्त-कंठ से प्रशंसा की।

इस समय रवीन्द्रनाथ की प्रतिष्ठा विश्व-कवि के रूप में है। इनकी रचनाओं में मानव हृदय के उद्गार अपनी स्वयं की अनुभूति के समान हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। उन्होंने देश और जाति के संकीर्ण बंधनों को त्यागकर समस्त मानवता को अपनाया। उन्होंने पीड़ित मानव की वेदना को अपनी रचनाओं के द्वारा मुखरित किया, उसकी आशा को छन्दों में बाँधा और उसके आनन्द को संगीत में बढ़ाया है।

लेकिन रवीन्द्रनाथ का सच्चा आकर्षण उनकी भारतीयता में है। उनकी सभी कविताओं में उनकी भारतीय आत्मा स्पष्ट झलकती है, उनकी कहानियाँ वास्तविक भारतीय जीवन को प्रतिबिम्बित करती हैं। उनकी रहस्यवादी धार्मिक कविताओं और उनके दार्शनिक और धार्मिक भाषणों में भारत का प्राचीन ज्ञान बोलता हैं। उनके पिता और ब्रह्म-समाज का प्रभाव भी उनके भाषणों और उनकी कविताओं में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। उपनिषदों की दार्शनिक कल्पना और भगवद्गीता की भक्ति के समन्वय से ही उनका ईश्वर के प्रति रहस्यवादी अनुराग उत्पन्न हुआ है।

टैगोर की कविता में उच्चकोटि की रहस्यवादी कल्पना है। इसी से जिनके लिये रहस्यवाद में कोई आकर्षण नहीं है वे रचनाओं में निहित नैतिक सत्य को नहीं समझ सकते। उनके रहस्यवादी विचारों का अच्छा विकास उनकी सोनारतरी नामक कविता-संग्रह में दिखलाई पड़ता है।

किन्तु रवीन्द्रनाथ एक स्वतंत्र विचारक भी हैं। वे पुरातन विचारों का अन्ध-अनुसरण नहीं करते। ईश्वर तक पहुँचने के लिये वे संन्यास, योग या अनुष्ठानों का सहारा नहीं लेना चाहते। वे ईश्वर को घर में ही अपने कर्त्तव्यों को करते हुये ही प्राप्त करना चाहते हैं। वे संसार के ही प्राणी हैं और मानवीय और इहलौकिक विषयों में सच्ची रुचि रखते हैं। उनके बाल-गीतों और प्रेम-गीतों से सिद्ध हो जाता है कि वे उन अल्प-संख्यक विश्व-कवियों की कोटि में आते हैं जो शिशु या स्त्री की आत्मा से अपनी एक-रूपता स्थापित करने में सफल हो सके हैं। अपने उपन्यास और कहानियों में उन्होंने वर्तमान भारतीय जीवन को सच्चे रूप में उपस्थित किया है। वे स्त्री और पुरुषों के मानसिक संघर्ष को चित्रित करने में कुशल हैं। उनके नाटक चित्रा का कथानक महाभारत से लिया गया है। स्त्री-जीवन की समस्याओं और विचारों का

सूक्ष्म ज्ञान इसमें झलकता है। इसमें विवाह को दो हृदयों के सच्चे सम्मिलन के आदर्श के रूप में रखा गया है। इसमें स्त्री या गृहस्थ-जीवन के लिये कोई अवहेलना की भावना नहीं है। चित्रा और उर्वशी सौन्दर्य-पूजा की दृष्टि से विश्व-साहित्य में वेजोड़ रचनायें हैं।

रवीन्द्रनाथ में पुरातन भारतीय ज्ञान और आधुनिक प्रगतिवादी बुद्धि का सुन्दर सामञ्जस्य है। आधुनिक जगत की समस्याओं पर उनके विचार इसे स्पष्ट सूचित करते हैं। बलिदान जो बंगला साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटक है उसमें उन्होंने युद्ध की समस्या का विवेचन किया है। धर्म की समस्या मालिनी नाम के नाटक में प्रस्तुत की गई है। राष्ट्रीयता की भावना उनके हृदय को उद्वेलित करती थी। वह विदेशी शोषण के विरोधी थे। वह भारत के प्राचीन आदर्शों को जागरित और जीवित करना चाहते थे। इसका निरूपण घर और बाहर नाम के उपन्यास और Nationalism शीर्षक से छपे उनके भाषणों के संग्रह में मिलता है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अपने Creative Unity नाम के ग्रन्थ में उन्होंने भारत और पाश्चात्य देशों के संबंध पर अपने विचार रखे हैं। उनका कहना है कि यूरोप में जो कुछ भी उच्च और सुन्दर है उसको सम्यक् प्रकार से जान कर ही हम यूरोप के लोलुप और निम्न स्वरूप से अपनी रक्षा कर सकते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि शोषण और अत्याचार के बीच भी यूरोप ने पूर्वी देशों को सभी क्षेत्रों में स्वतंत्रता की भावना दी है—नैतिक एवं आत्मिक स्वतंत्रता, विचार और क्रिया की स्वतंत्रता और साहित्य और कला में बंधनों से स्वतंत्रता। लेकिन साथ ही वे पश्चिम की शक्ति की पूजा और असीम लोलुपता को भयंकर विष बताते हैं और पूर्व को उससे बचाना चाहते हैं। इस दृष्टि से वे राष्ट्रीय भावनाओं से सहानुभूति प्रकट करते हैं और राष्ट्रीय विशेषताओं को अक्षुण्ण बनाने का समर्थन करते हैं। लेकिन वे राष्ट्रीय अहंकार और दर्प या घृणा की भावना के विरोधी हैं क्योंकि उनके लिये मानवता राष्ट्र से ऊपर है।

१९०२ ई० से १९०६ ई० तक का काल रवीन्द्रनाथ के गार्हस्थ जीवन का दुःखमय अध्याय था। मृत्यु के निष्ठुर प्रहारों से कवि की आत्मा करुण क्रन्दन कर उठी। उनकी स्मरण, खेवैया और नौका डूबी नामक रचनायें इसी काल की हैं और इसी कारण इनमें कवि के मार्मिक उद्गार मिलते हैं। कवि ने समझा कि मृत्यु अन्त नहीं अपितु जीवन की पूर्णता है।

पठनीय सामग्री

Das Gupta, S. N. (Ed.)—A History of Sanskrit Literature.
Keith, A. B.—History of Sanskrit Literature.
Keith, A. B.—Sanskrit Drama.
Krishnamachariar, M.—History of classical Sanskrit Literature.

Macdonell, A. A.—History of Sanskrit Literature.
Macdonell, A. A.—India's Past.
Winternitz, M.—History of Indian Literature.
Max Muller, F.—History of Ancient Sanskrit Literature.
Vaidya, C.V.—History of Sanskrit Literature Vol. I : S'ruti (Vedic Period).
Pusalker, A. D.—Studies in Epics and Puranas.
Law, B. C.—History of Pali Literature.
Kapadia, H. R.—Jaina Religion and Literature.
Vaidya, C. V.—Mahabharata : A Criticism.
Vaidya, C. V.—The Riddle of the Ramayan.
Radhakrishnan's Bhagavadgita.
मिराशी—कालिदास (मराठी में)
रामचन्द्रशुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास।
रामचन्द्र शुक्ल—तुलसीदास।
हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका।

अध्याय ६

भारतीय कला की रूपरेखा

भारतीय कला की विशेषताएँ—भारतीय कला की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जो उसे अन्य देशों की कलाओं से भिन्न करती हैं। उसकी पहली विशेषता अभि-व्यक्ति-प्रधानता है। इसमें अंग-सौष्ठव तथा मानवीय रूपों की यथार्थ प्रतिकृति पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। अंग-सौष्ठव हमें चीनी कला में मिलता है और मान-वीय रूपों की यथार्थ प्रतिकृति यूनानी कला की विशेषता है। भारतीय-कला में बाह्य-सौंदर्य दिखाने की अपेक्षा आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति पर बहुत अधिक बल दिया गया है। उदाहरणस्वरूप, भारतीय कला में भगवान्बुद्ध के अङ्ग-प्रत्यङ्ग-गठन के अंकन की अपेक्षा उनके मुखमण्डल पर निर्वाण के अलौकिक आनन्द को प्रदर्शित करने में विशेष कुशलता प्रदर्शित की गई है। रस की अभिव्यक्ति ही इस कला का चरम लक्ष्य था इसीलिये यह उतनी यथार्थ और पार्थिव सौंदर्य से युक्त न होते हुये भी सजीव और प्राणवान् है।

भारतीय कला की दूसरी प्रधान विशेषता धर्मतत्त्व की प्रधानता है। वास्तु-कला, मूर्ति-कला और चित्रकला सभी का विषय धार्मिक था। यह कला प्रतीकात्मकता से भी ओत-प्रोत है। कलाकारों ने गूढ़ आध्यात्मिक, दार्शनिक और धार्मिक तत्त्वों को मूर्त रूप देने का सफल प्रयास किया। कला का प्रधान उद्देश्य ऐन्द्रिक तुष्टि नहीं अपितु परमानन्द की प्राप्ति है[1]। इन कलाकारों ने कहीं अपना नाम नहीं दिया और कला की उत्कृष्टता द्वारा ही अमर होना श्रेयस्कर समझा।

कला का प्रारम्भिक रूप—भारत में प्रागैतिहासिक काल की प्राचीनतम कला के अवशेष मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश) तथा मध्यप्रदेश की पहाड़ी गुफाओं में मिलते हैं। इन गुफाओं में पाषाण-काल के लोगों के बनाये हुये लाल रंग के चित्र मिलते हैं जिनमें गैंडे, हाथी, हिरन आदि जानवरों तथा शिकार के दृश्यों का प्रदर्शन है। बेलारी (दक्षिणी भारत), मैसूर, हैदराबाद, बाँदा (उत्तर प्रदेश) तथा अन्य स्थानों से प्राप्त पत्थर की चिकनी कुल्हाड़ियों में भी नवीन पाषाण-काल की कला की झलक मिलती है। सिन्ध नदी की घाटी के हरप्पा और मोहेंजोदड़ो नामक स्थानों में नगर-निर्माण-कला, भवन-निर्माण-कला, मूर्तिकला, चित्रकारी आदि के सुन्दर उदा-

---

१. विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा पराकला ॥

हरण मिलते हैं। यहाँ से प्राप्त मुहरों पर वृष तथा अन्य जानवरों के उत्कृष्ट चित्र नक्काशी द्वारा बनाये गये हैं; पत्थर की कुछ मूर्तियों में भी कला की सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। अभी कौशाम्बी (प्रयाग के पास) के उत्खनन में कुछ प्राकार मिले हैं जिनकी तिथि लगभग ८०० ई० पू० हो सकती है, इनमें सिन्ध की घाटी की दुर्ग-निर्माण-कला का स्पष्ट प्रभाव है।[१]

भारतीय कला अपनी विशिष्टता के साथ मौर्य काल में ही प्रगट होती है। मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र की नगर तथा भवन-निर्माण-कला की सराहना यूनानी लेखकों तथा चीनी यात्री फाहियान ने की है। पाटलिपुत्र के उत्खनन में एक १०० खंभों वाले बड़े कमरे के भग्नावशेष मिले हैं। पर मौर्य काल की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस काल में बौद्धकला का विकास दृष्टिगोचर होने लगता है। ईसा के जन्म की तीन शताब्दियों पहले तथा बाद तक के काल में भारतीय कलात्मक प्रतिभा का चरमोत्कर्ष बौद्धकला में हुआ। इस प्रकार बौद्ध-धर्म ने भारतीय कला को प्रचुर प्रेरणा प्रदान की। प्राचीन भारत की कला के विकास पर धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा है। कला प्रधानतः धर्म का माध्यम रही है क्योंकि धर्म के तत्त्वों को समझाने तथा धार्मिक आचार की व्यवस्था के लिये ही कला का आश्रय लिया गया। प्राचीन नगरों तथा भवनों के भग्नावशेषों में धर्म-निरपेक्ष कला का भी रूप मिलता है। पर भारतीय कलात्मक प्रतिभा की चरम अभिव्यक्ति धार्मिक वास्तुकला, शिल्पकला और चित्रकला में ही मिलती है।

बौद्ध कला

(अ) वास्तु-कला

(१) **स्तूप**—प्रारम्भिक धर्म-वास्तु में बौद्ध स्तूपों का विशेष महत्त्व है। भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् उनकी अस्थियों को आठ भागों में बाँटा गया और प्रत्येक अस्थि-भाग पर समाधि का निर्माण हुआ। इन्हें चैत्य की संज्ञा दी गई। साधारण रूप से इन्हीं को स्तूप भी कहते हैं।[२] ये स्तूप बौद्ध धर्मावलम्बियों की श्रद्धा और उपासना के केन्द्र थे। एक परम्परा के अनुसार अशोक ने इन स्तूपों की अस्थियों को निकालकर उन्हें ८४००० स्तूपों में रखवाया।

स्तूप का प्रारम्भिक रूप अर्धगोलाकार मिलता है जो एक उल्टे कटोरे की तरह दिखाई देता है। उसके आधार (base) के चारो ओर एक घेरा होता है जिसे वाड़ (railing) कहते हैं। अस्थि-पात्र को या तो स्तूप के शिखर पर या उसके

१. यह मत प्रयाग विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष तथा कौशाम्बी अभियान के डाइरेक्टर श्रीगोवर्द्धन राय शर्मा का है।
२. परमेश्वरीलाल गुप्त, भारतीय वास्तुकला, पृ० ३९-४०।

गर्भ में रखते थे। स्तूप की चोटी पर राजछत्र लगा रहता है। कभी-कभी बुद्ध के उत्तराधिकारियों तथा प्रसिद्ध भिक्षुओं की अस्थियों को भी स्तूपों में रखते थे।

प्रारम्भिक स्तूपों में साँची (पहले के भोपाल राज्य में) का स्तूप-समूह प्रमुख है। इस समूह में एक बड़ा तथा दो छोटे स्तूप हैं। बड़े स्तूप को संभवतः अशोक ने तीसरी शताब्दी ई० पूर्व में ईंटों का बनवाया था। तत्पश्चात् प्रथम शताब्दी ई० पूर्व आन्ध्रों के शासन काल में इस स्तूप का और विस्तार हुआ।[1] इसके तले का व्यास १२१½ फुट और इसकी ऊँचाई ७७½ फुट है। स्तूप के शिखर पर एक छोटी चौकोर हर्मिका है जिसके ऊपर एक दण्ड में पिरोये हुये गोल छत्र हैं। स्तूप के गुम्बद के चारों ओर दो प्रदक्षिणा-मार्ग हैं। एक तो भूमि की सतह के बराबर है तथा दूसरा कुछ ऊँचाई पर है जिस पर जाने के लिये सीढ़ियाँ लगी हैं। स्तूप का गुम्बद तथा दोनों प्रदक्षिणा-मार्ग रेलिंग से घिरे हैं। चारों दिशाओं में रेलिंग से मिले हुये चार विशालकाय प्रवेश-द्वार हैं जिन्हें तोरण-द्वार कहते हैं। ये प्रदक्षिणा की वेदी पर जाने के लिये थे। विद्वानों का मत है कि पहले ये द्वार लकड़ी के थे पर प्रथम शताब्दी ई० पूर्व में पत्थर के तोरण-द्वार बनाये गये। इन द्वारों का प्रत्येक स्तम्भ १४ फुट ऊँचा है। प्रत्येक तोरण-द्वार में खम्भों के ऊपर तीन कमानीदार बड़ेरियाँ एक के ऊपर दूसरी लगी हुई हैं। पूरे तोरण की ऊँचाई लगभग ३४ फुट है। खम्भे के ऊपर की बड़ेरियों में चारों ओर बुद्ध के जीवन एवं पूर्व-जीवन की घटनाओं का सजीव चित्रण मिलता है। इनपर सिंह (धर्मविजय का प्रतीक), वृष व हाथी (बुद्ध के जन्म के प्रतीक), धर्मचक्र (धर्म चक्र-प्रवर्तन का प्रतीक), त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ), यक्ष, यक्षिणियाँ, मोर, हिरण आदि उत्कीर्ण हैं। इनमें उस युग की कला तथा संस्कृति की सजीव झाँकी मिलती है।

दूसरा प्रसिद्ध स्तूप पहले के नागोद राज्य में भरहुत नामक स्थान पर था। यह अब ध्वस्त हो चुका है। इसका निर्माण शुङ्ग काल (१८५-७२ ई० पूर्व) में हुआ। इस स्तूप के तले का व्यास ६८ फुट था। इसकी खुदाई में पत्थर के बाड़ और तोरण आदि मिले हैं जो कलकत्ता के संग्रहालय (अजायबघर) में सुरक्षित हैं। स्तूप के चारों ओर लगी पत्थर की बाड़ों पर बौद्ध कथाओं के चित्र मिलते हैं।

कनिष्क के राजत्वकाल में भी अनेक स्तूपों का निर्माण हुआ। इस काल का सबसे प्रसिद्ध स्तूप पेशावर में था जो अब नष्ट हो चुका है। कुछ चीनी यात्रियों के विवरणों से ज्ञात होता है कि यह स्तूप ४०० फुट ऊँचा था और इसका आधार १५० फुट था।

दक्षिण में कृष्णा नदी के किनारे अमरावती नामक स्थान में भी एक स्तूप के अवशेष मिले हैं। इस स्तूप का निर्माण दूसरी शताब्दी में आन्ध्रों (सातवाहनों) के

---

१. Benjamin Rowland, *The Art and Architecture of India* p. 62

शासन-काल में हुआ। यहाँ के कुछ शिलाफलकों पर अंकित स्तूप के अलंकृत दृश्यों से इस स्तूप के स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है।

गुप्त-काल के भी बहुत से स्तूप मिले हैं। इनमें सारनाथ तथा राजगृह के स्तूप प्रमुख हैं। ये प्रायः सुरक्षित अवस्था में हैं। सारनाथ के धमेख स्तूप का निर्माण सम्भवतः छठीं शताब्दी में हुआ। यह ईंटों का बना है और १२८ फुट ऊँचा है। यह नलाकार पत्थर के ढोल सा दिखाई देता है। राजगृह का स्तूप पाँचवीं शताब्दी का माना जाता है। इसका आधार काफी ऊँचा है और यह स्तूप मीनार की तरह लगता है। गुप्त-काल के बाद का कोई प्रसिद्ध स्तूप नहीं मिला है।

स्तूप-निर्माण-कला के विकास में यह उल्लेखनीय है कि बाद में चलकर इनका आकार मीनार की तरह हो गया।

(२) चैत्य-भवन—स्तूप के निकट एक भवन होता था जिसमें बौद्ध भिक्षु उपासना तथा संघ की विभिन्न समस्याओं के निराकरण करने के लिये एकत्र होते थे। चैत्य-भवन अथवा स्तूप-भवन में एक चौकोर बड़ा कमरा होता था जो पीछे की ओर वर्तुलाकार होता था। यही वर्तुलाकार क्षेत्र स्तूप का प्रदक्षिणा-मार्ग होता था। चैत्य-भवन और ईसाइयों के गिर्जाघर के आकार में कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है।

स्तूप-भवन के चिह्न साँची में भी मिले हैं। अजन्ता की गुफा संख्या ९ और १० इसी प्रकार के स्तूप-भवन हैं जिनका निर्माण पहली और दूसरी शताब्दी में हुआ था।

अजन्ता की भाँति कार्ले का स्तूप-भवन भी पहाड़ियों को काटकर बनाया गया था। मुख्य द्वार से पिछली दीवार तक इसकी लम्बाई १२४ फुट ३ इंच, चौड़ाई ?५ फुट ७ इंच तथा ऊँचाई ४५ फुट है। यह स्तूप-भवन सबसे अधिक भव्य माना जाता है। इसका भी निर्माण प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ। इनके अतिरिक्त बहुत से अन्य स्तूप-भवन भी मिलते हैं। इन स्तूप-भवनों को मूर्तियों तथा शिल्पकारी द्वारा अलंकृत करते थे।

(३) संघाराम (विहार)—अजन्ता, कार्ले, भाजा (पश्चिमी घाट, पूना के निकट) आदि स्थानों में चैत्य-भवनों के निकट विहार भी मिलते हैं जो बौद्ध-भिक्षुओं के निवास-स्थान थे। इनमें भिक्षु वर्षावास करते थे। ये विहार कठोर चट्टानों को काटकर तथा पर्वत की कन्दराओं को कोर कर बनाये गये हैं। इनकी आन्तरिक दीवारों पर दर्पण के समान चमकने वाली पालिश है। इनमें भिक्षुओं के रहने तथा पूजा-पाठ के लिये चारों ओर कमरे होते थे। अन्दर की ओर कमरों के सामने बरामदे भी होते थे।

अजन्ता के गुफा-भवनों में अधिकांश विहार हैं। इनका निर्माण पाँचवी से आठवीं शताब्दी के बीच में माना जाता है। इनकी दीवारों पर सुन्दर भित्ति-चित्र

मिलते हैं जिनमें अधिकांशतः बुद्ध के जीवन तथा पूर्व-जन्मों की घटनाओं का चित्रण है।

कुछ वर्षों पूर्व प्रयाग-विश्वविद्यालय-कौशाम्बी-अभियान ने कौशाम्बी में प्राचीन घोषिताराम विहार की खोज तथा उसका उत्खनन किया है। इसकी केवल नीवें और कुछ अन्य अवशेष ही मिले हैं। विहार से लगे हुये एक प्राचीन स्तूप के भी ध्वंसावशेष मिले हैं जिसका संभवतः अशोक ने पुनरुद्धार कराया था।

उदयगिरि तथा उड़ीसा की कुछ पहाड़ियों पर जैन गुफा-भवन भी मिलते हैं। पर कुल मिलाकर बौद्ध विहारों की संख्या अधिक है।

(ब) बौद्ध मूर्ति-कला एवं शिल्पकारी

मौर्य काल में, सम्राटों के प्रोत्साहन, आर्थिक समृद्धि और कुछ बाह्य प्रभावों के कारण कला के क्षेत्र में प्रचुर उन्नति दृष्टिगोचर होती है। यहाँ हम मूर्तिकला पर ही विचार करेंगे। मौर्य सम्राट अशोक ने अपने धर्म-संदेशों को शिलास्तम्भों पर उत्कीर्ण कराया। ये शिलास्तम्भ सारनाथ, साँची तथा अन्य स्थानों पर मिले हैं। ये स्तम्भ अशोक-कालीन मूर्ति-कला के सार माने जाते हैं। इनका भी संबन्ध बौद्ध-धर्म से माना जाता है। अधिकांश विद्वानों के अनुसार बौद्ध-धर्म से ही प्रभावित होकर अशोक ने धर्म-सन्देश पत्थरों पर उत्कीर्ण कराया।

इन स्तम्भों तथा उनके ऊपर की पालिश (लेप) से एक उत्कृष्ट कला का आभास मिलता है। इन स्तम्भों के लाठ गोल हैं। इनकी ऊँचाई तीस-तीस, चालीस-चालीस फुट है तथा हजार-हजार, बारह-बारह सौ मन इनका वजन है। ये चुनार के पत्थर के बने हैं जिसके ऊपर परगहा (Capital) रखकर जोड़ दिया गया है। अशोक के सारनाथ वाले स्तम्भ के परगहे (ऊपरी भाग) पर एक ही ओर पीठ किये चार सिंहों की मूर्तियाँ हैं जो अब सारनाथ के संग्रहालय में रखी गई हैं। इनका चित्र स्वतंत्र भारत ने अपनी राजमुद्रा के लिये अपनाया है।

कुषाण काल के पहले बौद्ध-धर्म में मूर्तिकला के निर्माण की परम्परा के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलता। साँची, भरहुत आदि प्रारम्भिक बौद्ध-अवशेषों के तोरण द्वारों और बाड़ों पर बुद्ध के पहले जन्मों की घटनाओं के चित्र उत्कीर्ण हैं। इनमें उत्कृष्ट शिल्पकारी मिलती है। पर पहले बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण नहीं होता था। पहले महात्मा बुद्ध के अस्तित्व को उनके घोड़े, छत्र, सिंहासन अथवा चरण पादुकाओं से ही प्रदर्शित करते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि बौद्ध-धर्म में मूर्तियों का प्रादुर्भाव यूनानी, रोमन तथा मध्य एशिया की जातियों के प्रभाव के कारण हुआ। पर अब अधिकांश विद्वान यही मानते हैं कि इस धर्म में मूर्तियों की परम्परा के पीछे भारतीय प्रेरणा ही अधिकांशतः विद्यमान थी। वास्तव में जैन और वैष्णव धर्मों में

मूर्ति-पूजा का प्रचार बहुत पहले से था और यक्ष और यक्षिणियों की भी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। बौद्ध-धर्म पर इनका प्रभाव भी स्वाभाविक ही था। बौद्ध-धर्म के महायान-सम्प्रदाय में ही बौद्ध-मूर्तिकला का विकास हुआ क्योंकि महायान में भक्ति-प्रवृत्ति प्रधान थी।

बौद्ध मूर्तिकला के क्षेत्र में कई शैलियों का विकास हुआ। इनमें से गान्धार-शैली, मथुरा-शैली, अमरावती शैली, सारनाथ शैली और पाल-शैली प्रमुख हैं।

गान्धार शैली (५० ई० पू० से ५०० ई० तक)—गान्धार-कला का विकास प्रधानतः शकों और कुषाणों के संरक्षण में हुआ। फुशे, विंसेंट स्मिथ, सर जान मारशल आदि विद्वानों का मत है कि गान्धार-शैली पर भारतीय मूर्तिकला का कोई प्रभाव नहीं है और बुद्ध-मूर्ति की कल्पना सबसे पहले इसी ने की। पर हैवेल, डॉ० कुमारस्वामी तथा कुछ अन्य विद्वान् इस मत का विरोध करते हैं। इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है कि बौद्ध मूर्ति कला के विकास के पीछे भारतीय प्रेरणा ही अधिक थी; गान्धार-शैली को बुद्ध-मूर्ति की कल्पना का श्रेय देने के लिये कोई सबल प्रमाण नहीं है। कुछ विद्वान कहते हैं कि गान्धार-शैली के कलाकार की भावना में भी भारतीय कला का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, निर्माण-शैली यूनानी थी पर कला की आत्मा भारतीय; बौद्ध धार्मिक भावनाओं और विश्वासों की अभिव्यक्ति यूनानी ढंग से की गई। यह ठीक हो सकता है पर इस शैली पर यूनानी प्रभाव अधिक है। इसकी उत्पत्ति में रोमन साम्राज्य और एशिया माइनर की 'हेलेनिस्टिक कला' का प्रभाव माना जाता है। शकों और कुषाणों के संरक्षण में यूनानी कला की परम्परायें पल्लवित और पुष्पित होती रहीं। गान्धार-शैली प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व के मध्य से पाँचवीं शताब्दी तक उन्नति करती रही। गान्धार देश में विकसित होने के कारण इस कला का नाम गान्धार-शैली पड़ा। यह भारत के उत्तरी पश्चिमी प्रदेश तक ही सीमित रही। इस शैली के नमूने तक्षशिला में और पाकिस्तान के उत्तर पश्चिम प्रान्त एवं अफगानिस्तान के अनेक स्थानों पर मिले हैं। इनमें अधिकांश बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ हैं। बौद्ध धर्म-ग्रन्थों की कथाओं के दृश्य भी पत्थर पर उत्कीर्ण किये गये हैं।

मूर्तियाँ काले स्लेटी पाषाण, पिसे हुये चूने तथा पकाई हुई मिट्टी की बनाई जाती थीं। पाषाण और चूने-मसाले की मूर्तियों को स्वर्णिम रंग से सुशोभित किया जाता था। पेशावर, लाहौर और कुछ अन्य संग्रहालयों में इस शैली की पाषाण-मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। तक्षशिला के उत्खनन में भी इस शैली की मूर्तियाँ मिली हैं। बुद्ध और बोधिसत्वों की कलापूर्ण मूर्तियाँ, ध्यान, धर्मचक्र प्रवर्तन, अभय और वरद मुद्राओं में मिलती हैं। काले पाषाण खण्डों पर भी बुद्ध के पिछले जन्मों की अनेक घटनायें सजीव और अलौकिक ढंग से उत्कीर्ण मिलती हैं।

गान्धार-शैली की कुछ स्पष्ट विशेषताएँ मिलती हैं जो अन्य शैलियों में नहीं

पायी जातीं। यूनानी प्रभाव के कारण गान्धार-शैली की प्रवृत्ति मानव-शरीर के यथार्थ और वास्तविक चित्रण की ओर थी जिसमें अंग-प्रत्यंग, मांस-पेशियों, मूछों आदि के सूक्ष्मतापूर्वक प्रदर्शन पर विशेष ध्यान दिया गया। बुद्ध का प्रदर्शन मानव रूप में करने की विशेष चेष्टा की गई। इस शैली द्वारा बनी बुद्ध की प्रतिमायें यूनानी देवता अपोलो (Apollo) की मूर्तियों की भाँति लगती हैं। सिर पर लहरदार बाल प्रदर्शित करने की प्रथा भी इसी शैली में दृष्टिगोचर होती है। इसकी परिधान-शैली की भी अपनी विशेषता है। मूर्तियों पर वस्त्रों की सलवटें बड़ी सूक्ष्मता से प्रदर्शित की गई हैं। शरीर से बिल्कुल सटे, अंग-प्रत्यंग दिखाने वाले झीने या अर्द्धपारदर्शक वस्त्रों का अंकन मिलता है। गान्धार-शैली के अलंकरण विस्तृत हैं, प्रतीक जटिल है तथा नक्काशी अनुपम है।

कुछ विद्वानों का मत है कि गान्धार-कला में यूनानी कला की वास्तविकता तथा भारतीय कला की भावमय व आध्यात्मिक व्यंजना, इन दोनों तत्त्वों के सामञ्जस्य का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। पर यह प्रयत्न सफल नहीं कहा जा सकता। कुछ अन्य विद्वान इस शैली को शुद्ध भारतीय कला के अन्तर्गत नहीं मानते। कालान्तर में गान्धार–कला का प्रभाव चीन और जापान तक पहुँचा।

मथुरा शैली (१५०ई०-३०० ई०)—गान्धार की भाँति मथुरा भी बौद्ध-मूर्तिकला का एक बहुत बड़ा केन्द्र था। मथुरा शैली के दो विभाग हैं—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध की प्रतिमाओं का काल द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व से प्रारम्भ होता है। इस काल की कुछ भग्न प्रतिमायें मिली हैं जिनका सम्बन्ध भरहुत की कला से प्रतीत होता है। इन प्रतिमाओं का गढ़न बहुत कलापूर्ण नहीं है। उत्तरार्द्ध काल की प्रतिमायें अधिक परिष्कृत हैं। ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ से मथुरा में बुद्ध मूर्तियों का निर्माण बड़े पैमाने पर होने लगा। बाद में मथुरा की बनी मूर्तियाँ तक्षशिला व मध्य-एशिया तथा श्रावस्ती व सारनाथ तक जाने लगीं। मथुरा में गान्धार प्रभाव तथा रोमन प्रभाव भी पहुँचे जैसा कि कुछ मूर्तियों से ज्ञात होता है। पर इस शैली का आधार प्रधानतः भारतीय ही था। मथुरा के बौद्ध कलाकार को यक्षों की प्राचीन मूर्तियों से प्रेरणा मिली।

मथुरा की सभी मूर्तियाँ सफेद चित्ती वाले लाल रवादार पत्थर की बनी हैं। यह पत्थर सीकरी और भरतपुर की खदानों से निकलता है। मथुरा-शैली की बुद्ध-मूर्तियों में गान्धार शैली की भाँति वास्तविकता नहीं मिलती। यहाँ की कला में भावमय आध्यात्मिक व्यंजना मिलती है। बुद्ध और बोधिसत्त्वों की अधिकांश खड़ी मूर्तियाँ हैं। मथुरा-शैली में शिल्पकारी के भी उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं।

जैन-मूर्तिकला का प्रारम्भ भी मथुरा कला से ही माना जाता है। जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ भी मथुरा में बनती थीं।

मथुरा-शैली से ही बाद में गुप्त-काल की मूर्तिकला की शैली का विकास हुआ जिसमें अत्यधिक परिष्कार और अलौकिक कलात्मक सौंदर्य मिलता है।

गान्धार और मथुरा के अतिरिक्त दक्षिण में अमरावती (मद्रास के गंटूर जिले में), नागार्जुनीकोण्डा आदि स्थान १५० ई० पूर्व से लगभग ४०० ई० तक बौद्ध-कला के केन्द्र बने रहे। दक्षिण की इस भारतीय कला को ही कुछ विद्वान भरहुत, बोधगया और साँची की प्रारम्भिक कला तथा गुप्त और पल्लव काल की उत्तरकालीन भातीय कला के बीच की कड़ी मानते हैं।

गुप्त-काल में हमें बौद्ध-मूर्तिकला का चरम उत्कर्ष दृष्टिगोचर होता है। इस काल में सारनाथ बौद्ध-मूर्तिकला का प्रसिद्ध केन्द्र था। यहाँ की बुद्ध-मूर्तियों में अलौकिक सौम्य, करुणा, ध्यान, तथा चरम आनन्द की अपूर्व अभिव्यक्ति मिलती है। धर्मचक्र-प्रवर्तन की मुद्रा में सारनाथ की बुद्ध की मूर्ति इसका उदाहरण है। इस काल में हिन्दू देवताओं की भी अनेक उत्कृष्ट प्रतिमायें निर्मित की गईं। सारनाथ-शैली का प्रभाव भारत के बाहर स्याम, कम्बोडिया और जावा की कला पर पड़ा।

पाल-वंशी नरेशों के शासन-काल में आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक बंगाल और बिहार में एक नई कला-शैली का विकास हुआ। इस शैली की मूर्तियाँ अधिकांशतः स्थानीय काले पत्थर में मिलती हैं। इनमें उत्कृष्ट गढ़न, विस्तृत अलंकरण तथा सुन्दर पालिश मिलते हैं।

(स) बौद्ध चित्रकला

अजन्ता—भारत में चित्रकला का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। चित्रकला प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रधान अङ्ग थी। प्राचीन भारत की चित्रकला के विश्व-विख्यात एवं सर्वोत्कृष्ट नमूने आधुनिक बम्बई राज्य की अजन्ता की गुफाओं में मिलते हैं। इस चित्रकला का सम्बन्ध बौद्ध-धर्म से है। अजन्ता के भित्ति-चित्रों की प्रशंसा समस्त विश्व ने की है। ये भित्ति-चित्र ईसवी सन् के कुछ पहले से लेकर छठीं और सातवीं शताब्दी तक बनते रहे। गुफा संख्या १० के भित्ति-चित्र प्रथम शताब्दी के कुछ पूर्व के हैं। गुफा संख्या १ और १६ के चित्र छः सौ वर्ष बाद बने। इन भित्ति-चित्रों में अधिकतर बुद्ध के पूर्व जन्मों की घटनाओं का चित्रण है, जिनके वर्णन जातक-ग्रन्थों में मिलते हैं। अजन्ता के भित्ति-चित्रों में हमें सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय जीवन की एक झाँकी मिलती है। यहाँ हम सम्राटों, उनके महलों, अन्तःपुर की स्त्रियों, किसानों, तपस्वियों, भिखारियों, आदि का चित्रण पाते हैं; जानवरों, चिड़ियों, पेड़-पौधों और फूलों के उत्कृष्ट चित्रण में भी कलाकार की सिद्धहस्तता दिखाई देती है। यहाँ हम ध्यान-मग्न बुद्ध से लेकर शृंगार में रत नारियों तक सभी मानव-व्यापार का अङ्कन पाते हैं। मैत्री, करुणा, प्रेम, क्रोध, लज्जा, हर्ष आदि भावों की अभिव्यक्ति भी सफलता पूर्वक की गई है। अङ्ग-विन्यास और अलंकरण का भी उत्कृष्ट चित्रण मिलता है।

प्रधान रूप से अजन्ता के भित्ति-चित्रों के तीन विषय हैं—(१) बुद्ध और बोधिसत्वों के चित्र, (२) जातक-ग्रन्थों के वर्णनात्मक दृश्य, और (३) पृष्ठभूमि तथा अलंकरण के लिये चित्रित आकृतियाँ, जैसे वृक्ष, लतायें, पुष्प, पशु-पक्षी, छोटे देवी-देवता, अप्सरा, गन्धर्व, यक्ष इत्यादि। इन चित्रों में हमें कोमल कल्पना, रंगों का कुशल-प्रयोग, अभिव्यक्ति का लालित्य और सम्पन्नता तथा अभिप्राय की सजीवता मिलती है।

अजन्ता के भित्ति-चित्रों में एक प्रसिद्ध चित्र बोधिसत्व अवलोकितेश्वर पद्म-पाणि का है जो गुप्तकाल का है। उनका सुन्दर शरीर त्रिभङ्ग की मुद्रा में झुका हुआ है। सिर पर रत्नजटित मुकुट है तथा दाहिने हाथ में एक श्वेत कमल है। उनकी नीचे देखती आँखों में मानवता के प्रति अपार करुणा परिलक्षित होती है। उनके चारों ओर अप्सराओं और दैवी आकृतियों का चित्रण है। यहाँ हम एक धार्मिक और आध्यात्मिक भावना की सजीव अभिव्यक्ति पाते हैं।

एक दूसरे चित्र में हम अलौकिक आभा से युक्त बुद्ध को भिक्षा-पात्र लिये पाते हैं। वे एक स्त्री और बच्चे से भिक्षा माँग रहे हैं जो सम्भवतः यशोधरा और राहुल हैं। १६ वीं गुफा में हम 'म्रियमाण राजकन्या' का दृश्य पाते हैं। इसमें विकलता और करुणा के भावों की अभिव्यक्ति में कमाल का कौशल मिलता है।

अजन्ता से लगभग १०० मील उत्तर बाघ की गुफाओं में भी बौद्ध-चित्रकला के सुन्दर नमूने मिलते हैं। बौद्ध-चित्रकला भारत के बाहर तुर्किस्तान आदि देशों में भी मिलती है।

हिन्दू मन्दिरों की वास्तुकला

मन्दिर भारतीय वास्तुकला की विभूति हैं। इनमें हम भारतीय वास्तुकला का उत्कृष्ट विकास पाते हैं। देवताओं की उपासना के लिये बनाई गई मूर्तियों को पवित्र भवनों में स्थापित करते थे। यही भवन मन्दिर कहलाते हैं। इनका विकास विभिन्न रूपों में हुआ। भारत के अधिकांश मतों और धर्मावलम्बियों ने मन्दिर-निर्माण की प्रथा को अपनाया। संख्या और वास्तुकला की दृष्टि से हिन्दू मन्दिरों का अत्यधिक महत्त्व है।

प्रारम्भिक मन्दिर—गुप्त-काल के पहले के हिन्दू मन्दिरों के अवशेष नहीं मिलते। संभवतः लकड़ी, मिट्टी और ईंटों के बने इसके पूर्व के सभी मन्दिर ध्वस्त हो चुके हैं। गुप्त-काल से आगे के अनेक हिन्दू मन्दिर देश में स्थान-स्थान पर मिलते हैं। गुप्त-काल के सभी मन्दिर छोटे मिलते हैं जिनमें से अधिकांश की छतें सीधी पटी हुई हैं। साँची का गुप्तकालीन मन्दिर (चौथी शताब्दी) इसी प्रकार का है। उसमें वर्गाकार गर्भगृह के सामने एक मण्डप है जिसमें चार मोटे और चौकोर स्तम्भ लगे हैं। इन पर पच्चीकारी मिलती है। सबसे सुन्दर गुप्तकालीन मन्दिर झाँसी के पास देवगढ़ में है।

इसका काल छठी शताब्दी माना जाता है। इसमें एक छोटा शिखर भी है। गुप्त-काल में ब्राह्मण धर्म का उत्कर्ष हुआ था अतः उस काल में अनेक मन्दिर बनवाये गये होंगे। पर उनमें से बहुत कम अवशिष्ट हैं। ईसा की छठीं शताब्दी के पश्चात् के बहुत से मन्दिर अभी तक विद्यमान हैं।

मन्दिर की आधारभूत योजना—मोटे तौर पर सभी हिन्दू मन्दिरों की आधारभूत योजना छठी शताब्दी से लेकर आज तक एक सी ही रही है। मन्दिर का केन्द्रीय भाग एक छोटा कमरा होता है जिसमें प्रधान मूर्ति प्रतिष्ठित की जाती है। इस कमरे को गर्भगृह कहते हैं। गर्भगृह सामने एक बड़े कमरे की ओर खुलता है जिसे मण्डप कहते हैं। किसी-किसी मन्दिर में विशाल सभा-मण्डप मिलता है। मण्डप उपासकों के लिये होता है। पर इसका निर्माण अनिवार्य नहीं है। यह गर्भगृह से अन्तराल द्वारा प्रायः जुड़ा रहता है। अन्तराल दालान की भाँति होता है। कभी-कभी गर्भगृह के चारों ओर एक सकरा प्रदक्षिणापथ रहता है। मण्डप में जाने के लिये द्वार के साथ ही एक अर्द्धमण्डप होता है। गर्भगृह के ऊपर प्रायः एक शिखर होता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी मन्दिर के ऊपर इधर-उधर अन्य छोटे शिखर भी होते हैं।

बहुधा मन्दिर की योजना मुख्य मन्दिर के अतिरिक्त आँगन और सहनयुक्त होती है। कभी-कभी अन्य छोटे कमरे भी मन्दिर के साथ होते हैं। किसी-किसी मन्दिर में सामने एक बरामदा भी रहता है। ११ वीं शताब्दी से दक्षिण के मन्दिरों में एक विशाल फाटक भी लगाया जाने लगा जिसे गोपुर कहते हैं। इस प्रकार गोपुर, प्राङ्गण तथा सभामण्डप से युक्त दक्षिण के मन्दिर एक नगर के लघु रूप लगते हैं।

मन्दिरों के भेद—बाह्य रूप के आधार पर विद्वानों ने हिन्दू मन्दिरों के भेद बताये हैं। फ़र्गुसन ने इनके भेद आर्यावर्त, चालुक्य और द्रविड नाम से किये हैं। कुमारस्वामी उत्तरीय (विन्ध्य पर्वत के उत्तर), माध्यमिक (पश्चिमी भारत, दक्षिणी पठार और मैसूर) और दक्षिणी (मद्रास और उत्तरी लंका), ये तीन भेद करते हैं। साधारण रूप से मन्दिरों के दो भेद किये जा सकते हैं—उत्तर भारतीय और द्रविड। इनका प्रधान अन्तर शिखर-विषयक है। उत्तर के शिखर-मन्दिर को 'नागर' नाम दिया गया है। नागर-शिखर-मन्दिर में आयताकार गर्भगृह के ऊपर ऊँचा मीनार सा होता है जो गोल, चौकोर अथवा अन्य किसी आकार का बनाया जाता है और त्रिकोण की भाँति ऊपर पतला होता जाता है। कभी-कभी ऊपर निकले शिखर में पसलियों के समान ऊपर उठी हुई रेखायें रहती हैं। इसके ऊपर आमलक होता है जिसके ऊपर कलश तथा ध्वज-दण्ड की स्थापना की जाती है। दक्षिण के शिखर-मन्दिर को 'द्रविड' नाम दिया गया है। इस प्रकार के मन्दिर में वर्गाकार तथा अलंकृत गर्भगृह के ऊपर कई मंजिलों में बँटा शिखर रहता है। कभी-कभी गर्भगृह का ऊपरी भाग

या विमान कई मंजिलों में बँटा हुआ तथा प्रत्येक उपरली मंजिल में निचली से छोटा होते-होते पिरामिड के आकार का बनकर स्वयं शिखर में परिवर्तित हो जाता है। शिखर के ऊपर वर्तुलाकार अथवा अष्टभुजाकार कलश रहता है। दक्षिण के मन्दिरों में मण्डप और गोपुर भी होते हैं। शिखर, विमान और गोपुर को मूर्तियों से अलंकृत किया जाता था।

प्राचीन भारत में वास्तु-निर्माण-शास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये जिनमें से सबसे प्रसिद्ध मानसार नामक ग्रंथ है।

मन्दिर-निर्माण की विभिन्न शैलियाँ—छठीं शताब्दी से मन्दिर-निर्माण की कई शैलियाँ प्रचलित हुईं। दक्षिण की सबसे प्राचीन शैली का विकास छठी से आठवीं शताब्दी के बीच पल्लव-नरेशों के संरक्षण में हुआ। इस शैली के मन्दिर मामल्ल-पुरम् और काँची में मिलते हैं। काँची के कैलाशनाथ मन्दिर का शिखर पिरामिड के आकार का है।

११ वीं और १२ वीं शताब्दी में दक्षिण में चोलों के शासन-काल में चोल शैली का विकास हुआ जो पल्लव-शैली से प्रभावित थी।

सम्राट राजराज (९८५-१०१४ ई०) का तंजौर का शिव-मन्दिर तथा राजेन्द्र प्रथम का गंगइकोण्डचोलपुरम् का मन्दिर, इस शैली के दो उत्कृष्ट नमूने हैं। राजेन्द्र प्रथम के मन्दिर का शिखर पिरामिड के आकार का २०० फुट ऊँचा है। इन दोनों मन्दिरों में प्रचुर अलंकरण मिलता है।

चोल-शैली के बाद सुदूर दक्षिण में पाण्ड्य-शैली का विकास दृष्टिगोचर होता है। इस शैली के मन्दिरों में गोपुर मिलता है जिस के ऊपर भी पिरामिड के आकार का एक शिखर रहता है। पाण्ड्य-शैली में अलंकरण की वृद्धि हुई। इस शैली के मन्दिर मदुरा, श्रीरङ्गम तथा अन्य स्थानों पर हैं।

मन्दिरों की उपर्युक्त शैलियाँ सुदूर दक्षिण के तामिल प्रदेश में विकसित हुईं। इनके अतिरिक्त दक्षिण में चालुक्य, राष्ट्रकूट और होयसल राजवंशों के संरक्षण में अन्य शैलियों का भी विकास हुआ। चालुक्य शैली के मन्दिर बदामी (कर्नाटक), तंजौर आदि स्थानों पर मिलते हैं। इनके भी ऊपरी सिरे पिरामिड के आकार के हैं। होयसल-मन्दिर द्वारसमुद्र और वेल्लूर में हैं। बाद के (११ वीं १४ वीं शताब्दियों के) चालुक्य और होयसल मन्दिरों में अलंकरण विस्तृत और जटिल हो गये। १६ वीं शताब्दी में दक्षिण में विजयनगर शैली का उत्कर्ष हुआ। इसमें पाण्ड्य और होयसल शैलियों का सम्मिश्रण दिखाई देता है। हम्पी नामक स्थान का विट्ठल मन्दिर इस शैली का सर्वप्रसिद्ध नमूना है।

मध्यकाल में उत्तरी भारत में तीन प्रमुख शैलियाँ मिलती हैं। इनका विकास उड़ीसा, बुन्देलखण्ड तथा गुजरात और दक्षिणी राजस्थान में हुआ।

उड़ीसा-शैली के मन्दिर १० वीं से १३वीं शताब्दी के हैं। यहाँ का सबसे प्रसिद्ध मन्दिर भुवनेश्वर का लिंगराज मन्दिर है। इसका शिखर मीनार की भाँति लगता है। इसके अतिरिक्त पुरी का जगन्नाथ का मन्दिर तथा कोणार्क का सूर्य मन्दिर भी इस शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

१० वीं और ११ वीं शताब्दी में चन्देल सम्राटों के संरक्षण में बुन्देलखण्ड में एक नई शैली के मन्दिरों का निर्माण हुआ। इस शैली के मन्दिर खजुराहो में हैं जो झाँसी से १०० मील दूर हैं। इनमें प्रचुर शिल्पकारी मिलती है।

गुजरात और राजस्थान में ११ वीं से १३ वीं शताब्दी तक अनेक मन्दिरों का निर्माण चालुक्य अथवा सोलङ्की नरेशों के शासन-काल में हुआ। इस शैली के प्रसिद्ध जैन मन्दिर आबू पहाड़ पर स्थित देलवाड़ा के मन्दिर-समूह हैं। इनमें से दो संगमर्मर के बने हुये हैं। ये विमलशाह और वस्तुपाल एवं तेजपाल के मन्दिर हैं जो क्रमशः सन् १०३२ और १२३२ में बने थे। इनमें विलक्षण बेल-बूटे और नक्काशियाँ हैं।

८ वीं शताब्दी से १३ वीं शताब्दी के बीच कश्मीर में भी अनेक मन्दिर बने। इनमें दोहरी छतें मिलती हैं। कश्मीर का मार्तण्ड-मन्दिर विशेष महत्त्वपूर्ण है।

मुगलकालीन कला

भारतीय इतिहास में मुगलकाल कला और वैभव की दृष्टि से अपूर्व उन्नति का काल माना जाता है। मुगल सम्राट कला-प्रेमी थे; उन्होंने ईरानी और हिन्दू कला के तत्त्वों के समन्वय और सम्मिश्रण द्वारा एक नवीन शैली का निर्माण किया। इस युग में सभी ललित कलाओं में प्रचुर प्रगति हुई पर वास्तुकला और चित्रकला के क्षेत्र में विशेष उन्नति हुई।

मुगल-वास्तुकला—मुगलों से पहले तुर्क-अफगान-काल में भी मस्जिदें, मकबरे, मदरसे तथा दुर्ग बनवाये गये। इस काल की इमारतें प्रधानतः हिन्दू कारीगरों द्वारा मुस्लिम नरेशों के आदेश से बनाई गईं। अतः उनमें कुछ भारतीय तत्त्वों का समावेश स्वाभाविक ही था। कभी-कभी तो मन्दिरों को ही थोड़ा रूपान्तरित कर मस्जिद बना दिया जाता था। इस काल की वास्तुकला में मुस्लिम कला की विशेषताएँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होती हैं। विशाल भवन, गोल गुम्बद, मेहराब, ऊँची मीनारें, खुले आँगन तथा सादगी, यही इस कला की प्रधान विशेषताएँ हैं। इस काल में दिल्ली, जौनपुर, गुजरात, बंगाल तथा दक्षिण में वास्तुकला का विकास हुआ।

इसके पश्चात् मुगलों के शासन-काल में वास्तुकला की प्रभूत उन्नति हुई। औरङ्गजेब (१६५८-१७०७) को छोड़कर सभी प्रारम्भिक मुगल सम्राट महान् निर्माता थे। मुगल-वास्तुकला का वास्तविक विकास सम्राट अकबर के काल (१५५६-१६०५ ई०) से ही प्रारम्भ होता है। उसने विभिन्न स्थानों के कारीगरों का उपयोग कर एक

नवीन शैली को जन्म दिया जिसमें प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ हैवेल के अनुसार देशी और विदेशी तत्त्वों का सम्मिश्रण है। उसने अनेक दुर्ग, राजप्रासाद, भवन, मस्जिदें, मकबरे आदि बनवाये।

अकबर के शासन-काल की प्रथम प्रमुख इमारत हुमायूँ का मकबरा है। इसका निर्माण सन् १५६५ में हुआ तथा इसमें १५ लाख रुपये व्यय हुये। यह सादगीपूर्ण परन्तु आकर्षक इमारत एक उद्यान के मध्य में है और इसमें एक सफेद संगमरमर का गुम्बद भी है। उद्यान के बीच इमारतों का निर्माण फारस की प्रथा का अनुकरण लगता है।

दूसरी प्रसिद्ध इमारत अकबर का मकबरा है जो आगरे के पास सिकन्दरा में है। इसका निर्माण अकबर के शासन काल में ही प्रारम्भ हुआ पर यह १६१३ ई० में जहाँगीर के समय में पूर्ण हुआ। इसके बनने में १५ लाख रुपये लगे। इसके भी चारों ओर एक उद्यान है। इसकी निर्माणशैली में देशी और विदेशी तत्त्वों का सामञ्जस्य स्पष्ट है। इसमें मुस्लिम कला के तत्त्वों—महराब और सादगी—के साथ ही साथ हिन्दू मन्दिर या बौद्ध विहार की निर्माण-शैली का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। इसका ऊपरी भाग संगमरमर का है।

अकबर के शासन-काल की सर्वोत्कृष्ट इमारतें फ़तेहपुर सीकरी में हैं। सीकरी के भवनों में बीरबल का महल, मरयम-ज़मानी का सुनहला महल तथा तुर्की सुल्तान का महल प्रसिद्ध हैं। इनमें उच्चकोटि की सजावट भी मिलती है जो हिन्दू वास्तुकला का प्रभाव है। सीकरी की जामा मस्जिद भारत की सबसे बड़ी मस्जिद मानी जाती है। इसका प्रवेश-द्वारा बुलन्द-दरवाजा कहलाता है। यह नीचे से १७६ फुट ऊँचा दिखाई देता है। जामा मस्जिद के भीतर शेख सलीम चिश्ती की दरगाह भी है। पर यह संभवतः बाद में बनी है। यह पूरी मस्जिद श्वेत पत्थरों की है।

अकबर ने आगरा, इलाहाबाद, अजमेर और लाहौर में लाल पत्थर के सुदृढ़ दुर्गों का भी निर्माण कराया। इनके अन्दर राजमहल, साधारण वासस्थान, कार्यालय इत्यादि थे।

अकबर के कालमें हिन्दू और मुस्लिम शैलियों का समन्वय हुआ तथा प्रवेश द्वारों, गुम्बदों और मेहराबों की निर्माण-पद्धति में विकास हुआ।

एतमानुद्दौला का मकबरा तथा खुसरोबाग अकबर के पुत्र तथा उत्तराधिकारी जहाँगीर के काल (१६०५--१६२७) की प्रसिद्ध इमारतें हैं। एतमानुद्दौला के मकबरे में पहले-पहल संगमरमर पर पच्चीकारी का काम मिलता है।

शाहजहाँ के काल (१६२८-१६५८) में मुगल वास्तुकला का जिसे मध्य-युगीन भारतीय वास्तुकला कह सकते हैं, चरम उत्कर्ष दिखाई देता है। उसकी प्रसिद्ध इमारतें दिल्ली और आगरे में हैं। आगरे का ताजमहल उसके समय की सबसे

सुन्दर कला-कृति है। मोती मस्जिद, जामा मस्जिद, दीवान आम तथा दीवान खास और समन बुर्ज उसके समय की अन्य प्रमुख इमारतें हैं; दिल्ली में भी उसने ऐसी ही इमारतों का निर्माण कराया। १६३८ ई० में उसने दिल्ली में एक सुदृढ़ दुर्ग बनवाया जो आज भी लाल किले के नाम से प्रसिद्ध है। उसके भीतर शाहजहाँनाबाद नाम के एक नगर का भी निर्माण कराया। इस किले के अन्दर दीवान आम और दीवान खास में उत्कृष्ट पच्चीकारी का काम मिलता है। दीवान खास अत्यधिक अलंकरण-युक्त है। इसमें रत्नजटित मयूर वाला सिंहासन था जिसपर सम्राट् बैठता था। उसकी दीवार पर अंकित निम्नलिखित पंक्तियाँ उसकी भव्यता एवं ऐश्वर्य की सत्यता को प्रमाणित करती हैं :—

अगर फिरदौस बर रूए ज़मीं अस्त।
हमीं अस्तो हमीं अस्तो हमीं अस्त॥

(यदि पृथ्वी पर कहीं आनन्द का स्वर्ग है तो यही है, यही है, यही है।)

दिल्ली की जामा मस्जिद भी उस काल की एक प्रमुख मस्जिद है।

विश्व-विख्यात ताजमहल शाहजहाँ की बीबी मुमताज़ बेगम का समाधि-भवन है; यह आगरे में यमुना नदी के तट पर स्थित है। इतिहासकारों तथा कलाविदों ने ताजमहल की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। कुछ लोग इसे संगमरमर में रचित एक काव्य कहते हैं। यह १८ फुट ऊँचे और ३१३ फुट के वर्गाकार चबूतरे के ऊपर संगमरमर का बना हुआ है। इसके चारों कोनों पर पतले मीनार हैं जो १३३ फुट ऊँचे हैं। चबूतरे के मध्य में समाधि है। ताजमहल के अन्दर का भवन रंग-बिरंगे बहुमूल्य पत्थरों से जड़ा हुआ है। उसके गुम्बद, मीनार तथा मेहराब, उसकी पच्चीकारी तथा लिखावट, उसके पत्थरों का संकलन, उसके उद्यान तथा पास की अन्य छोटी इमारतें, सभी में उत्कृष्ट निर्माण-कला और कलात्मक संयोजन की झलक मिलती है। यह २२ वर्ष में ९ करोड़ रुपये की लागत से बनकर तैयार हुआ। इसका निर्माण अपने युग के कुशल शिल्पियों द्वारा हुआ। शाहजहाँ की अभिलाषा थी कि यह संसार की अद्वितीय समाधि बन जाय।

शाहजहाँ की इमारतों में कलापूर्ण अलंकरण की प्रधानता है। दीवारों पर रत्नों की जड़ाई और चित्रकारी भी प्रचुर रूप से मिलती है। शाहजहाँ के पश्चात् मुगल-वास्तुकला का पतन प्रारम्भ हो गया।

मुगल चित्रकला—मुगल सम्राटों के काल में चित्रकला को भी प्रचुर प्रोत्साहन मिला और फलस्वरूप, उसकी भी विशेष उन्नति हुई। हुमायूँ ने ईरान से मीर सैयद अली तबरिजी और ख्वाजा अब्दुस्समद शीराजी नामक दो निपुण चित्रकारों को बुलाया था। सम्राट् अकबर ने इन दो चित्रकारों से चित्रकला की शिक्षा प्राप्त की। अकबर

ने अपने दरबार में अनेक प्रसिद्ध देशी और विदेशी चित्रकारों को एकत्र किया। अबुलफज्ल के कथनानुसार उसके दरबार में १०० उच्चकोटि के चित्रकार थे।

मीर सैयद अली, अब्दुस्समद, फर्रुखबेग और जमशेद, प्रसिद्ध ईरानी या विदेशी चित्रकार थे। हिन्दू चित्रकारों में दसवन्त, बसावन, साँवलदास, ताराचन्द, मुकुन्द, हरीवंश और जगन्नाथ प्रमुख थे। ये कलाकार मनुष्यों के चित्र बनाने, पुस्तकों को चित्रित करने तथा पशुओं आदि के चित्र बनाने में सिद्धहस्त थे। हिन्दू चित्रकार बसावन पृष्ठभूमि के चित्रण तथा भाव-व्यञ्जना में विशेष निपुण था। अधिकांश चित्र 'चंगेजनामा', 'जफरनामा', 'रामायण' आदि ग्रन्थों को चित्रित करने के लिये ही बनाये गये। पर दरबार के विशेष व्यक्तियों तथा घटनाओं के चित्र भी उपस्थित किये गये। इस काल में फतेहपुर सीकरी में भित्ति-चित्र भी बनाये गये।

अकबर के समय में हिन्दू तथा चीनी-ईरानी चित्रकला के तत्त्वों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। प्रारम्भ में ईरानी प्रभाव अधिक था पर बाद में वह धीरे-धीरे कम होता गया और भारतीय तत्त्वों की प्रधानता हो गई। अकबर ने चित्रशालाओं का भी प्रबन्ध किया और कलाकारों को उचित पुरस्कार दिया।

जहाँगीर के समय तक मुगल चित्रकला का पूर्ण विकास हो चुका था। अबुल-हसन, मंसूर, मुहम्मद नादिर, विशनदास, गोवर्द्धन तथा मनोहर जहाँगीर के दरबार के प्रसिद्ध चित्रकार थे। जहाँगीर के चित्रकारों की कृतियाँ अकबर के काल के चित्रों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं। उस समय की कला-कृतियों से ज्ञात होता है कि मनुष्यों के चित्रण में विशनदास अत्यन्त निपुण था और फूल-पत्तियों एवं पशु-पक्षियों के चित्र बनाने में मंसूर और मनोहर विशेष कुशल थे।

जहाँगीर के काल में मुगल चित्रकला अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। धार्मिक चित्रों में इस्लाम-धर्म-सम्बन्धी चित्रों का अभाव है क्योंकि यह धर्म चित्र-कला का विरोधी है। अतः रामायण, महाभारत आदि हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों को चित्रित किया गया तथा सन्तों और महात्माओं के भी चित्र बनाये गये। इस चित्रकला की एक सबसे बड़ी विशेषता स्वाभाविकता है। मनुष्यों, पशुओं, वृक्षों, लता-पुष्पों, पक्षियों आदि के सभी चित्र वास्तविक हैं। पक्षियों में मयूर और बाज के उत्कृष्ट चित्र मिलते हैं। शिकार अथवा युद्ध में व्यस्त हाथी, चीते, शेर और घोड़ों के भी चित्र सराहनीय हैं। दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें रंगों का समन्वय बड़ी सुरुचि के साथ किया गया है। सुनहले, लाल, नीले, हरे, रुपहले आदि रंगों के उपयुक्त प्रयोग के कारण चित्रों में बड़ी सजीवता दिखाई देती है। इस चित्रकला में नवीनता और स्वस्थ-ता भी मिलती है। किन्तु इसमें जन-साधारण के चित्र तथा अंग-प्रत्यंगों की गठन प्रदर्शित करते हुये वस्त्र-मुक्त मानव-शरीर के चित्रण नहीं मिलते। गतिशीलता के चित्रण में भी अधिक सफलता नहीं दिखाई देती। इन चित्रों से हमें दरबारी जीवन

का ही ज्ञान हो सकता है, देश के जीवन की झाँकी इनमें नहीं मिलती। जहाँगीर के पश्चात् मुगल चित्र-कला की आन्तरिक शक्ति क्षीण हो गई और उसका पतन प्रारम्भ हो गया। शाहजहाँ की रुचि भवन-निर्माण-कला की ओर ही अधिक थी अतः उसके शासन-काल में चित्रकारों को अधिक प्रोत्साहन नहीं मिला। पर इस काल में भी चित्र-कला की परम्परा विद्यमान रही। शाहजहाँ के काल के चित्रों में अधिक चटक रंगों का प्रयोग मिलता है, इनमें सजीवता तथा स्वाभाविकता नहीं मिलती। औरङ्गजेब ने कलाकारों को राज्याश्रय देना इस्लाम के नियमों के विरुद्ध मानकर उन्हें निकाल दिया। फल-स्वरूप, उसके शासन-काल में मुगल-चित्रकला का वैभव विनष्ट हो गया। बाद में कुछ चित्रकार बंगाल, मैसूर, हैदराबाद, अवध आदि प्रान्तों की राजधानियों में चले गये। पर उनकी कृतियाँ महत्त्वपूर्ण नहीं रहीं।

राजपूत-चित्रकला—मुगल-चित्रकला के उत्कर्ष के काल में भी हिन्दुओं की प्राचीन चित्रकला-शैली विद्यमान थी। ईरानी और मुगल शैलियों के सम्पर्क के कारण इसकी पुनर्जाग्रति हुई। राजस्थान और मध्य-भारत के हिन्दू नरेशों द्वारा प्राचीन हिन्दू चित्रकला की परम्परा के अन्तर्गत इस शैली का विकास हुआ। इसके पीछे भक्ति आन्दोलन की नवीन हिन्दू धर्म की प्रेरणा भी विद्यमान थी। इस शैली की उत्पत्ति सन् १५५० के लगभग हुई और दो सौ वर्षों तक यह फूलती-फलती रही। राजस्थान में जयपुर इसका प्रधान केन्द्र था और इसीलिये इसे राजस्थानी शैली भी कहते हैं। राधा और कृष्ण इसके प्रधान विषय हैं। राजस्थानी चित्रकार ने कृष्ण लीला, शृंगार, नायिका-भेद, नल-दमयन्ती, बारहमासा, हम्मीर-हठ तथा रामायण और महाभारत के दृश्यों का उत्कृष्ट चित्रण किया है। इसमें लोकजीवन तथा नारी के आदर्श सौंदर्य का सफल चित्रण मिलता है।

१८ वीं और १९ वीं शताब्दी में काँगड़ा दून की रियासतों में पहाड़ी शैली की चित्रकला का विकास हुआ। यह भी प्राचीन-भारतीय चित्र-कला की परामपरा के अन्तर्गत है। भाव-प्रधानता इस शैली की विशेषता है।

वर्तमान प्रवृत्तियाँ

वर्तमान काल में पाश्चात्य-कला के प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव के कारण भारतीय कला के क्षेत्र में नवीन प्रवृत्तियों तथा धाराओं का जन्म हुआ।

जब योरोपियन लोग इस देश में आये तब पाश्चात्य ढंग की **वास्तुकला** का प्रचार हुआ। अंग्रेजों ने बम्बई, मद्रास और कलकत्ता में भवन बनवाये। इनमें गॉथिक (Gothic), रोमन और इंगलैंड के विक्टोरियन युग की वास्तु-कला का सम्मिश्रण था। भारतीय नरेशों ने भी इन भवनों का अनुकरण किया। ब्रिटिश शासन में निर्माण-विभाग (Public Works Department) की स्थापना हुई, इससे

पाश्चात्य ढंग की भवन-निर्माण-कला को प्रोत्साहन मिला। बीसवीं शताब्दी में वास्तु-कला की दो धारायें थीं। प्रथम के अंतर्गत पाश्चात्य शैली के आधार पर भवनों का निर्माण हुआ। लार्ड कर्ज़न के समय का विक्टोरिया मेमोरियल हाल तथा अन्य इमारतें पाश्चात्य शैली के आधार पर ही बनीं। दूसरी धारा के लोग हिन्दू तथा मुस्लिम ढंगों की इमारतें बनाने के पक्ष में थे। अनेक नरेशों, नवाबों तथा सामन्तों ने भारतीय ढंग की इमारतें बनवाईं जिनमें कला का लालित्य तथा सम्पन्नता है। उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, मैसूर आदि स्थानों में आधुनिक काल में भारतीय शैली के कलापूर्ण भवन बने। इसके अतिरिक्त बनारस, हरिद्वार और मथुरा के मन्दिर, दिल्ली का बिड़ला मन्दिर तथा बहुत से जैन मन्दिर भी बने जो भारतीय कला के उत्कृष्ट नमूने माने जाते हैं।

बीसवीं शताब्दी में पुनरुत्थान के आन्दोलन के साथ ही चित्रकला के क्षेत्र में भी पुनरुज्जीवन की ज्योति जगी। अंग्रेजों द्वारा स्थापित कलकत्ता की कला-शाला (School of Arts) के प्रिंसिपल हैवेल और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने अजन्ता और मध्ययुगीन चित्रों से प्रेरणा ग्रहण कर इस क्षेत्र में एक आन्दोलन का सूत्रपात किया। सन् १९०३-४ में अवनीन्द्रनाथ ने एक नवीन कला-शैली को जन्म दिया जिसमें भारतीय तथा पाश्चात्य चित्रकला की शैलियों का सुन्दर समन्वय किया। इसका नाम बंगाल-शैली पड़ा। इसमें मौलिकता मिलती है; सुकुमारता तथा सौन्दर्य का भी सुन्दर सामञ्जस्य है। बंगाल-शैली के एक अन्य प्रमुख कलाकार नन्दलाल बोस हैं। इनके चित्रों में अजन्ता की चित्रकला पुनरुज्जीवित हो उठी। सुरेन्द्र गँगोली, असित हालदर, के० एम० मजूमदार तथा जैमिनीराय इस शैली के अन्य प्रमुख कलाकार हैं। इन्होंने बंगाल शैली का अधिक विस्तार किया।

बंगाल में चित्रकला के क्षेत्र में जो आन्दोलन हुआ उसका प्रभाव गुजरात में भी हुआ। अहमदाबाद में रविशंकर रावल की अध्यक्षता में एक कला-केन्द्र स्थापित हुआ जिसने कणु देसाई जैसे प्रतिभाशाली कलाकार को उत्पन्न किया। कणु देसाई की शैली नें 'प्रिण्ट' और 'फिल्म' की रुचि पर प्रभाव डाला।

पाश्चात्य स्वाभाविक शैली (Academic or Naturalistic Style) की परम्परा में भी अनेक भारतीय चित्रकार उत्पन्न हुये। इनमें बम्बई के हल्डनकर तथा कलकत्ता के जे० पी० गंगोली प्रमुख हैं। द्वितीय महायुद्ध के पहले स्वाभाविक शैली के कलाकारों में शेरगिल का नाम बहुत प्रसिद्ध था।

आधुनिक काल में बम्बई चित्रकारों का प्रमुख केन्द्र है। इसके अतिरिक्त मद्रास, कलकत्ता, जयपुर, लखनऊ, इन्दौर आदि स्थानों में भी कलाशालायें हैं। आजकल के कलाकार यद्यपि योरप की आधुनिक प्रवृत्तियों से प्रभावित हैं फिर भी कुछ में भारतीय शैली की प्रधानता मिलती है। आधुनिक चित्रकार जीवन को विभिन्न

प्रकार से अभिव्यक्त करने तथा साधारण जीवन को चित्रित करने का प्रयास करते हैं।

संगीत भी ललित कला का एक प्रमुख अंग है। प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक काल में संगीत का अत्यधिक महत्त्व मिलता है। इसके सम्बन्ध में अगले अध्याय में विचार किया गया है।

पठनीय सामग्री

Coomarswamy, A. K., History of Indian and Indonesian Art.
V. A. Smith, History of Fine Art in India and Ceylon.
S. Kramrisch, (1) The Hindu Temple, (2) Indian Sculpture.
B. Rowland, The Art and Architecture of India.
Percy Brown, (1) Indian Painting, (2) Indian Architecture.
Havell, E. B., Indian Sculpture and Painting.
S. N. Dasgupta, Fundamentals of Indian Art.
Fergusson & Burgess, History of Indian and Eastern Architecture.
परमेश्वरीलाल गुप्त, भारतीय वास्तु-कला।
रायकृष्णदास, भारतीय मूर्तिकला।

अध्याय ७

भारतीय जीवन में नृत्य, नाट्य और संगीत

कला केवल पद्धति या प्रणाली के विकास का ही नाम नहीं है। कला के माध्यम से कुछ निश्चित आदर्शों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया जाता है। इनसे सभी कलात्मक कृतियों में भौतिक वाह्य स्वरूप के साथ ही उनका आन्तरिक महत्त्व भी होता है।

बहुत समय के प्रयोग और विकास के फलस्वरूप भारत के काव्य, नाटक, नृत्य और संगीत सभी क्षेत्रों में कुछ समान नियमों और विचारों का प्रतिपादन हुआ। इन सब में प्रमुख रस का सिद्धान्त है। रस की निष्पत्ति ही कला का सर्वोच्च लक्ष्य या ध्येय बतलाया जाता है।

रस कोई संवेदना, भावना या चित्तवृत्ति नहीं है। भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में कहा है कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है (विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगात-रसनिष्पत्तिः)। जितने भी स्थायीभाव हैं वे सभी वासना-रूप में हृदय में सदैव विद्यमान रहते हैं। विभाव, अनु-भाव और व्यभिचारी भाव के संयोग के कारण ये सुप्त स्थायीभाव अभिव्यक्त होते हैं और आनन्दमय रस का रूप प्राप्त करते हैं। रसों की यथार्थ संख्या के विषय में आचार्यों में मतैक्य नहीं है। भरत ने आठ रसों के नाम दिये हैं—श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्‌भुत। यही प्रधान रस हैं। इनके अतिरिक्त कुछ आचार्य शान्ति, वात्सल्य और मधुर को भी रसों की श्रेणी में लाते हैं।

संगीत

भारत में संगीत के अन्तर्गत गायन, वादन और नृत्य, इन तीनों का समावेश होता है। शास्त्रकारों ने संगीत शब्द की व्याख्या ही ऐसी की है—गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते। गायन, वादन और नृत्य ये संगीत की तीन शाखायें हैं। शास्त्रकारों ने इन कलाओं को परस्परावलम्बी बतलाया है (नृत्यं वाद्यानुयं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्ति च)। लेकिन संगीत के अन्तर्गत इन तीनों में से गान को ही प्रधानता दी जाती है। सम्यक् प्रकार से अर्थात् स्वर, ताल, शुद्ध उच्चारण, हाव-भाव और शुद्ध मुद्रा आदि के साथ जो गाया जाय उसी का नाम संगीत है (सम्यक् प्रकारेण यद् गीयते तत्संगीतम्)। इस परिभाषा से संगीत में गान की प्रधानता स्पष्ट हो जाती है।

संगीत का कार्य है ऐसी स्वर-रचना या विशिष्ट नाद-लहरी जिससे श्रोता का हृदय प्रभावित हो और संगीतकार उस तक अपने हृदय के भाव पहुँचा सके।

संगीत का गौरव बढ़ाने के लिये उसकी दैवी उत्पत्ति की कल्पना की गई है और उसे देवताओं से सम्बन्धित बतलाया गया है। दैवी उत्पत्ति के कई मतों में से किसी एक की प्राचीनता या प्रामाणिकता निर्धारित करना कठिन है। भारतीय परंपरा में विद्या और कला की देवी सरस्वती श्वेत पद्म पर आसीन एक हाथ में वीणा लिये और दूसरे से उसे बजाती हुई अंकित की जाती हैं। स्वर्ग और पृथ्वी पर एक रूप से विचरण करनेवाले नारद ऋषि की भी कल्पना सदैव वीणा पर गाते हुये ही की गई है। मानवों को संगीत की शिक्षा उन्होंने ही दी है। इन्द्र की सभा तो संगीत-विशारदों से सदैव पूर्ण मानी गई है। गन्धर्व गायक हैं, अप्सरायें नृत्य करनेवाली हैं और किन्नर लोग वाद्यक हैं। गन्धर्वों के ही नाम से संगीत-शास्त्र को गन्धर्व वेद का नाम दिया गया है।

वैदिक साहित्य में कई प्रकार के वाद्य यंत्रों के नाम आते हैं। अवनद्ध वाद्यों में दुंदुभि, आदम्बर, भूमि-दुंदुभि, वानस्पति, अघाती, तंत्र वाद्यों में कांड-वीणा, कर्करी वीणा, वारण्य वीणा और सुषिर वाद्यों में तूणव, नादि और बाकुर आदि का उल्लेख आता है। इन नामों से स्पष्ट हो जाता है कि संगीत-शास्त्र उन्नत दशा में था। यजुर्वेद में संगीत कई लोगों के जीविकोपार्जन का साधन मालूम होता है। उस युग के व्यवसायों में कई नाम संगीत से संबंधित थे।

छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में साम-गायन का उल्लेख है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों का अभिप्राय सामगान के पाठ में स्वराघात से है जो गीतात्मक होता था। सामवेद को गाकर प्रस्तुत करने के नियम जटिल हैं। इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि संगीत-शास्त्र अपनी प्रारम्भिक और अविकसित दशा में नहीं था।

संगीत-शास्त्र के सिद्धान्तों और नियमों का सर्वप्रथम उल्लेख ऋक् प्रातिशाख्य में मिलता है। इसमें तीन स्थानों और सप्त स्वरों आदि का उल्लेख है।

महाजनक जातक में चार परम-महा-शब्दों का उल्लेख है जो राजा के द्वारा विशिष्ट व्यक्तियों को दिये जाते थे।

रामायण की कथा को लव और कुश ने गाकर ही सुनाया था। रामायण में संगीत संबंधी उपमायें भी प्रयुक्त हुई हैं। भौंरों की गूँज की तुलना तार-युक्त वाद्यों के संगीत से और बादलों की गरज की तुलना मृदंग की ध्वनि से की गई है। रामायण में उल्लिखित वाद्य-यंत्रों में प्रमुख हैं—भेरी, दुन्दुभि, मृदङ्ग, पटह, घट, पालव, डिमडिम, मुददुक, आदम्बर और वीणा। रामायण में जातियों का उल्लेख आता है। इनका उपयोग राग की भाँति ही होता था।

महाभारत में सात स्वरों और गन्धार ग्राम का भी उल्लेख मिलता है। पाणिनि ने भी अपनी अष्टाध्यायी में संगीत संबन्धी कई उल्लेख किये हैं।

तामिल के पुरनानूरु और पत्थुत्पात्तु में ढोल को विशेष गौरव दिया गया है। इसको देवता जैसा आदर दिया जाता था और इसके लिये विशेष आसन और हाथी का प्रबंध था। युद्ध, न्याय और धार्मिक कृत्यों के लिये पृथक् ढोल होते थे। पारिपाडल नाम के ग्रन्थ में याल नाम के वीणा के सदृश एक यन्त्र का उल्लेख है। कुछ यालों में तो १००० तक तार होते थे। इसी ग्रन्थ में कुछ स्वरों के भी नाम दिये हैं। सात पालइ का भी उल्लेख मिलता है जो संभवतः स्वर-समूह थे। शिलप्पदिकारम् में अवनद्ध तथा सुषिर वाद्यों के बजाने वालों और याल और वीणा के उल्लेख आते हैं। इसमें सात स्वरों और उस काल के प्रचलित रागों का वर्णन है। तिवकारम् नाम के जैनकोष में संगीत-शास्त्र और संगीत-प्रदर्शन के उल्लेख कई स्थलों पर आते हैं। इसमें प्रारंभिक द्रविड़ संगीत के विषय में बहुत-सी सामग्री मिलती है जिससे ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में द्रविड़ों में संगीत के उत्कर्ष का आभास मिलता है। पान और तिरम् नाम के दो राग, मात्रा के नाम से २१ श्रुति, सात रागों के तामिल नाम और उनके संकेत चिह्न, सात पालइ, चार प्रकार के याल और २९ पान के नामों का उल्लेख मिलता है।

विस्तृत विवेचना और प्राचीनता की दृष्टि से भरत का नाट्यशास्त्र संगीत का आदि ग्रन्थ कहा जा सकता है। मुख्यतः यह ग्रन्थ नाटक सम्बन्धी है किन्तु २८ वें, २९ वें और ३० वें अध्यायों में संगीत-शास्त्र-सम्बन्धी बातों का विवरण है। इसमें श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्छना और जातियों का वर्णन है। इस ग्रन्थ के सिद्धान्त और नियम भारतीय संगीत में अब भी मान्य हैं लेकिन इस पद्धति का विस्तृत पालन नहीं होता।

भरत के नाट्यशास्त्र के बाद संगीत-शास्त्र-सम्बन्धी दो ग्रन्थों के नाम हैं दत्तिलम् और बृहद्देशी। बृहद्देशी के रचयिता मतङ्गमुनि कहे जाते हैं। इन्होंने ही सर्व-प्रथम संगीत-शास्त्र में ग्राम-रागों का वर्णन और राग शब्द का प्रयोग किया है। इस ग्रन्थ से प्रतीत होता है कि प्राचीन जाति-गायन के लक्षण ही धीरे-धीरे राग-गायन में सम्मिलित हो गये।

नारद-शिक्षा नाम के ग्रन्थ की रचना संभवतः १० वीं और १२ वीं शताब्दियों के बीच हुई थी। कई अर्थों में इस ग्रन्थ में भरत के नाट्यशास्त्र की तुलना में विकास दिखलाई पड़ता है। मद्रास के पुदुकोट्टई राज्य के कुदुमियमलई नाम के स्थान पर सातवीं शताब्दी का एक अभिलेख है। इस अभिलेख का सम्बन्ध संगीत-शास्त्र से ही है। कई बातों में इस अभिलेख की सामग्री नारद-शिक्षा के अनुकूल है। इसमें सात जातियों, सात स्वरों, श्रुतियों और अन्तर तथा काली स्वर-नामों के उल्लेख मिलते हैं।

नारद-कृत संगीत-मकरन्द में सर्व-प्रथम पुरुष-राग, स्त्री-राग और नपुंसक-

रागों के वर्ग रखे गये हैं। इन्हीं से आगे चलकर राग, रागिनी और रागपुत्र आदि की पद्धति चली जो हिन्दुस्तानी संगीत की मुख्य विशेषता है। इसी से कुछ विद्वान् उत्तर और दक्षिण की संगीत पद्धतियों के पृथक् विकास को इस ग्रन्थ से सम्बन्धित करते हैं। मकरन्द में रागों का वर्गीकरण कम्पन के आधार पर और राग के समय के अनुसार भी किया गया है। चौथी विधि है संपूर्ण षाड़व और ओड़व रागों में विभाजन।

संगीत के इतिहास में मुसलमानी आक्रमण के पूर्व का युग (९ वीं से १२ वीं शताब्दी) विशेष गौरव का माना जाता है। देशी रियासतों ने संगीत को प्रभूत प्रश्रय दिया। किन्तु दुर्भाग्य से इस युग के संगीत की कोई कृति उपलब्ध नहीं है।

जयदेव उत्तरी भारत का प्रथम गायक है जिसके विषय में हमें कुछ निश्चित ज्ञान है। जयदेव १२ वीं शताब्दी के अन्त की ओर हुये थे। वे भी भक्त कवियों की परम्परा में आते हैं। उनकी रचना गीत-गोविन्द में राधा और कृष्ण के प्रेम की विविध अवस्थाओं की कथा गेय छन्दों में है। ये गीत प्रबन्ध के नाम से प्रसिद्ध थे। यद्यपि प्रत्येक गीत के साथ उसके राग और ताल का निर्देश कर दिया गया है किन्तु स्वरलिपि के अभाव के कारण आधुनिक संगीतकार इन निर्देशों का अर्थ नहीं समझ पाते।

शार्ङ्गदेव तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में देवगिरी के यादव दरबार से संबंधित थे। उनकी रचना सङ्गीत-रत्नाकर से मालूम होता है कि वे उत्तरी और दक्षिणी दोनों ही संगीतों के संपर्क में आये थे। और संभवतः दोनों में समन्वय स्थापित करना चाहते थे। इसमें संगीत से संबंधित विविध विषयों और सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन है। इसमें भरत के पश्चात् के और शार्ङ्गदेव के पूर्ववर्ती कई संगीत-शास्त्र के ग्रन्थकारों के नाम भी दिये गये हैं। बाद के ग्रन्थकारों ने इसे ही अपना आधार बनाया है। 'रत्नाकर' को अभी तक कोई ठीक-ठीक नहीं समझ पाया है।

उत्तरी शाखा के विकास में चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दियों का विशेष महत्त्व है। मुस्लिम शासकों ने संगीत को प्रश्रय दिया। उनके दरबार में संगीतज्ञ रहते थे। इसी समय में भारतीय संगीत में फारसी प्रभाव आया। उत्तरी और दक्षिणी भारत की पद्धतियों का परस्पर अन्तर भी इसी समय से अधिक स्पष्ट होने लगा। प्रसिद्ध संगीतकार अमीर खुसरो अलाउद्दीन के ही दरबार से संबंधित थे। खुसरो ने कई नवीन आविष्कार किये जैसे कव्वाली, तराना आदि गीत, सितार, तबला आदि वाद्य, सरपरदा, जिल्फ, खाजगिरी आदि राग और सांझुमरा, आड़ा चारताल, सूलफाक आदि ताल। अलाउद्दीन स्वयं संगीत का प्रेमी था। दक्षिण की विजय करके वह दक्षिणी भारत के कई संगीतज्ञों को अपने साथ ले गया था।

लोचनकवि की रागतरङ्गिणी इसी काल की रचना है। इसके अधिकतर भाग में विद्यापति के ही गीतों का विवेचन है। लोचन का शुद्धथाट आधुनिक काफी के सदृश

था। उसने सभी जन्य-रागों का बारह जनक थाटों अथवा मेलों में विभाजन किया है। भारतीय संगीत में मेल-राग अथवा थाट-राग के वर्गीकरण का आरंभ इसी से होता है।

विजयनगर दरबार के प्रसिद्ध पंडित और संगीतज्ञ काल्लिनाथ ने शार्ङ्गदेव के ग्रन्थ पर विस्तृत टीका रची है।

उत्तरी भारत में भक्ति आन्दोलन का प्रभाव संगीत के विकास के लिये हितकारी हुआ। चैतन्य, मीराबाई और तुलसीदास के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसी समय में सङ्कीर्तन और नागकीर्तन का प्रारंभ हुआ।

सम्राट् अकबर के शासनकाल का भारतीय संगीत के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसके शासनकाल में रागों के ऊपर विदेशी प्रभाव आया और उत्तरी संगीत का रूप परिवर्तित हो गया। सम्राट् अकबर संगीत का उत्साही प्रेमी और संरक्षक था। आइने अकबरी में कहा गया है कि अकबर के दरबार में ३६ संगीतज्ञ थे। कुछ के नाम हैं—नायक बैजू, गोपाल, नौबत खाँ, तानतरङ्ग खाँ, मसीत खाँ आदि। कृष्ण भक्ति के केन्द्र वृन्दावन के हरिदास स्वामी अपने समय के सर्वश्रेष्ठ संगीतकारों में से थे। अकबर के दरबार का प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन उन्हीं का शिष्य था। तानसेन के संगीत कौशल के विषय में कई अद्भुत कथायें प्रसिद्ध हैं। तानसेन को कई नये राग बनाने का श्रेय दिया जाता है जैसे दरबारी कान्हड़ा, मियाँ मल्हार, मियाँ की सारंग आदि। तानसेन के शिष्यों की परम्परा दो वर्गों में विकसित हुई। रबाबी तानसेन द्वारा निर्मित रबाब नाम के वाद्य का प्रयोग करते थे। बीनकार वीणा का प्रयोग करते थे। ये दोनों शिष्य-परम्परायें आज तक चली आ रही हैं। तानसेन के घराने के संगीतज्ञ सेनिये कहलाते हैं और ध्रुपद के विशेषज्ञ के रूप में प्रसिद्ध हैं।

ग्वालियर के राजा मानसिंह संगीत के प्रमुख आश्रयदाताओं में से थे। गायन की ध्रुपद शैली की रचना का श्रेय इन्हें ही दिया जाता है। इनके दरबार का नायक बख्शू प्रसिद्ध संगीतज्ञ था। ग्वालियर की संगीत-परम्परा वर्तमान काल तक चली आई है।

ऐसे तो अकबर के समय में ध्रुपद गायन ही प्रमुख था लेकिन ख्याल गायन का भी प्रचार हो रहा था। जौनपुर के सुलतान हुसेन शर्की ने विलंबित ख्याल का आविष्कार किया। द्रुतलय के ख्याल का भी प्रचार चल पड़ा।

खानदेश में बुरहानपुर के पुण्डरीक विट्ठल भी अकबर के ही शासन-काल में हुये थे। पुण्डरीक ने चार ग्रन्थों की रचना की—षड्रागचन्द्रोदय, रागमाला, रागमञ्जरी और नर्तन-निर्णय। संभवतः पुण्डरीक उत्तरी भारत में संगीत में फैली अव्यवस्था को दूर करना चाहता था। पुण्डरीक दक्षिणी संगीतज्ञ था लेकिन उसे दोनों ही संगीत पद्धतियों का ज्ञान था।

राम अमात्य ने १५५० ई० के लगभग स्वर-मेल-कलानिधि नाम के ग्रन्थ की रचना की। इसमें दक्षिणी शैली की सर्वप्रथम विशद और व्यवस्थित विवेचना मिलती है। इसी में भारतीय रागों का सर्वप्रथम संग्रह मिलता है।

जहाँगीर के दरबार के प्रसिद्ध संगीतज्ञों में विलास खाँ, छतर खाँ, खुर्रमदार, मक्खू और हमजान के नाम प्रसिद्ध हैं।

१६०९ ई० में सोमनाथ ने जो संभवतः राजमुन्दरी का निवासी था राग-विबोध की रचना की। सोमनाथ दक्षिणी शैली का संगीतज्ञ था और रागों के वर्गीकरण में जिस पद्धति को उसने अपनाया है उसका अनुसरण आधुनिक दक्षिणी संगीत में भी होता है। सोमनाथ कुशल संगीतकार के साथ ही श्रेष्ठ विद्वान् और सफल कवि भी था।

वेङ्कट मखी ने इसी समय दक्षिणी शैली के एक दूसरे प्रसिद्ध ग्रन्थ चतुर्दण्डी-प्रकाशिका की रचना की। ये शार्ङ्गदेव की शिष्य परम्परा में बतलाये जाते हैं। इनका ग्रन्थ वर्तमान दक्षिणी शैली और उसके रागों के वर्गीकरण का आधार है।

उत्तरी शैली में दामोदर मिश्र ने १६२५ ई० के लगभग सङ्गीत-दर्पण की रचना की। इस ग्रन्थ में स्वरों के विषय का बहुत-सा विवरण संगीत-रत्नाकर से लिया गया है। संगीत-रत्नाकर के समान ही यह ग्रन्थ भी समझने में कठिन है। रागों के विषय में एक अध्याय किसी अज्ञात लेखक की रचना से उद्धृत किया गया है। विविध रागों को चित्र-रूप में भी अंकित किया गया है।

शाहजहाँ के दरबार में भी कई प्रसिद्ध संगीतकार थे। लालखाँ तानसेन के वंश से सम्बन्धित था। उसे "गुण समुद्र" की उपाधि मिली थी। जगन्नाथ को कविराज की उपाधि दी गई थी। तीसरा प्रसिद्ध गायक था दिरंग खाँ। लेकिन औरंगजेब को संगीत में अनुराग नहीं था। जिससे संगीत को दरबार से प्रश्रय न मिल सका।

उत्तरी शैली के प्रमुख ग्रन्थ संगीत-पारिजात की रचना अहोबल पंडित ने १७२४ ई० में की। इसमें कुल १२२ रागों का उल्लेख है। अहोबल ने कुल १९ स्वरों के नाम दिये हैं। उसने सर्व-प्रथम वीणा के तार की लंबाइयों के अनुसार बारह स्वरों के नाम दिये हैं। इसी समय हृदय नारायण देव ने हृदय-कौतुक और हृदय-प्रकाश नाम के दो ग्रन्थ रचे।

भावभट्ट राजा अनूपसिंह के दरबार से सम्बन्धित थे। उसके तीन ग्रन्थों के नाम हैं—अनूप-संगीत-रत्नाकर, अनूप और विलास तथा अनूपांकुश। उसने सब रागों का २० ठाटों के अन्तर्गत वर्गीकरण किया है। उसने उत्तरी रागों को दक्षिणी पद्धति के अनुसार व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। भावभट्ट दक्षिणी शैली में इतना अधिक कुशल मालूम होता है कि संभवतः उसका वंश दक्षिण का था।

इसी समय के लगभग पुरन्दर विट्ठल ने कन्नड में कुछ सुन्दर गीतों की रचना की जो आज भी संगीत-शिक्षा में आरम्भिक अभ्यास के लिये प्रयुक्त होते हैं।

मुहम्मद शाह रंगीले (१७१९) अन्तिम मुगल सम्राट् था जिसके दरबार में प्रसिद्ध संगीतकार थे। इसके दरबार के प्रसिद्ध गायक सदारंग और अदारंग के बनाये ख्याल आज भी प्रचलित हैं। इस समय में शोरी नाम के गायक ने हिन्दुस्तानी संगीत की ठप्पा पद्धति को विकसित किया। हिन्दू और पारसी शैलियों के सम्मिश्रण से इस समय में गायन और संगीत की नई रीतियों का भी जन्म हुआ।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुगल राज्य की गिरती शक्ति के साथ संगीत के विकास की गति भी धीमी हो गई। इसी समय में गजल, तराना आदि गीत-प्रकारों का प्रचार हुआ। श्रीनिवास ने रागत्व-विबोध नाम के ग्रन्थ की रचना इसी काल में की।

ब्रिटिश साम्राज्य के प्रारम्भिक वर्षों में भारतीय संगीत को जो कुछ भी संरक्षण मिला वह प्रमुख देशी राजाओं से। अधिकांश यूरोपीय भारतीय संगीत को असभ्य और अवैज्ञानिक समझते थे। संगीत-कला का समाज के बुरे अंग से सम्बन्ध होने के कारण साधारणतया लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे। अपवाद में सर विलियम जोन्स और सर आउसले जैसे विद्वान् और कैप्टेन डे और कैप्टेन विलर्ड जैसे शौकिया गायक ही आते हैं।

तंजोर के तुलजाजी (१७६३-८७ ई०) ने स्वयं संगीत-सारामृत नाम की एक महत्त्वपूर्ण रचना की। उन्होंने दान और मान के द्वारा संगीतकारों को प्रोत्साहन दिया। देश भर के प्रसिद्ध गवैये इसी से यहाँ एकत्रित होने लगे। तंजोर देश में संगीत का प्रसिद्ध केन्द्र बन गया।

प्रसिद्ध कवि और गायक त्यागराज तंजोर के ही थे। यहीं उन्होंने शिष्यों के एक वर्ग का निर्माण किया जिसने उनकी परम्परा को आज तक चलाया है। उनकी सुन्दर कृतियाँ और कीर्तन आज भी दक्षिण में गाये जाते हैं। उनकी संगीत की प्रतिभा रचनात्मक थी और उनकी सभी रचनाओं में मौलिकता मिलती है। दक्षिणी भारत के संगीत के विकास में उनका महत्त्वपूर्ण सहयोग है। कहते हैं कि नारद ऋषि ने उनके सम्मुख प्रगट होकर उन्हें स्वरार्णव नाम का ग्रन्थ प्रदान किया। संगीत और धर्म उनके जीवन के अभिन्न अंग थे। उनके गीतों में भक्ति के सच्चे उद्गार मिलते हैं। कहते हैं कि एकादशी के दिन उपवास रखकर वे इनकी रचना करते थे। उन्होंने अपने संगीत में संगति का प्रथम बार प्रवेश किया। इसमें मूल राग की विशेषता को रखते हुये परिवर्तन किये जाते हैं जो धीरे-धीरे विस्तार को प्राप्त करते हैं।

त्रावणकोर की संगीत परम्परा भी प्रसिद्ध और पुरानी है। प्रसिद्ध दक्षिणी संगीतकार गोविन्दमरार त्रावणकोर ही के थे। षड्गुण में गा सकने के कारण ये षट्-काल गोविन्द के नाम से विख्यात थे।

मुत्तुस्वामी दीक्षित और श्यामशास्त्री त्यागराज के समकालीन थे। मुत्तुस्वामी ने स्वर-निर्देश की एक नई पद्धति चलाई। उनके पौत्र ने तेलुगु में एक ग्रन्थ की रचना की जिसमें शार्ङ्गदेव के सिद्धान्तों को आधुनिक संगीत में प्रयुक्त किया गया है।

कोचीन और त्रावणकोर के कुछ राजा भी सफल संगीतज्ञ थे। इनमें पेरुमल महाराज सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने संस्कृत, तामिल, तेलुगु, मलयालम्, हिन्दुस्तानी और मराठी इन छः भाषाओं में रचना की है।

पटना के अमीर मुहम्मद रजा ने १८१३ ई० में नगमाते-आसफी नाम की रचना की। इस ग्रन्थ में उत्तरी शैली की आलोचनात्मक विवेचना है। प्रचलित वर्गीकरण की पद्धतियों को अनुपयुक्त कहकर उसने अपना स्वयं का वर्गीकरण दिया है। समान विशेषताओं वाले राग एक ही वर्ग में रखे गये हैं। इसी ग्रन्थ में पहली बार बिलावल को अपनाया गया है। उत्तरी भारत में आज भी बिलावल ही प्रयुक्त होती है। इसके द्वारा दिये गये राग-लक्षण आज भी हिन्दुस्तानी संगीतकारों द्वारा अपनाये जाते हैं।

जयपुर के महाराज प्रतापसिंह (१७७९-१८०४ ई०) ने संगीत-विशारदों और कलाकारों की एक सभा हिन्दुस्तानी संगीत पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ रचने के लिये बुलाई। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप संगीतसार नाम के ग्रन्थ की रचना हुई। इसमें प्रचलित सिद्धान्तों और व्यवहारों पर उस युग के संगीतज्ञों के विचार संगृहीत हैं।

१८४२ ई० में कृष्णानन्द व्यास ने संगीत-राग-कल्पद्रुम प्रकाशित किया जिसमें हिन्दी के सभी प्रसिद्ध गीतों का संकलन है। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बंगाल में सौरेन्द्र मोहन टैगोर ने संगीत-संबंधी कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की।

१९०० ई० के पूर्व उत्तरी भारत में संरक्षण और प्रोत्साहन की कमी के कारण संगीत का अधिक प्रसार नहीं था। कुछ रियासतों और संगीत के कुछ घरानों को छोड़ कर संगीत की शिक्षा की व्यवस्था का अभाव-सा था। किन्तु १९०० ई० के बाद से संगीत की जनप्रियता बढ़ी और संगीत की सार्वजनिक और वैज्ञानिक शिक्षा की व्यवस्था कई नगरों में हो गई। विद्यालयों के पाठ्य-क्रम में भी संगीत को स्थान मिला। समय-समय पर होनेवाले संगीत-सम्मेलनों से भी जनता में संगीत के प्रति आकर्षण बढ़ रहा है। इस काल में शास्त्रीय संगीत के साथ ही अन्य स्वरूपों की भी साधना हुई। उदाहरणार्थ, रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भाव-संगीत का विकास किया। रवीन्द्र-संगीत ने भारतीय संगीत के प्रयोगात्मक और साहित्यिक पक्ष को उज्ज्वल किय। रेडियो और फिल्मों से भी संगीत का प्रसार हुआ है। भारतीय संगीत पर पाश्चात्य संगीत का विशेष रूप से वाद्य-बृन्द (आरकेस्ट्रा) का, प्रभाव दिखलाई पड़ता है। संगीत के आधुनिक काल के उद्धार और प्रचार का अधिकांश श्रेय विष्णु दिगम्बर पलुस्कर और विष्णु नारायण भातखण्डे को है। पलुस्कर जी ने क्रियात्मक संगीत और भातखण्डे जी ने संगीत के

उद्धार के लिये अधिक कार्य किया है। पलुस्कर जी ने संगीत-ग्रन्थों की रचना की, संगीत के प्रचार के लिये भ्रमण किया, सम्मेलनों का आयोजन किया और विद्यालयों की स्थापना की। उनके शिष्यों की परम्परा अभी तक चली आ रही है। भातखण्डे जी को सम्मेलन करने और विद्यालयों की स्थापना का श्रेय प्राप्त है। उन्होंने विभिन्न भागों में भ्रमण करके संगीत शास्त्र सम्बन्धी सामग्री का अध्ययन किया। उन्होंने संगीत के लिये सरल, वैज्ञानिक और उपयोगी स्वरलिपि निर्मित की। संगीत के विषय में उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की।

नृत्य

भारतवर्ष में नृत्य और नाटक परस्पर सम्बन्धित माने गये हैं। नट् धातु जिससे नट, नटी, नाटक आदि शब्द बने हैं नृत्य करने और अभिनय करने दोनों ही के लिये प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार से अभिनय शब्द नृत्य के लिये भी प्रयुक्त होता है। अभिनय शब्द अभि (और) पूर्वक नी (ले जाना) धातु से बना है। अभिनय शब्द के अर्थ हैं दर्शकों के सम्मुख किसी भाव को प्रस्तुत करना या उन तक पहुँचाना। एक समालोचक ने अभिनय शब्द की परिभाषा रस और भाव का बोध कराने के लिये क्रियाओं के रूप में की है। इससे अभिनय और नृत्य का सम्बन्ध सूचित होता है। भारतवर्ष में नाटक का प्रभाव शब्द या कथोपकथन पर ही नहीं निर्भर था। इसके लिये गीत और नृत्य का भी महत्त्व था। इसीलिये नृत्य से सम्बन्धित ग्रन्थों में अभिनय सम्बन्धी आदेश भी मिलते हैं।

नृत्य विशेष उद्बोधनों और निर्देशों के द्वारा रस की निष्पत्ति को कहते हैं। इसी से शरीर के विभिन्न अंगों की किस प्रकार की गति से उचित उद्बोधन किये जा सकते हैं इस ध्येय से आदेशों में और नियमों के कई ग्रन्थों की रचना की गई। इन ग्रंथों में सर्वाधिक प्रसिद्ध नाट्य-शास्त्र और अभिनय-दर्पण हैं।

नाट्य-शास्त्र और अभिनय-दर्पण दोनों ही में नृत्य के लिये दैवी उत्पत्ति बतलाई गई है। लेकिन इस सम्बन्ध में जो आख्यान इन ग्रन्थों में किये गये हैं वे भिन्न हैं। शिलप्पदिकारम् नाम के तामिल ग्रन्थ में नृत्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित एक तीसरी ही कथा दी गई है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब इन ग्रन्थों की रचना हुई तो अपनी कला का महत्त्व दूसरों की दृष्टि में बढ़ाने के लिये इनके रचयिताओं ने नृत्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को प्रचलित करना चाहिये। इस सम्बन्ध में जो कई कथायें प्रचलित हैं उनसे मालूम होता है कि इनमें से किसी एक कथा को सर्वमान्यता नहीं मिल सकी। नाट्यशास्त्र स्वयं अपने को पञ्चम वेद बतलाता है। यह ग्रन्थ इसी विषय की दूसरी रचनाओं से अधिक व्यापक और विस्तृत है। इसी से इसे जनप्रियता और प्रामाणिक होने का गौरव सरलता से मिल सका। प्राचीन काल में नृत्य का

मन्दिरों से सम्बन्ध होने के कारण इन ग्रन्थों को भी पवित्र समझा जाता था। आज भी इनका महत्त्व उनके स्वयं के गुणों और प्राचीन रचना होने के कारण है।

प्राचीन भारत में अज्ञानी कलाकार अथवा दर्शक नहीं होते थे। रंगमञ्च पर प्रदर्शन करने की आज्ञा मिलने से पूर्व नर्तक को नृत्य-पद्धति को भली प्रकार से सीखना पड़ता था। नृत्य से जीविका उपार्जन करनेवाली स्त्रियाँ भी अपनी कला की पूरी शिक्षा लेती थीं।

एक जातक कथा से यह स्पष्ट मालूम होता है कि साधारण जन भी हस्त मुद्रा का ध्वनिरहित भाषा के रूप में प्रयोग करते थे और उनके अर्थ भली प्रकार से समझते थे।

नाट्यशास्त्र और अभिनय-दर्पण दोनों ही में एक आदर्श दर्शक के गुणों का उल्लेख दिया गया है।

राज्याभिषेक, उत्सव, रथ-यात्रा, विवाह, मित्रों के पुनर्मिलन, नगर अथवा गृह-प्रवेश, पुत्र जन्म जैसे शुभ और विशेष अवसरों पर नृत्य के आयोजन होते थे। मन्दिरों से संबंधित स्थायी रंगभूमि का भी प्रबंध था। रामगढ़ पहाड़ी की सीताबेंगा गुहा से स्थायी रंग शालाओं की स्थिति का ज्ञान होता है।

भारतवर्ष में नृत्य का इतिहास अति गौरवपूर्ण और प्राचीन है। मोहेंजोदड़ो और उससे संबंधित नगरों में नृत्य की साधना संभवतः एक धार्मिक कृत्य के रूप में होती थी। मोहेंजोदड़ो में कांसे की एक नग्न नर्तकी की मूर्ति मिली है।

ऋग्वेद में नृत्यकला में प्रवीण स्त्रियों का उल्लेख है जो विशेष वस्त्रों में सुसज्जित होकर नृत्य करती थीं। ऋग्वेद ही में चमकीले वस्त्र धारण कर प्राची में उदय होनेवाली उषा को नर्तकी के समान बतलाया गया है। यजुर्वेद में बाँस पर नाचनेवाले वंशनर्तिन् का उल्लेख है। जैमिनीय ब्राह्मण में एक स्थान पर "नृत्य और गायन, वंशी की ध्वनि, अप्सराओं के समूह, सुगन्धि और कोलाहल" का उल्लेख है जिससे किसी नृत्यशाला का चित्र नेत्रों के सम्मुख आ जाता है।

जातकों में नृत्य का उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है। एक राजा महापान कर नर्तकियों के एक दल के साथ एक उद्यान में जाता है जहाँ नर्तकियाँ अपने नृत्य और संगीत से उसे सुला देती हैं। बनारस के समीप रहनेवाले एक नर्तक की भी कथा हमें मिलती है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है कि उस युग में नृत्य एक महत्त्वपूर्ण जीविकोपार्जन का साधन था। इस पर राज्य का कठोर नियंत्रण था। अर्थशास्त्र से इस कला और व्यवसाय की विकसित और उन्नत दशा का ज्ञान होता है। लेकिन कठोर यथार्थवादी कौटिल्य ने नर्तकी और वेश्या में कोई अन्तर नहीं माना है।

नर्तकियों के विषय में जो विवरण अर्थशास्त्र में दिया गया है उसकी पुष्टि

शिलप्पदिकारम् नामक तामिल महाकाव्य से होती है। नर्तकी माधवी की शिक्षा पाँच वर्ष की आयु ही में प्रारंभ हो जाती है। सात वर्ष की कठोर साधना के बाद उसने कला के मर्मज्ञ राजा के सम्मुख अपने नृत्य का प्रदर्शन किया। माधवी ने दो प्रकार के नृत्य प्रस्तुत किये। नृत्य की क्षिप्रगति के कारण वह सजीव स्वर्णिम लता-सी लगती थी। उसके कौशल से प्रसन्न होकर राजा ने उसे एक माला और १००८ स्वर्ण के सिक्के दिये। माधवी की आज्ञा पाकर उसकी सेविका ने नगर के धनिकों-वाले भाग में जाकर यह कहा कि जो व्यक्ति उस हार को १००८ स्वर्ण सिक्कों में खरीदेगा वह माधवी का पति बनेगा। कोवलन ने उस हार को खरीदा। वह माधवी के रूप से इतना आकर्षित हुआ कि अपनी पत्नी और घर को भी भूल बैठा।

प्राचीन काल में नृत्य केवल नर्तकियों का एकाधिकार नहीं था। वात्स्यायन के कामसूत्र से ज्ञात होता है कि राजकुमारियाँ और धनी व्यक्तियों की कन्यायें अपने पति को वश में रखने के लिये नृत्य और दूसरी ६४ कलायें सीखती थीं। इस बात की पुष्टि कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक से भी होती है। इस नाटक में मालविका राजा और रानी के सम्मुख एक नृत्य प्रतियोगिता में उपस्थित होती है। वह एक प्रेम गीत को गाकर उसी को नृत्य के द्वारा व्यक्त करती है। अपने श्रेष्ठ नृत्य से वह राजा को आकर्षित कर लेती है।

वाण के हर्ष चरित में हर्ष के जन्म के अवसर पर दूसरी रानियों के द्वारा नृत्य का उल्लेख है। इस अवसर पर प्रतिहारियों को डंडे के बल पर भीड़ को रोकना पड़ा था। होयशल वंश के विष्णुवर्धन की पट्टमहादेवी सन्तलादेवी भी गीत, संगीत और नृत्य में दक्ष कही गई हैं। विजयनगर की रानियाँ भी नृत्य में अनुराग रखती थीं। पाइस नाम के पुर्तगाली ने अपने वर्णन में इसका उल्लेख किया है।

कुछ नृत्यों में कला-पक्ष तो कम होता है किन्तु उनकी जनप्रियता बहुत अधिक होती है। ऐसे तो भारत में नृत्य की दैवी उत्पत्ति बतलाई गई है और धार्मिक विषयों से इसका गहरा संबंध माना जाता है फिर भी मनुष्य की रुचि सदैव धर्म से बँधी नहीं रह सकती। आजकल के प्रचलित वेश्याओं के नाच इसी श्रेणी में आते हैं। ऐसे ही नाच का एक दृश्य वाण ने हर्ष चरित में हर्ष के जन्म के उपलक्ष में होनेवाले उत्सव के साथ किया है। मेरुत्तुङ्ग ने अपने प्रबन्ध चिन्तामणि में भी उल्लेख किया है कि एक अवसर पर राजा परमर्दिन् के सम्मुख केवल एक छोटे अधोवस्त्र में ही एक निम्नकोटि की नर्तकी का नृत्य हुआ। अरब यात्री मसूदी ने भी आमोद-प्रमोद के लिये ऐसी संगीत गोष्ठियों का उल्लेख किया है।

प्राचीन काल में देवदासियों का नृत्य से विशेष सम्बन्ध था। अलबेरुनी नाम के अरब यात्री ने इस विषय में लिखा है—"गणिकाओं की प्रथा के संबंध में लोग सोचते हैं कि यह लोगों के द्वारा अनुमोदित थी। लेकिन यह राष्ट्र का नहीं अपितु

राजा का दोष है। यदि ऐसा न होता तो कोई भी ब्राह्मण या पुजारी अपने मन्दिरों में गाने, नाचने या अभिनय करनेवाली स्त्रियों को प्रवेश न करने दें। केवल आर्थिक कारणों से ही राजा उन्हें अपने नगरों के लिये आकर्षण और जनता के आमोद का साधन बताते हैं।" यह वर्णन संभवतः राजधानी के लिये ही सही था। हमें अभिलेखों से ज्ञात होता है कि विजय नगर के गाँवों के मन्दिरों की देवदासियों के लिये लोग स्वयं प्रबन्ध करते थे। कई अभिलेखों में हम देखते हैं कि ब्राह्मण और शिल्पी मिलकर कई प्रकार के कर एकत्रित करने और कुछ भूमि के दान की व्यवस्था करते थे जिससे देवदासियों का निर्वाह हो सके।

आधुनिक काल में भारतवर्ष में कई प्रकार के नृत्य प्रचलित हैं। प्रायः प्रत्येक प्रान्त और प्रदेश का उसका स्वयं का विशिष्ट जन नृत्य है उदाहरणार्थ गुजरात प्रदेश का गर्वा नृत्य और सन्थाल लोगों के नृत्य। शास्त्रीय परम्परा पर आधारित आधुनिक नृत्यों में भरत नाट्यम कथाकली, कत्थक और मणिपुरी सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

भरत नाट्यम्—यह नृत्य दक्षिण भारत की देन है। इसका विकास मलयालम् भाषियों ने किया है और इसे सँवारने का श्रेय तामिल भाषियों को है। भरतनाट्यम् नृत्य का प्रसिद्ध केन्द्र तामिलनाड का तंजोर जिला है। प्रारंभ में इस कला का प्रसार दक्षिणी भारत के मन्दिरों की देवदासियों में ही अधिक था किन्तु आधुनिक काल में इसका प्रवेश सार्वजनिक जीवन में भी हो गया है और इसकी लोकप्रियता भारत के दूसरे भागों में भी बढ़ रही है।

भरत नाट्यम् की परम्परा को शिष्यों ने मौखिक रूप से याद कर चलाया है। इसके शिक्षक नट्टुवनर कहलाते हैं। आधुनिक युग के सर्वप्रसिद्ध नट्टुवनर पोत्रिआह पिल्लै और वाडिवेलु पिल्लै नाम के दो भाई थे। ये संस्कृत के विद्वान् थे। अतएव शास्त्रों की सहायता से इन्होंने इस नृत्य के स्वरूप को निश्चित किया। इनकी परम्परा अभी तक चली आ रही है। लेकिन हमारे समय में सबसे अधिक विख्यात नाम मीनाक्षी सुन्दरम् पिल्लै का है। प्रारंभ में लोगों की यह धारणा थी कि यह नृत्य स्त्रियों के लिये ही है किन्तु रामगोपाल इस नृत्य को करनेवाला पहला नर्तक था। अब भरतनाट्यम् नृत्य पुरुष और स्त्री दोनों ही करते हैं।

भारतवर्ष में प्रचलित सभी नृत्यों में भरतनाट्यम् ही नाट्यशास्त्र में लिखित नियमों पर सबसे अधिक आधारित है। आधुनिक भारतीय नृत्यों में भरतनाट्यम् ही सबसे अधिक भव्य और शास्त्र-सम्मत है। 'भरत' शब्द की व्याख्या करते हुये 'भ' से भाव, 'र' से राग और त से ताल का बोध होता है अर्थात् भरतनाट्यम् में इन तीनों का ही उचित समावेश और समन्वय मिलता है। भारत के शास्त्रीय नृत्य के चार मूल तत्त्व हैं—आङ्गिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य। इन सभी का भरतनाट्यम् में बड़ी प्रभावपूर्ण रीति से उपयोग होता है।

इस नृत्य की पात्री आकर्षक वेषभूषा और अलंकारों के अतिरिक्त अपने मुख को छोटी-छोटी बिन्दियों से अलंकृत करती है। इस नृत्य का कार्यक्रम साधारणतया तीन घंटे का होता है और सात खण्डों में विभाजित रहता है। कार्यक्रम के पूर्वार्द्ध में केवल नृत्य और उत्तरार्द्ध में अभिनय रहता है। भावों को व्यक्त करने के लिये चेहरे की भाव-भंगिमा और हाथ की मुद्राओं का उपयोग होता है। नृत्य के साथ-साथ संस्कृत, तामिल अथवा तेलगू भाषा के गीत भी गाये जाते हैं।

कथाकली—यह केरल प्रदेश का नाट्य-नृत्य है। ऐसे तो कुछ विचारक कथाकली नृत्य की उत्पत्ति को वैदिक युग के कर्मकाण्डों के काल तक ले जाते हैं किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह मानना पड़ेगा कि इस नृत्य का प्रारंभ कोट्टरक्कर के राजा (१५७५–१६५०ई०) ने किया था। कथा इस प्रकार से है कि कालीकट के समीप के एक राज्ञा ने प्रतिस्पर्धा में कृष्णनट्टम् की भाँति रामनट्टम् के नाम से एक नये प्रकार के नृत्य का आरंभ किया। इसमें राम के जन्म से लंका के विजय तक की पूरी कहानी प्रदर्शित की जाती थी। यहीं नृत्य आगे चल कर कथाकली के रूप में परिवर्तित हुआ। कोट्टरक्कर के राजा ने रामनट्टम् की नई विवेचना की और उसके स्वरूप को संशोधित किया। राम के जीवन की आठ घटनायें चुनी गईं और नाट्यशास्त्र के आधार पर उन्हें प्रस्तुत किया।

आधुनिक-युग में कथाकली के पुनरुद्धार का श्रेय प्रसिद्ध महाकवि वल्लथोल को है। उन्होंने केरल कला मण्डल की स्थापना की और प्रदर्शनों के द्वारा सभ्य और शिक्षित भारतीय तथा विदेशी प्रेक्षकों में इसकी लोक प्रियता बढ़ाई। वर्तमान समय का सर्वप्रसिद्ध कथाकली नर्तक तिरुवांकुर का गोपीनाथ है जिसकी सराहना रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी की है। गोपीनाथ ने इस नृत्य की शिक्षा देने के लिये श्री चित्रोदय नर्तकलयम् के नाम से एक नृत्य विद्यालय की स्थापना की है।

कथाकली नाट्य नृत्य की कथावस्तु रामायण, महाभारत और पौराणिक कथाओं से ली जाती है। पूरी कथा गेय छन्दों में होती है और वाद्यों के साथ गाई जाती है। नर्तक इसी कथा की अभिव्यंजना मुद्राओं, नेत्र और चेहरे के भावों से करता है। इस नृत्य में वेष-भूषा और अलंकारों के प्रयोग, अभिनेताओं को सजाने और मुखालेखन पर बहुत परिश्रम किया जाता है। कथाकली का नाट्यनृत्य ८ से १० घंटे तक चलता है।

कथाकली नृत्य में वीररस और भयानक वस्तु और घटना के प्रदर्शन को प्रमुखता दी जाती है। इसी कारण से कथाकली नृत्यमें पुरुष ही भाग लेते हैं, स्त्री की भूमिका में भी पुरुष ही आते हैं। आधुनिक समय में कुछ स्त्रियाँ भी कथाकली नृत्य में सम्मिलित होने लगी हैं।

भरतनाट्यम् की भाँति कथाकली नृत्य भी नाट्यशास्त्र को प्रमाण मानता है।

लेकिन दोनों में कुछ असमानतायें भी हैं। भरत नाट्यम् तो साधारणतः एक पात्र का ही नृत्य है लेकिन कथाकली बहुपात्रोंका नाट्य नृत्य है। इसी प्रकार से भरत-नाट्यम् तो प्राचीन लास्य नृत्य की कोटि में आता है और इसीलिये स्त्रियों के लिये अधिक उपयुक्त है। किन्तु कथाकली प्राचीन ताण्डव नृत्य का स्वरूप माना जाता है। और पुरुषों के लिये अधिक उपयुक्त है।

कथाकली में लोकनृत्य की स्फूर्ति और शास्त्रीय नृत्य के गौरव का अद्भुत समन्वय दिखलाई पड़ता है। कथाकली नृत्य के द्वारा आदिम निवासियों के शक्तिशाली जीवन और संसार के आश्चर्यजनक स्वरूप का चित्र हमारे सामने आता है। ग्राम्य जीवन के स्वाभाविक वातावरण, नृत्य, नाटक और गीत का सम्मिश्रण और रंगबिरंगे चेहरों वाले दैत्यों देवताओं, वीरों और कायरों और वानरों आदि की दुनिया जो हमारे संसार से सर्वथा विभिन्न है के द्वारा कथाकली नृत्य लोगों को आकर्षित करता है।

कत्थक—इस नृत्य को उत्तरी भारत का शास्त्रीय नृत्य कह सकते हैं। मुगल-काल में और नवाबों के प्रश्रय में इस शैली को प्रश्रय मिला और इसका पर्याप्त विकास हुआ। इस नृत्य की वेषभूषा और हाव भावमें यह प्रभाव परिलक्षित होता है। लखनऊ के कालिका और बिन्दा ने इस नृत्य की शैली को परिमार्जित किया। उनके वंशज अच्छन महराज और शम्भू महराज इस नृत्य के महान साधक माने जाते हैं। कत्थक नृत्य की दो शैलियाँ प्रचलित हैं। एक जयपुर की है लेकिन वर्तमान समय में लखनऊ की शैली विशेष रूप से प्रसिद्ध है। बनारस के सितारा देवी, गोपी कृष्ण आदि लखनऊ की शैली के एक घराने के हैं। यह नृत्य शैली अब उत्तर भारत तक ही सीमित नहीं है बल्कि देश के दूसरे भागों में भी इसका प्रसार हो रहा है।

कत्थक के लिये विषय कृष्ण के जीवन की लीलाओं से ही अधिकतर लिये जाते हैं उदाहरणार्थ मानलीला, दानलीला, चीरलीला, गोवर्धनलीला और होली।

कत्थक नृत्य में प्राचीन शास्त्रीय नृत्य ताण्डव और लास्य दोनों के अंश सम्मिलित हैं। इस नृत्य की अभिव्यंजना में गर्दन, भौंवें और कलाई हिलाई जाती है। इस नृत्य में पखावज, तबला और सारंगी का प्रयोग होता है। कत्थक नृत्य में तबले और घुँघरू का मुकाबला उसकी विशेषता है। पखावज और तबले के वे बोल जो हाथ से निकलते हैं उन्हें पैरों के घुँघरू से निकालना पड़ता है।

मणिपुरी नृत्य—वास्तविक मणिपुरी नृत्य मध्य युग के विद्यापति, चण्डीदास और जयदेव के कृष्णभक्ति संबंधी गीतोंपर आधारित हैं जिन्हें श्री चैतन्य ने अधिक जनप्रिय बना दिया था। मणिपुर का नृत्य कृष्ण की रासलीला के अनुकरणपर वृत्त या अर्धवृत्त में होता है और उसे रास की संज्ञा मिली है।

मणिपुरमें होलिकोत्सव वसन्तरास से प्रारंभ होता है। नवम्बर में रासपूर्णिमा

के अवसर पर महारास का आयोजन होता है। गोपाष्टमी के दिन गोप लीला, गौरांग-लीला, शिवस्तुति और दूसरे नृत्य का सामूहिक आयोजन होता है। इनके अतिरिक्त कीर्तनों के आधार पर कुछ दूसरे नृत्य भी होते हैं। मणिपुर का लाई हरोवा नृत्य उत्पत्ति के गौरव में होता है। यह अति प्राचीन नृत्य है और मणिपुर के निवासियों के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है। मणिपुरी नृत्यों में स्त्री और पुरुष सभी सम्मिलित होते हैं। कुछ नृत्य केवल पुरुषों के लिये ही होते हैं। ऐसे नृत्योंमें सामूहिक मृदंग नृत्य उल्लेखनीय है।

रास नृत्य १२ घण्टे तक भी चल सकता है। इसमें नृत्य और समूह गान के तत्त्व मिले रहते हैं। इसमें रंग-बिरंगे अलंकृत और कीमती वस्त्रों का उपयोग होता है।

मणिपुरी नृत्य में अंग-अभिनय का प्रमुख स्थान है। इसमें पूरे अंगों का परिचालन शान्त रस के अनुसार होता है। इस नृत्य में प्रेम चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है। यद्यपि इस नृत्य में स्फूर्ति और गति भी होती है फिर भी यह अत्यधिक कोमल, भावपूर्ण और लयमय है।

मणिपुर के नृत्य से प्रभावित होकर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बंगाली नृत्य का पुनरुद्धार किया। किन्तु रवीन्द्र के नृत्य और मणिपुरी नृत्य में अंतर है। टैगोर ने अपने नृत्यों को अपने गीतों के भावों को व्यक्त करने का माध्यम बनाया था।

नाट्य

भारतवर्ष में नाटक को कवित्व की चरम सीमा माना गया है (नाटकान्तं कवित्वम्)। काव्य के रसास्वादन से वंचित व्यक्ति भी नाटकों से रसानुभूति कर सकता है। काव्य के आनन्द की उपलब्धि के लिए उसका अर्थ समझना आवश्यक है। लेकिन नाटक में इसकी कोई आवश्यकता नहीं। साधारण व्यक्तियों के लिये भी नाटक ही अधिक प्रभावकारी होता है। नाटक नेत्र के मार्ग से हृदय में आनन्द की सृष्टि करता है। नाटक किसी एक प्रकार की अभिरुचिवालों के लिये ही नहीं होता। नाटक सार्वजनिक मनोरंजन का साधन है। कालिदास ने उचित ही नाटक को भिन्न रुचिवालों के लिये सामान्य मनोरंजन की सामग्री कहा है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में कहा है कि कोई ऐसा ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग या कर्म नहीं है जो नाटकों में न दिखलाई पड़े (न तद् ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला। न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते)। नाटक का लक्ष्य ही है लोक-वृत्त का अनुकरण। त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन ही नाटक का विशिष्ट उद्देश्य है (त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्)। नाटक समाज के सभी व्यक्ति और सभी वर्ग के लिये है। भरत ने तो अपने नाट्यशास्त्र में नाटक को सब वर्णों का (सार्ववर्णिक) वेद कहा है। अन्य वेद तो केवल द्विजों के लिये ही हैं लेकिन नाटक सभी वर्णों के लिए ग्राह्य है।

धनंजय ने अपने ग्रन्थ दशरूपक में एक स्थल पर कहा है—'किसी अवस्था की अनुकृति करना नाट्य कहलाता है। वह देखा जाता है इस कारण उसे रूप कहते हैं। रूप का समावेश होने के कारण उसे रूपक कहते हैं। उसका आश्रय रस है और उसके दस प्रकार हैं।'

संस्कृत में नाट्य से सम्बन्धित विविध विषयों का प्रतिपादन करनेवाले कई ग्रन्थों की रचना की गई। इनमें भरत के नाट्यशास्त्र और नन्दिकेश्वर के अभिनय-दर्पण को उच्च स्थान प्राप्त है।

नाट्यशास्त्र की रचना का श्रेय भरत मुनि को दिया जाता है। किन्तु इस विषय में शंकाएँ भी उठाई गयी हैं। नाट्यशास्त्र से ही भरत का स्वरूप काल्पनिक सा लगता है। अधिकांश पुराण भरत मुनि के विषय में मौन हैं। रामायण, महाभारत या किसी भी पुराण में भरत मुनि के सम्बन्ध में कोई भी आख्यान या कथा नहीं मिलती। भरत शब्द मूलतः अभिनेता के लिए प्रयुक्त होता था। इसी से नाट्यशास्त्र या भरत शास्त्र के रचयिता के रूप में भरत नाम के अज्ञात मुनि की कल्पना की गयी। प्रमाणों के आधार पर इतना तो निश्चित सा है कि नाट्यशास्त्र के मूल ग्रन्थ की रचना तीसरी शताब्दी ईसवी से पूर्व ही हो गयी थी। यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि कालान्तर में इस ग्रन्थ में कई बार संशोधन और परिवर्तन हुए।

अभिनयदर्पण के रचयिता का नाम नन्दिकेश्वर है किन्तु इस ग्रन्थ की रचना का समय निर्धारित करना दुष्कर है। साधारणतया इसकी रचना नाट्यशास्त्र से कुछ शताब्दी बाद की मानी जाती है।

प्राचीन भारतीयों में किसी भी विषय में प्राप्त ज्ञान को संग्रह के रूप में उपस्थित करने की रीति थी। इसी से यह कहा जा सकता है कि दोनों ही ग्रन्थ प्रचलित रीति और नियमों के संकलन ही हैं। यह भी सम्भव है कि उस समय तक नाट्य के नियम इतने जटिल हो गये थे कि साधारण आदमी उन्हें नहीं याद रख सकता था। इसलिए उनकी सहायता के लिए लिखित नियमों के संग्रह आवश्यक हो गये।

संस्कृत में नाटकों के लिए रूपक शब्द का प्रयोग होता है। नाटक वास्तव में रूपक के दस भेदों में से एक है। रूपक के दस भेदों के नाम हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथि, अंक और ईहामृग। इनमें प्रमुख प्रकरण और नाटक हैं। प्रकरण का कथानक काल्पनिक और नायक साधारण व्यक्ति होता है। लेकिन नाटक का कथानक ऐतिहासिक और नायक उदात्त गुणों का होता है। दूसरे प्रकार के रूपक साधारणतया एक ही अंक के होते हैं।

संस्कृत में रूपकों के तीन मुख्य अंग माने गये हैं—वस्तु, नेता और रस।

वस्तु दो प्रकार की मानी गयी है—आधिकारिक और प्रासंगिक। नेता इष्ट फल की सिद्धि के लिए जो चेष्टा करे वह आधिकारिक वस्तु के अन्तर्गत आती है।

आधिकारिक वस्तु की प्रगति में जो घटनाएँ सहायक हों उनका समावेश प्रासंगिक वस्तु में होता है। वस्तु को एक दूसरी विधि से तीन भेदों में बाँटा गया है—प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र। विकास की दृष्टि से देखने पर वस्तु के तीन भेद बतलाये जाते हैं—सूच्य और दृश्य श्रव्य।

अर्थप्रकृति रूपक की वस्तु के विकास के लिए आवश्यक कारण हैं। अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। वस्तु के विकास की भी पाँच ही अवस्थाएँ मानी गयी हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। पाँचों प्रकृतियों और पाँचों अवस्थाओं के मेल से पाँच सन्धियों की उत्पत्ति होती है—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण।

नेता को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, रक्तलोक, शुचि, वाग्मी, रूढ़वंश, स्थिर और युवा होना चाहिये। उसमें बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा और मान आदि होना चाहिये। नेता को शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रचक्षु और धार्मिक बनना चाहिये। ललित, शान्त, उदात्त और उद्धत—ये चार नेता के प्रकार हैं। नेताओं को एक दूसरी विधि से भी चार प्रकार का कहा गया है—दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल। नायिका तीन प्रकार की कही गयी है—स्वीया, अन्या और साधारण स्त्री। नायिकाओं की अवस्थाएँ होती हैं—स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितप्रिया और अभिसारिका। प्रतिनायक नायक का विरोधी होता है। इसका चित्रण लालची, उद्धत, उग्र, मूर्ख, अपराधी और व्यसनी के रूप में होता है। नायक के सहायक पात्रों में पीठमर्द, विट और विदूषक आदि आते हैं।

रूपकों में पात्रों के अनुकूल ही भाषा के प्रयोग का विधान है। उच्च पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी शिक्षित स्त्रियाँ भी इसे प्रयोग में लाती थीं। स्त्रियों की साधारण भाषा प्राकृत बतलाई गयी है। शूरसेनी अधमों की भाषा है। पिशाच और मागध जैसे अत्यन्त नीच जीवों के लिए पृथक भाषाओं का विधान है।

रूपक का तीसरा महत्त्वपूर्ण अंग रस माना गया है। रस के सिद्धान्त का विवरण अन्यत्र दिया गया है।

नाटकों की कथावस्तु कोई प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना या रामायण, महाभारत आदि से ली गयी कोई कथा होनी चाहिये। रंगमंच पर मृत्यु, युद्ध और श्मशान जैसे भयंकर और वीभत्स दृश्य दिखाना वर्जित था। संस्कृत नाटकों की एक विशेषता यह है कि पाश्चात्य नाटकों के समान इसमें सुखान्त और दुखान्त नाटक नहीं माने गये हैं। संस्कृत में सुखान्त नाटक ही होते हैं, दुखान्त नहीं।

नाटकों में अभिनय की कला को प्रचुर महत्त्व दिया जाता था और इस सम्बन्ध में विस्तृत नियम थे। अभिनय का शरीर के विभिन्न अंगों की विभिन्न प्रकार

की गति के अनुसार वर्गीकरण किया गया है जैसे—अंगाभिनय, प्रत्यंगाभिनय और उपांगाभिनय। नाट्य में संगीत और नृत्य का विशेष महत्त्व था। मुद्रा जिनकी संख्या २५ से अधिक थी के द्वारा विभिन्न प्रकार के निर्देश किये जाते थे।

भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार आदर्श रंगशाला आयताकार होती है। पूरे भवन की लम्बाई ९६ फीट और चौड़ाई ४८ फीट होनी चाहिये। यह दो बराबर भागों में विभाजित होता था। इनमें से एक दर्शकों के लिए प्रेक्षा-गृह होता था जो ४८ फीट लम्बी भुजाओं का एक वर्ग होता था। मंच के पूर्व भाग की नाप १२ फीट × २४ फीट, पृष्ठ भाग की १२ फीट × ४८ फीट और अभिनेताओं के विश्राम कक्ष की २४ फीट × ४८ फीट होती थी। पूरे रंगमंच में पूर्व और पृष्ठ दोनों मंच सम्मिलित माने जाते थे। मंच के पूर्व भाग के दोनों ओर पार्श्व बने होते थे।

भरत ने रंगशाला को यथोचित रूप से सुसज्जित करने को बहुत महत्त्व दिया है। रंगमंच के सामने का भाग काष्ठ का बना होना चाहिये और जलधर, पताका और स्त्रियों की आकृतियाँ उन पर खुदी होनी चाहिये। उन पर सुन्दर मालाएँ लटकी होनी चाहिये और सुन्दर मेहराब से उन्हें सुसज्जित होना चाहिये। रंगमंच के बिचले भाग को श्वेत रंग का, पक्का और चिकना होना चाहिये। लेकिन रंगमंच की भूमि किसी कारण से भी फिसलनेवाली नहीं होनी चाहिये। रंगमंच की पृष्ठभूमि के लिए काष्ठ के ६ फलक रखे जाने चाहिये। इनके मध्य की भूमि अच्छी काली मिट्टी से भरी होनी चाहिये और कछुये की पीठ के समान इसकी आकृति होनी चाहिये। इस मिट्टी में दर्पण की जैसी चमक होनी चाहिये। इस पृष्ठ की दीवार के मध्य में और रंगशाला की सभी दीवारों पर सिंह, गज, गुहा, पर्वत, नगर, पुष्पवाटिका आदि की आकृतियाँ चित्रित होनी चाहिये।

प्रेक्षा-गृह में सीट सीढ़ी के रूप में होती थीं। ये लकड़ी और ईंट की बनी होती थीं। अधिक से अधिक एक सहस्र दर्शकों के बैठने की व्यवस्था होती थी। मंच के पूर्व की ओर के स्थान राजवंश के लोगों के लिए होते थे। ब्राह्मण और विद्वान दक्षिण की ओर बैठते थे और राज-कर्मचारी मंच के समीप ही उत्तर की ओर बैठते थे।

रामगढ़ की सीतबेंगा गुहा में एक स्थायी रंगशाला मिलती है। इससे सिद्ध होता है कि नाट्यशास्त्रों में नाट्य के जो नियम दिये गये हैं वे काल्पनिक नहीं हैं, उनका यथार्थ में प्रयोग होता था। इसमें दर्शकों के बैठने और वाद्यकों के लिए भी अलग व्यवस्था थी। समीप की छोटी गुहा सम्भवतः कलाकारों के आराम करने के लिए प्रयुक्त होती थी।

ऐसे तो कोई भी व्यक्ति नाटकीय प्रदर्शनों से आनन्द प्राप्त कर सकता है किन्तु अभिनय की सूक्ष्म विशेषताओं का रसास्वादन वही कर सकता है जिसे इस शास्त्र का ज्ञान हो। इसीलिये नाट्यशास्त्रों में आदर्श दर्शक के गुणों का वर्णन दिया

गया है। भरत मुनि का कहना है कि नाटक का प्रदर्शन ऐसे व्यक्तियों के सम्मुख करना चाहिये जो चरित्रवान हों, उच्च कुल के हों, अच्छे व्यवहार और अच्छी शिक्षावाले हों, यश और गुण प्राप्त करने के इच्छुक हों, पक्षपात रहित हों, अधिक आयु के हों, नाट्य और उसके विभिन्न अंगों में कुशल हों, सजग, ईमानदार, बुरी भावनाओं से विचलित न हों, चारों प्रकार के वाद्य यन्त्रों के बजाने में कुशल हों, वेश-भूषा और अन्य प्रसाधन, प्राकृत भाषाओं के नियम, चार प्रकार के अभिनय, व्याकरण, छन्दशास्त्र और दूसरे शास्त्रों के ज्ञाता हों, विभिन्न कलाओं और उद्योगों में कुशल हों, अनुभावों और दशाओं का जिन्हें अच्छा ज्ञान हो। साथ ही भरत यह भी स्वीकार करते हैं कि ये सभी गुण एक साथ एक दर्शक में दुष्प्राप्य हैं, इसी से इनसे कम गुणवाले या साधारण व्यक्ति भी नाटकीय प्रदर्शन में जा सकते हैं लेकिन ऐसे दर्शक उच्च कोटि के अभिनय के गुणों को नहीं समझ सकते।

भारतवर्ष में नाटकों का इतिहास अति प्राचीन है। नाटकों की उत्पत्ति बहुत प्राचीन काल में हुई मालूम होती है। नाटक की उत्पत्ति और विकास के लिए नृत्य; गीत आदि जो तत्त्व आवश्यक हैं वे सभी वैदिक काल ही में दिखलाई पड़ते हैं। ऋग्वेद में कई संवाद सूक्त मिलते हैं। इनमें विभिन्न व्यक्तियों के परस्पर कथनोपकथन दिये गये हैं। ऐसे संवादों में पुरुरवस्-उर्वशी, यम-यमी, विश्वामित्र-नन्दी आदि के संवाद प्रसिद्ध हैं। इन सूक्तों में नाटकीय तत्त्व उपस्थित हैं। ऋग्वेद ही में उल्लेख आता है कि सोम-विक्रय के अवसर पर दर्शकों के मनोरंजन के लिए एक प्रकार का अभिनय होता था। महाव्रतस्तोम के अवसर पर कुमारियाँ अग्नि की परिक्रमा करती हुई नाचती और गाती थीं। ब्राह्मण काल के यज्ञों का स्वरूप भी कुछ अर्थों में नाटकीय ही था। यज्ञ में मूक भावों के प्रदर्शन के सुन्दर अवसर मिलते थे। यजुर्वेद में शैलूष शब्द का प्रयोग हुआ है।

रामायण में कई स्थलों में शैलूष, नट और नर्तक के निर्देश मिलते हैं। इसी ग्रन्थ में कहा गया है कि अराजक जनपद में नट और नर्तक प्रसन्न नहीं रहते। नट, नर्तक, गायक, सूत्रधार आदि के उल्लेख महाभारत में भी मिलते हैं। हरिवंश में तो राम के जीवन की कथा के नाटकीय प्रदर्शन का उल्लेख है। पाणिनि के समय तक नाटकों का प्रचार इतना बढ़ गया था कि नटों की शिक्षा के लिए सूत्र ग्रन्थ रचे जाते थे। पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में शिलालि और कृशाश्व के रचे नटसूत्रों का उल्लेख किया है। पतंजलि के महाभाष्य से कंसबन्ध और बलिवन्ध नाम के नाटकों के नाम का निर्देश मिलता है। पतञ्जलि ने उन शोभनिक, सौभिक या नटों का उल्लेख किया है जो प्रत्यक्ष रूप में कंस को मारते हैं और बलि को बाँधते हैं। पतञ्जलि ने यह भी उल्लेख किया है कि कंस वध नाटक में कंस के भक्त काले रंग से मुख को रंग कर अभिनय करते हैं और वासुदेव (कृष्ण) के भक्त लाल मुख बनाकर

अभिनय करते हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में वर्णन है कि नागरिकों के मनोरंजन के लिए पक्ष या मास के किसी प्रसिद्ध दिन सरस्वती के मन्दिर में नियुक्त व्यक्तियों के समक्ष समाज या उत्सव हो जिसमें बाहर से आये हुए कुशीलव या नट-नाटकों का प्रदर्शन करें। कालिदास ने कुमारसम्भव (७।९१) में एक सफल नाटक की परिभाषा दी है।

भारतवर्ष में नाटक और रंगमंच, की परम्परा आधुनिक काल तक चली आयी है। चित्रपट के विकास के कारण रंगमंच की लोकप्रियता निश्चय ही कम हो गयी है। रंगमच में शिक्षित, उच्च और कुशल वर्ग के न जाने के कारण रंगमंच के प्रदर्शनों का स्तर गिर गया है। किन्तु इधर फिर लोगों का ध्यान नाटकों की ओर आकर्षित हो रहा है। प्रारम्भ में भारतीय रंगमंच में पारसियों ने बहुत अधिक भाग लिया। इस समय तो बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और हिन्दी प्रदेश में नाटकीय परम्परा के विकास की ओर ध्यान दिया जा रहा है। कई सांस्कृतिक संस्थाएँ इस कार्य को कर रही हैं।

भारतीय सरकार ने भी साहित्य नाटक अकादमी की स्थापना करके नाट्य, नृत्य और संगीत आदि सभी क्षेत्रों में समुचित विकास के लिए प्रोत्साहन और संरक्षण की योजना बनाई है।

पठनीय सामग्री

Popley, H. A.—Music of India.
Fox Strangways, A. H.—Music of Hindustan.
Clements, E.—Study of Indian Music.
Bhat Khande—Historical Survey of Music.
Bhatkhande—A Comparative Study of Music Systems.
Keith, A. B.—The Sanskrit Drama.
Yajnik, R.K.—The Indian Theatre.
Jagirdar, R. V.–Drama in Sanskrit Literature.
Rukmini Devi—Indian Dance.

अध्याय ८

भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव

पिछले ४०० वर्षों के भीतर पश्चिम ने अपनी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार विश्व के विभिन्न देशों में किया। १५०० ई० तक पूर्व और पश्चिम की जीवन-विधि में कोई महान अन्तर नहीं था। पर बाद में विज्ञान के विकास तथा मशीनों के प्रचार के कारण पाश्चात्य सभ्यता में महत्त्वपूर्ण विशिष्टता आ जाती है। कालान्तर में उसका प्रभाव विश्व के कोने-कोने में फैलता है।

योरप की ईसाई धर्मावलम्बी सामुद्रिक शक्तियों के आगमन के पश्चात् भारत में १६वीं शताब्दी से पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव प्रारम्भ होने लगते हैं पहले पुर्तगालियों, डचों, फ्रांसीसियों तथा अँग्रेजों में व्यापार-सम्बन्धी अधिकारों के लिये होड़ रही। फिर फ्रान्सीसियों तथा अँग्रेजों में राजनीतिक शक्ति एवं प्रभुत्व के लिये भी संघर्ष हुआ। अन्ततोगत्वा १८वीं शताब्दी में भारत के एक विस्तृत भूभाग तथा बर्मा पर अँग्रेजों का शासन स्थापित हो गया। इससे भारत का पश्चिम से सम्बन्ध निकटतर हो गया। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति पतनोन्मुख हो गई थी। इस बीच पाश्चात्य संस्कृति एवं विचारों के प्रभाव देश में आते रहे। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक ये प्रभाव व्याप्त होते रहे। फलस्वरूप इन्होंने मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति को एक चुनौती दी। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पाश्चात्य सांस्कृतिक प्रभावों के स्वीकरण की तथा सामञ्जस्य एवं पुनरुत्थान की प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ होती हैं। इस प्रकार एक नवीन युग का उदय होता है जिसे आधुनिक काल कहते हैं।

पाश्चात्य सांस्कृतिक प्रभावों के स्वीकरण, उनके तथा भारतीय सांस्कृतिक विचारों, आदर्शों एवं प्रथाओं के समन्वय तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में भारतीय पुनरुत्थान की प्रवृत्तियों का युग अभी तक चलता जा रहा है। पाश्चात्य सभ्यता का भारत में प्रवेश कुछ तो अँग्रेजी शासन के कारण हुआ और कुछ काल-क्रम के प्रभाव से हुआ। उसका व्यापक प्रभाव सांस्कृतिक प्रथाओं, विचारों तथा जीवन के विविध अंगों पर दृष्टिगोचर होता है।

शिक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव—पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता का सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण प्रभाव शिक्षा के क्षेत्र में दिखाई देता है। इसका उल्लेख पहले ही हो चुका है कि ईसाई धर्म-प्रवर्त्तकों ने इस देश में अँग्रेजी शिक्षा का

प्रारम्भ किया। १८३५ ई० में लार्ड वेण्टिङ्क के शासनकाल में लार्ड मेकॉले ने स्कूलों में अँग्रेजी के माध्यम द्वारा शिक्षा देने का विधान किया। इससे शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। अँग्रेजी स्कूलों की संख्या भी बढ़ने लगी। १८४४ ई० में लार्ड हार्डिङ्ग ने सरकारी अँग्रेजी स्कूलों में शिक्षित व्यक्तियों को राजकीय नौकरियों में प्राथमिकता देने की नीति की घोषणा की। इससे अँग्रेजी शिक्षा का प्रचार बढ़ने लगा। इसके दस वर्ष बाद बम्बई, मद्रास और कलकत्ता में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सरकार ने स्त्री-शिक्षा को भी प्रचुर प्रोत्साहन दिया।

स्कूलों तथा कॉलिजों की अंग्रेजी शिक्षा के कारण लोगों के विचारों, दृष्टिकोणों तथा रहन-सहन में परिवर्तन आने लगा। अंग्रेजी साहित्य, पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान, भूगोल तथा इतिहास के अध्ययन से लोगों के विचारों में क्रांति आरम्भ हुई। स्वतन्त्रता, समानता और राष्ट्रीयता की भावनाओं तथा आलोचनात्मक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का उदय होने लगा। कुछ लोगों ने पाश्चात्य विचारों तथा परम्पराओं का अन्धानुकरण करना आरम्भ किया, कुछ ने पाश्चात्य एवं भारतीय आदर्शों के समन्वय का प्रयत्न किया तथा कुछ के हृदय में पाश्चात्य प्रभावों के कारण तथा पाश्चात्य दृष्टिकोण के आधार पर भारत के प्राचीन श्रेष्ठ आदर्शों के पुनरुत्थान की भावना जाग्रत हुई। इस प्रकार १९ वीं शताब्दी की बौद्धिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय पुनर्जागरण के युग का सूत्रपात हुआ और भारत का आधुनीकरण होने लगा।

भारतीय भाषाओं के साहित्य पर प्रभाव—पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति का प्रभाव विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य पर पड़ा। अंग्रेजी भाषा के माध्यम के द्वारा भारतीय विद्वानों एवं लेखकों की पहुँच अंग्रेजी साहित्य तथा योरप की अन्य भाषाओं के भी साहित्य तक हो गयी। इससे देशी भाषाओं के साहित्यमें भी पाश्चात्य साहित्यिक शैली, सामग्री तथा विचारों का समावेश होने लगा और उनका आधुनीकरण प्रारम्भ हुआ।

अंग्रेजी की पुस्तकों के अनुवाद द्वारा गद्य-साहित्य सम्पन्न होने लगा। इब्सन, गाल्सवर्दी, बर्नार्ड शा आदि नाटककारों का प्रभाव भारतीय नाट्य-साहित्य पर पड़ा। समस्या-नाटकों तथा एकांकी नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ। नाटकों में सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण तथा रंगमच के लिए विस्तृत संकेतों का प्रयोग होने लगा। लक्ष्मीनारायण मिश्र, गोविन्दवल्लभ पन्त आदि नाटककारोंकी कृतियों में पाश्चात्य प्रभाव की स्पष्ट झलक मिलती है। पश्चिमी कहानियों और उपन्यासों के साथ-साथ मौलिक कहानियों और उपन्यासों की भी रचना होने लगी। मौलिक रचनाओं में भी पाश्चात्य विषय और शैली का प्रभाव मिलता है। निबन्ध-साहित्य तथा आलोचना-साहित्य में भी पाश्चात्य तत्त्वों को ग्रहण किया गया। कविता के क्षेत्र में 'चतुर्दश

पदियों' और 'सम्बोधन गीतों' का प्रचार होने लगा जिनके पीछे अंग्रेजी के सॉनेट (Sonnet) और ओड (Ode) की प्रेरणा विद्यमान थी। अतुकान्त कविताओं का भी प्रचार अँग्रेजी कविता के प्रभाव से हुआ। मधुसूदन दत्त ने बँगला में तथा 'निराला' ने हिन्दी में अतुकान्त कविताओं की रचना की। अँग्रेजी की ही भाँति देशी भाषाओं में भी गीतों (lyrics) और छायावादी कविताओं की रचना होने लगी। ईसाई धर्मप्रचारकों ने बाइबिल के संदेश के प्रचारार्थ देशी भाषाओं में किताबें लिखीं और उनके लिये मुद्रणालय खोले। उन्होंने देशी भाषाओं के शब्दकोष तथा व्याकरण भी बनाये। पश्चिमी विद्वानों ने इन भाषाओं का इतिहास भी लिखा। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही बंगाली, गुजराती और हिन्दी के समाचार-पत्र भी निकलने लगे। इससे देश के विभिन्न भागों तथा विश्व के अन्य देशों की घटनाओं तथा गति-विधियों की जानकारी प्राप्त होने लगी।

भारत की प्राचीनतम भाषा संस्कृत के अध्ययन का पुनरुद्धार अंग्रेजी के माध्यम से विदेशी विद्वानों द्वारा ही हुआ। विल्किन्स, विलियम जोन्स, कोलब्रुक, विल्सन, मॉनियर विलियम्स, मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत ग्रन्थों का संकलन तथा अनुवाद किया तथा संस्कृत साहित्य के महत्त्व की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। अँग्रेज, जर्मन तथा अन्य विदेशी विद्वानों के प्रयत्नों के फलस्वरूप संस्कृत साहित्य में निहित प्राचीन भारतीय दर्शन, धर्म, कला तथा अन्य श्रेष्ठ विचारों की निधि की पुर्नप्राप्ति हुई। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानों ने प्राचीन शिलालेखों, अभिलेखों, सिक्कों तथा अन्य साहित्यिक ग्रन्थों का अध्ययन कर भारत के अतीत को भी लोगों के सामने प्रस्तुत किया। इन सबके फलस्वरूप विश्व की भारत में अभिरुचि जागृत हुई और भारतीयों में अपने प्राचीन गौरव के ज्ञान के साथ-साथ राष्ट्रीय भावना का विकास होने लगा।

भारतीय समाज और पाश्चात्य सभ्यता—पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से भारतीय सामाजिक प्रथाओं तथा जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आने लगा। पहले तो कुछ लोगों ने पश्चिम के प्रभाव को रोकने का प्रयत्न किया। पर राजा राममोहन राय जैसे प्रगतिशाली व्यक्तियों ने पाश्चात्य विचारों से प्रभावित होकर बालविवाह, बहुविवाह, अस्पृश्यता, पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा आदि सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया। पाश्चात्य विचारों और दृष्टिकोणों के प्रभाव से जाति-प्रथा के बन्धन भी शिथिल होने लगे। एक नवीन सामाजिक न्याय की भावना का उदय हुआ जिसके कारण समाज के सभी व्यक्तियों को उन्नति का समान अवसर देने के औचित्य को समझा जाने लगा। ईसाई मिशनरियों ने दलित-वर्ग की दशा सुधारने में महत्त्वपूर्ण कार्य किये। व्यक्तिवाद और समानता के आदर्शों के प्रभाव से ऊँच-नीच की भावना तथा अस्पृश्यता धीरे-धीरे कम होने लगीं। पाश्चात्य प्रभाव तथा आर्थिक

परिस्थितियों के कारण संयुक्त-परिवार की प्रथा को भी एक गहरा आघात लगा। पश्चिम के प्रभाव से स्त्रियों की दशा में भी महत्त्वपूर्ण सुधार हुआ। उन्हें कठोर सामाजिक बन्धनों से मुक्ति मिली तथा सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति हुई। पश्चिम के सम्पर्क से नैतिक विचारों में महान् परिवर्तन हो गया। वेष-भूषा, खान-पान, आचार-विचार, व्यवहार आदि में भी पाश्चात्य सभ्यता का गहरा प्रभाव पड़ा।

आर्थिक जीवन पर पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव—पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से भारत की आर्थिक व्यवस्था में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। पहले भारत में आर्थिक व्यवस्था की इकाई ग्राम थी जहाँ लोग कृषि तथा साधारण उद्योग-धन्धों से जीवन-निर्वाह करते थे। गाँवों में स्थानीयता तथा आर्थिक आत्म-निर्भरता थी। औद्योगीकरण की पाश्चात्य आर्थिक व्यवस्था के सम्पर्क के कारण यहाँ की ग्राम-व्यवस्था को गहरा आघात पहुँचा। गाँवों का पृथकत्व (Isolationism) समाप्त होने लगा।

पहले तो अंग्रेजी की नीति के कारण भारत के उद्योग-धन्धे समाप्त होने लगे। यहाँ का सब कच्चा माल विदेशों में जाने लगा। पर देश में नव जागरण के साथ ही इस स्थिति में भी परिवर्तन आने लगा। पाश्चात्य देशों के औद्योगीकरण को देख कर यहाँ के भी उद्योगपतियों ने औद्योगीकरण प्रारम्भ किया। नवीन व्यवसाय भी उत्पन्न हुए। व्यापार में भी वृद्धि होने लगी। इस प्रकार एक औद्योगिक क्रान्ति के युग का प्रारम्भ हुआ। देश की आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन आने लगा और समाज में एक मध्यम वर्ग का उदय हुआ। जीवन में भौतिकता के दृष्टिकोण की प्रधानता होने लगी और जीवन-स्तर भी बदलने लगा। नगरों की भी वृद्धि होने लगी। औद्योगीकरण के साथ ही श्रमिक समस्या भी उत्पन्न हुई। मिलों और कारखानों में कार्य करने वाले श्रमिकों के कार्य तथा वेतन की समस्यायें पैदा हुईं। अपनी स्थिति को सुधारने तथा अपनी माँगों की पूर्ति के लिये श्रमिकों ने अपने संघ निर्मित किये। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् श्रमिकों के देश-व्यापी संघ बनने लगे। १९२० ई० में नारायण मल्हार जोशी की अध्यक्षता में 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' की नींव पड़ी।। श्रमिक आन्दोलनों की प्रगति धीरे-धीरे बढ़ती गई।

श्रमिकों तथा कृषकों की आर्थिक अवस्था गिरती ही गई। इन परिस्थितियों में समाजवाद तथा साम्यवाद के पाश्चात्य सिद्धान्तों का देश में प्रचार होने लगा और उनके आधार पर आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक ढाँचे के बदलने का प्रयास प्रारम्भ हुआ। मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों के प्रभाव से आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन होने लगा। शोषक तथा शोषित वर्गों की भावना का भी विकास होने लगा।

भारतीय राजनीति पर पाश्चात्य प्रभाव—पाश्चात्य विचारों तथा शासन-पद्धति के प्रभाव राजनीतिक तथा वैधानिक क्षेत्र में भी दृष्टिगोचर होते हैं। ब्रिटिश शासन-काल में देश का राजनीतिक एकीकरण हुआ, आन्तरिक शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना हुई तथा बाह्य देशों से सम्पर्क बढ़ा। रेल, तार, डाक, मोटर गाड़ी आदि आवागमन तथा यातायात के साधनों का प्रचार अंग्रेजी शासन काल में हुआ। इसके कारण देश के विभिन्न क्षेत्र तथा जातियाँ एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आ गईं और देश की एकता की भावना दृढ़ होने लगी। पश्चिम की राष्ट्रीय चेतना की लहर भी यहाँ आने लगी। फलस्वरूप, राष्ट्रीयता की भावना का विकास होने लगा। राष्ट्रीयता का आदर्श पश्चिम की ही देन है। वाशिंगटन, क्रॉमवेल, मैज़िनी, गेरीबाल्डी आदि से इसकी प्रेरणा मिली। राष्ट्रीय जागृति के कारण पहले तो देश के सभी तत्त्व एक होने लगे पर ब्रिटिश कूटनीति ने साम्प्रदायिकता और पृथक निर्वाचन के आधार पर विभेद की सृष्टि कर दी। फलस्वरूप देश का विभाजन हो गया।

पाश्चात्य प्रभाव के कारण लोकतन्त्र और प्रजातन्त्र संस्थाओं का भी विकास होने लगा। साम्यवाद, समाजवाद और व्यक्तिवाद के सिद्धान्तों का भी प्रभाव बढ़ने लगा।

वैधानिक क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई। कानून धर्म से अधिकांशतः अलग हो गया। विधान की सर्वोपरि महत्ता की भावना का विकास होने लगा। इसी के साथ समानता और स्वतंत्रता के विचार भी सम्बन्धित हैं। विधान के सामने सब की समानता की भावना के कारण जाति, धर्म तथा वंश के आधार पर प्राप्त विशेषाधिकारों की मान्यता समाप्त होने लगी। पाश्चात्य विधान के प्रभाव से व्यक्ति की स्वतंत्रता का क्षेत्र भी विस्तृत हुआ।

धार्मिक जीवन पर पाश्चात्य प्रभाव—पाश्चात्य प्रभावों के कारण धार्मिक-जीवन में भी परिवर्तन हुए। तर्कपूर्ण तथा आलोचनात्मक दृष्टिकोण के विकसित होने के कारण धार्मिक अन्धविश्वासों और रूढ़ियों का अन्त होने लगा। भौतिकवाद तथा बुद्धिवाद के प्रभाव के कारण धार्मिक विधियों तथा कर्मकाण्ड का खण्डन होने लगा और कुछ लोगों में धर्म के प्रति श्रद्धा भी कम हो गयी। कुछ लोग ईसाई धर्म भी अपनाने लगे। परन्तु पुनर्जागरण तथा पुनरुत्थान के कारण इस प्रवृत्ति का अन्त होने लगा। राजा राममोहन राय ने बंगाल में ब्रह्मसमाज की स्थापना की जिसका उद्देश्य समाज-सुधार तथा धर्म-सुधार था। दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज को जन्म दिया और शुद्धि-आन्दोलन का सूत्रपात किया। इससे हिन्दू धर्म में शक्ति का संचार हुआ। विवेकानन्द ने वेदान्त-दर्शन के संदेश की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट किया और इस प्रकार भारतीय धर्म तथा दर्शन के प्रति लोगों की श्रद्धा बढ़ने लगी।

कला के क्षेत्र में पाश्चात्य प्रभाव—वर्तमानकाल में भारतीयों को अपनी

ललितकला के गौरव का ज्ञान पाश्चात्य विद्वानों ने ही कराया। फर्ग्युसन, हैवेल, पर्सीब्राउन, सिस्टर निवेदिता आदि ने भारतीय कला के प्रधान तत्त्वों का मूल्यांकन कर उन्हें विश्व के सामने रखा। इससे प्राचीन भारतीय-कलाशैली का पुनरुत्थान हुआ। पर पाश्चात्यकला के तत्त्वों को भी ग्रहण किया। पाश्चात्य चित्र-कला की स्वाभाविक शैली का प्रभाव भारत के अनेक कलाकारों पर पड़ा। कला के क्षेत्र में पाश्चात्य प्रभावों का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है।

विज्ञान के प्रभाव—विज्ञान तथा मशीनों के प्रभाव से आज विश्व के भौतिक जीवन तथा विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये हैं। भारतीय जीवन में भी विज्ञान के प्रभाव व्याप्त हो चुके हैं। रेल, मोटर, वायुयान आदि विज्ञान के आविष्कारों द्वारा दूर-से-दूर का स्थान भी समीप हो गया है। रेडियो, टेलीफोन, तार और बेतार के तार द्वारा पलक मारते ही एक छोर से दूसरे छोर तक समाचार पहुँच जाते हैं। ग्रामोफोन, रेडियो तथा चलचित्रों ने मनोरंजन का प्रचुर साधन प्रदान किया है। 'एक्सरे', इन्जेक्शन, नाना प्रकार के यन्त्रों, औषधियों आदि के कारण चिकित्सा-शास्त्र का भी काया-कल्प हो गया है। नित्यप्रति के जीवन में भी कपड़ा, फर्नीचर, कागज, फाउन्टेन-पेन, पुस्तकों, समाचार-पत्र, घड़ी, बिजली का प्रकाश, कैमरा, विलास के साधन इत्यादि सभी विज्ञान की देन हैं। विज्ञान ने असंख्य मशीनों को जन्म दिया है। छोटे-से-छोटे कार्य के लिये भी मशीन का आविष्कार हो गया है। इससे एक ओर तो श्रम की बचत हुई है दूसरी ओर सम्पत्ति का केन्द्रीकरण तथा उसका अ-समान बटवारा दिखाई देता है, गरीबी तथा श्रम की समस्यायें भी उत्पन्न हुई हैं।

विज्ञान ने प्रकृति पर अपूर्व अधिकार प्राप्त कर लिया है। उसके चमत्कारों की चकाचौंध ने भारतीय मस्तिष्क को भी अभिभूत कर दिया। विज्ञान ने अन्वेषण तथा अनुसन्धान की भावना और तर्कपूर्ण बौद्धिक दृष्टिकोण भी प्रदान किया। इससे कुछ सामाजिक तथा धार्मिक रूढ़ियाँ तिरोहित होने लगीं। कुछ लोगों में सभी प्राचीन सामाजिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक मान्यताओं के प्रति श्रद्धा भी कम होने लगी। पर कुछ भारतीय एवं विदेशी विद्वानों तथा विचारकों ने भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ तत्त्वों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया और इस प्रकार उसके गौरव की वृद्धि हुई।

समन्वय तथा पुनरुत्थानके प्रतीक गाँधी जी—पाश्चात्य प्रभावों के कारण भारतीय जीवन तथा संस्कृति में आश्चर्यजनक परिवर्तन आ गये हैं। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्राचीन सांस्कृतिक दृष्टिकोण तथा मान्यतायें एक दम निर्जीव हो चुकी हैं। कुछ लोग भले ही कहें कि किसी समाज के आदर्श, दृष्टिकोण, जीवनके स्वरूप, साहित्य, धर्म, कला इत्यादि उसकी तत्कालीन उत्पादन-विधि के वातावरण द्वारा निर्मित तथा निर्धारित होते हैं। पर उत्पादन विधि में विज्ञान और मशीनों के कारण अन्तर आ जाने पर भी भारतीय सांस्कृतिक चेतना के अन्तस्तल में पुरातन

मान्यताओं की शक्ति विद्यमान है। भौतिकवाद के अन्धकार में समय-समय से उसका आलोक प्रगट होता रहा है। वर्तमान कालमें गाँधी जी उस आलोक के केन्द्र-विन्दु थे। उनके जीवन तथा दृष्टिकोण में भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक मान्यताओं तथा पाश्चात्य संस्कृति के स्वस्थ आदर्शों का समन्वय मिलता है। वे एक ओर तो आत्म-संयम, आत्म-त्याग, आध्यात्मिकता, सत्य-दर्शन, अहिंसा, मानव-सेवा आदि भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों के उज्ज्वल प्रतीक थे और दूसरी ओर स्वतन्त्रता, समानता, राष्ट्रीयता तथा मानववाद के पाश्चात्य विचारों के समर्थक थे। अन्तरात्मा के निर्देश को सर्वप्रधान मानते हुये भी उनका दृष्टिकोण तर्कपूर्ण तथा आलोचनात्मक था। विज्ञान के प्रति अन्ध भक्ति के वे विरुद्ध थे। मशीनों का भी उन्होंने विरोध किया क्योंकि उनसे मनुष्य प्रकृति से दूर हट जाता है; उत्पादन के केन्द्रीकरण से पूँजीवादी तथा श्रमिक वर्गों का संघर्ष, सम्पत्ति की असमानता तथा गरीबी उत्पन्न होती है; इस प्रकार मानव पतन के गर्त में पड़ जाता है। मानव स्वभाव की आधारभूत नैतिकता में उनका अटूट विश्वास था और उन्होंने सत्य, अहिंसा, शान्ति तथा मानव-सेवा द्वारा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के सुलझाने का मार्ग दिखलाया। गाँधी जी में पूर्व तथा पश्चिम के समन्वय के रूप में मानव सांस्कृतिक चेतना के विकास का एक नवीन स्तर दृष्टिगोचर होता है।

पठनीय सामग्री

O'malley, Modern India and the West.
Rawlinson, India (A short Cultural History).
S. Radhakrishnan, East and West.
J. L. Nehru, Discovery of India.
Jogendra Singh and Desh Raj Goel. (Editors), Spirit of Our Time.
B. N. Lunia, Evolution of Indian Culture.

अध्याय ९

विज्ञान

पाश्चात्य देश के लोग भारत को संसार से विमुख हुए मुनियों, तपस्वियों, दार्शनिकों और विचारकों की भूमि मानते हैं। उनकी धारणा है कि सभ्यता के क्षेत्र में भारत की जो कुछ देन है वह मुख्यतः दर्शन और धर्म से ही सम्बन्धित है। भौतिक विषयों और विज्ञान के क्षेत्र में भारत की आधुनिक काल की पिछड़ी हुई दशा देखकर वे कभी भी यह मानने के लिए तैयार नहीं होते कि इन विषयों में भी भारत का भूतकाल गौरवपूर्ण था। वैज्ञानिक विषयों में भारत की उन्नत दशा का कुछ ज्ञान साहित्यिक ग्रन्थों में उल्लेखों, प्राचीनकाल के अवशेषों और विज्ञान-सम्बन्धी कुछ उपलब्ध हस्तलिपियों से होता है। ऐसी आशा है कि यदि इस क्षेत्र में भी परिश्रम से शोध-कार्य किया जाय तो भारतीय विज्ञान के विस्मृत-प्राय इतिहास की कुछ कड़ियाँ खोज निकाली जा सकती हैं। यहाँ भारतीय विज्ञान की महत्त्वपूर्ण कृतियों का निर्देश किया जायगा।

गणित

गणितशास्त्र के तीन अंग माने जाते हैं—अंकगणित, बीजगणित और रेखा-गणित। प्राचीन भारत में इन तीनों ही अंगों की महत्त्वपूर्ण उन्नति हुई थी।

वेदोंके अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अंकगणित का प्रारम्भ उसी काल में हो गया था। जोड़, घटाना, गुणा और भाग जो अंकगणित के आधारभूत अंग हैं वे वैदिक काल में निश्चित ही विदित थे। यजुर्वेद में एक स्थल पर एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्यम, अन्त और परार्ध संख्याओं का उल्लेख मिलता है। यजुर्वेद ही के एक दूसरे प्रसंग से दो और चार के पहाड़े का निर्देश मिलता है। वैदिक साहित्य में ही विभिन्न वेदों के अक्षरों की संख्याएँ दी हुई हैं।

वैदिक काल ही में रेखागणित का भी विकास यज्ञों के सम्बन्ध में हुआ। रेखागणित के कुछ पारिभाषिक शब्द जैसे प्रभा, प्रतिमा, निदान, परिधि और छन्द आदि ऋग्वेद के यज्ञवेदी आदि से सम्बन्धित मन्त्रों में मिलते हैं। भारत में रेखागणित की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। शुल्व सूत्र में जो कल्पसूत्र के अन्तर्गत आते हैं रेखागणित सम्बन्धी ज्ञान भरा है। इनमें यज्ञों के लिए भूमि बनाने और यज्ञ-वेदी आदि के निर्माण के विषय में नियम दिये गये हैं। यज्ञ के लिए आवश्यक था कि

यज्ञ की वेदी के आकार और नाप सही हों। वेदी की आकृति के लिए समकोण और दूसरे प्रकार के कोण, त्रिकोण, वर्ग और वृत्त आदि के बनाने और नापने के नियमों की आवश्यकता होती थी। शुल्व सूत्रों में चतुर्भुज के क्षेत्रफल के बराबर वर्ग, वर्ग के बराबर वृत्त, दो वर्गों के क्षेत्रफल के योग अथवा अन्तर के बराबर वृत्त बनाने आदि के नियम दिये गये हैं। इनमें $\sqrt{२}$ का मान निकालने की विधि दी गयी है। कुछ समीकरण भी दिये गये हैं जैसे $३^२+४^२=५^२$। कुछ जटिल रेखागणित के प्रश्नों के हल भी इन सूत्रों में मिलते हैं जैसे यदि किसी वर्ग की भुजा 'अ' हो और उतने ही क्षेत्रफल के किसी वृत्त का व्यास 'ड' हो तो $\frac{अ}{ड}=\frac{१२२४}{१३९४}$।

अंकगणित ही नहीं अपितु पूरे गणित के क्षेत्र में भारत की सबसे महान देन है सशून्य दशांश गणना विधि। बहुत समय तक लोगों की यह धारणा थी कि गणना की दशमलव विधि का जन्म अरब देश में हुआ था। किन्तु अब इस विचार को सभी भ्रान्तिपूर्ण मानते हैं। अरब स्वयं गणित को भारतीय विज्ञान् (हिन्दसा) कहते थे। इब्नवशिया, अल्मसूदी और अल्बरूनी नाम के अरब विद्वान् स्वयं ही इस विधि के आविष्कार का श्रेय भारतीयों को देते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अरब देशवासियों ने दशमलव विधि और गणित-संबंधी अन्य ज्ञान भारत के पश्चिमी तट के साथ व्यापार करने वाले व्यापारियों अथवा ७१२ ई० में सिन्ध की विजय करने वाले अरब लोगों से प्राप्त किया था। प्रसिद्ध भारतीय गणितज्ञ आर्यभट (४४९ ई०) ने वर्गमूल और घनमूल निकालने की विधि का वर्णन किया है जिससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि उसे दशमलव की इस गणना विधि का ज्ञान था। इसी प्रकार से वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर, पद्मनाथ और दूसरे बाद के गणितज्ञों के ग्रन्थों में भी इस ज्ञान को आधार के रूप में देखा जा सकता है। पेशावर के समीप बक्खाली में जो हस्तलिपि १८८१ ई० में मिली थी वह भी इस विधि का प्रयोग करती है। किन्तु भारत का पहला अभिलेख जिसमें तिथि इस विधि से लिखी गई है ६९५ ई० का है और गुजरात के संखेद नामक स्थान में उपलब्ध हुआ है। दशमलव विधि के अधिक उपयोगी होने पर भी जो अभिलेख के लिपिकारों ने प्राचीन विधि का प्रयोग ही बनाये रखा उसका कारण ऐसे लोगों की रुढ़िवादिता है। इस प्रकार से यद्यपि इस आविष्कार की तिथि निश्चित प्रकार से नहीं बतलाई जा सकती फिर भी यह चौथी शताब्दी ईसवी से बाद की नहीं है। इस विधि का प्रयोग इतना स्वाभाविक लगता है कि आधुनिक काल में हमारे लिये इसके वास्तविक महत्त्व का अनुभव करना कठिन है। इससे पूर्व घड़ियों में प्रयुक्त होने वाले रोमन अंकों की भाँति विभिन्न संख्याओं के लिये विभिन्न चिह्न प्रयुक्त होते थे। इससे संख्याओं के लिखने और गणना करने में जो असुविधायें होती थीं उनका अनुमान लगाया जा सकता है। बाशम नाम के पाश्चात्य विद्वान् का कहना है कि "यूरोप जिन

महान खोजों और आविष्कारों के लिये गर्व करता है उनमें से अधिकांश गणित की विकसित व्यवस्था के बिना संभव नहीं हो सकते थे और यदि यूरोप रोमन संख्याओं की असुविधाजनक विधि से ही जकड़ा होता तो गणित की ऐसी उच्च व्यवस्था ही असंभव थी। विश्व के दृष्टिकोण से बुद्ध के बाद भारत का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सपूत वह अज्ञात व्यक्ति है जिसने इस नवीन विधि को प्रतिपादित किया। उसकी सरल दिखलाई पड़ने वाली गौरवपूर्ण कृति एक उच्चकोटि के विवेचक मस्तिष्क की देन है और वह अभी तक प्राप्त मान से भी अधिक का अधिकारी है।"

आर्यभट ने ही सर्वप्रथम गणित की स्वतन्त्र विषय के रूप में विवेचना की। उसके ग्रन्थ आर्यभटीय में भिन्न, वर्गमूल और घनमूल जैसे प्रारम्भिक विषयों के अतिरिक्त evolution, involution श्रेणी, बीजगणितीय तादात्म्य जैसे कठिन विषयों का भी विवेचन है। पाश्चात्य विद्वान् ज्या के कार्यों को ढूँढ़ने का श्रेय अरब के गणितज्ञों को देते हैं किन्तु उनसे भी पहले हम आर्यभट को ज्या के कार्यों का वर्णन करते पाते हैं। आर्यभट ने π का मान अत्यधिक रूप से शुद्ध दिया है। उसने इसका मान $\frac{६२८३२}{२००००}$ या ३·१४१६ बतलाया है। पाश्चात्य जगत में π की ऐसी शुद्ध गणना बहुत समय बाद ही सम्भव हो सकी थी।

ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ ब्रह्मसिद्धान्त के कुट्टकाध्याय और गणिताध्याय का सम्बन्ध गणित से है। उसने वर्गमूल और घनमूल, ऐकिक नियम, व्याज और श्रेणी जैसी अंकगणित की क्रियाओं का विवेचन किया है। रेखागणित में उसने समकोण त्रिभुज, वृत्त के तत्त्व, साधारण ठोस ज्यामिति, छाया के प्रश्न आदि के विवरण दिये हैं। ऋणात्मक और धनात्मक राशियों, शून्य, करणी, साधारण बीजगणितीय तादात्म्य अनिर्धारित राशियों के एक और दो घातों के समीकरणों का भी विवेचन है। चार अज्ञात राशियों के समकालिक समीकरणों पर विशेष ध्यान दिया गया है।

भास्कराचार्य के ग्रन्थ सिद्धान्त-शिरोमणि में लीलावती और बीजगणित नाम के प्रकरण गणित से सम्बन्धित हैं। लीलावती में गणित के प्रश्न और उनके उत्तर मनोरंजक रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। पूर्ववर्ती गणितज्ञों ने $\frac{४}{0} = x$ कहा था किन्तु भास्कराचार्य ने सिद्ध किया कि इसका मान असीम ($\propto$) है। इसी प्रकार उसने सिद्ध किया कि $\frac{\propto}{x} = \propto$

खगोल विद्या

भारतीय खगोल विद्या का प्रारम्भ वैदिक साहित्य ही में लक्षित होता है। यज्ञों को विधिवत् करने के लिए उनका उचित समय पर प्रारम्भ और अन्त होना चाहिये।

इसी से ग्रह और नक्षत्र के सम्बन्ध में ज्ञान का प्रारम्भ बहुत पहले ही दिखलाई पड़ता है। यद्यपि वैदिक साहित्य में बहुत से स्थलों पर ग्रह, नक्षत्र और दूसरे खगोल विद्या से सम्बन्धित विषयों पर काल्पनिक सामग्री और आख्यान मिलते हैं लेकिन साथ ही ऐसे अंश भी कम नहीं हैं जिनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। वैदिक काल में ऋषियों को चन्द्र, गुरु, मंगल और शनि आदि का ही नहीं अपितु चित्रा, रेवती, पूर्वफाल्गुनी और मघा आदि नक्षत्रों का भी ज्ञान था। ब्राह्मण साहित्य में एक स्थान पर कहा गया है कि सूर्य का उदय और अस्त नहीं होता, बल्कि सूर्य ही चक्कर लगाकर पृथ्वी पर दिन और रात को जन्म देता है। वैदिक आर्यों को चान्द्र और सौर दोनों प्रकार के मासों का ज्ञान था। उस काल में यह ज्ञान था कि चान्द्र मास २९½ दिन का और इसी से तीस दिन के साधारण मास से थोड़ा कम होता है। चान्द्र मास की गणना का सौर मास की गणना से सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये पंचवर्षीय चान्द्र सौर चक्र की कल्पना की गई। हर पाँचवे वर्ष सूर्य, चन्द्र आदि की स्थिति पहले जैसी मानी जाती थी। मास का प्रारम्भ कभी कृष्ण पक्ष और कभी शुक्ल पक्ष में माना जाता था। शतपथ ब्राह्मण में चन्द्र और सूर्य के सहवास को ही अमावस्या कहा गया है। वैदिक ऋषि विषुवीय और संक्रान्ति का भी समय-समय पर पर्यावेक्षण करते थे। सूर्यघड़ी की कील की सहायता से वे चारों दिशाओं का भी निर्णय करते थे। उन्होंने सूर्य और चन्द्र-ग्रहण का अवलोकन कर उन पर भी विचार किया था।

खगोल विद्या का वैदिक कर्मकाण्डों से इतना घनिष्ट सम्बन्ध था और वैदिक काल में खगोल विद्या का इतना अधिक विकास हुआ कि उत्तर वैदिक काल में छः वेदाङ्गों में ज्योतिष की भी गणना होने लगी। ज्योतिष के नाम से निश्चय ही कई ग्रन्थों की रचना हुई होगी लेकिन दुर्भाग्य से इनमें से केवल एक ही उपलब्ध है। इस ग्रन्थ का नाम ज्योतिष वेदाङ्ग है और इसके रचयिता लगध माने जाते हैं। यह ग्रन्थ श्लोकों में है। सूत्रों जैसी शैली और पाठ की अशुद्धता के कारण यह ग्रन्थ केवल आंशिक रूप में ही बोधगम्य है। इसमें ३६६ दिनों वाले पाँच वर्षों के युग का सिद्धान्त दिया गया है। एक वर्ष का १२ सौर मासों में और एक मास का ३० दिनों में विभाजन किया गया है। एक दिन का मान ६० घटिका कहा गया है। इसमें संक्रान्ति के अवसर पर और पौर्णमासी और परीवा के अवसर पर नक्षत्रों के चक्र में सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया है।

वेदोत्तर काल में ही इस विषय के दूसरे ग्रंथ रखे जा सकते हैं। किन्तु इनमें से वृद्ध गर्ग-संहिता नाम के ग्रन्थ का सम्बन्ध प्रमुखतः ज्योतिष से है खगोल से नहीं। अथर्ववेद से सम्बन्धित कुछ साहित्य भी खगोल-विषयक ही हैं।

खगोल विद्या के विकास में जैन मतावलम्बियों ने भी महत्त्वपूर्ण योग दिया।

जैन लोगों का सूरियपण्णति नाम का उपाङ्ग खगोल विद्या का एक वृहद् ग्रन्थ है।

वेबेर (Weber) नाम के विद्वान् ने लद्दाख के लेह नामक स्थान पर जो हस्तलिखित सामग्री प्राप्त की थी उसमें से एक खगोल विद्या से सम्बन्धित है। महाभारत, पुराणों और मनुस्मृति में भी खगोल और ब्रह्माण्ड के वर्णन के अंश हैं। इसी युग के लिये सावित्र-ग्रन्थ और षष्ठाब्द ग्रंथ तथा वृहस्पति, पितामह, पराशर, गर्ग, सिद्धसेन, जीवशर्मा, लाटाचार्य, सिंहाचार्य, आदि ज्योतिष के विद्वानों के नाम के उल्लेख बाद की रचनाओं में मिलते हैं। इन सबसे यह स्पष्ट भासित होता है कि खगोल शास्त्र के विकास की गति अबाधित थी। इस समय तक के ग्रन्थों में ग्रीक खगोल शास्त्र के प्रभाव के कोई भी चिह्न नहीं दिखलाई पड़ते। इसी समय में कृत, त्रेता, द्वापर और कलि नाम के चार युगों के सिद्धान्त का प्रथम दर्शन होता है।

आगे के काल में खगोल-विषयक ज्ञान की वृद्धि के साथ ही इससे सम्बन्धित ग्रन्थों की संख्या में भी निश्चय ही वृद्धि हुई। खगोल शास्त्र के इन ग्रन्थों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१—सिद्धान्त जिसमें खगोल की किसी एक पद्धति का विस्तृत वर्णन होता है, २—करण जो खगोल सम्बन्धी गणना को सरलता और शीघ्रता से करने में सहायक होते हैं, ३—ऐसे ग्रन्थ जिनमें खगोल सम्बन्धी गणना के लिये चक्र और तालिकायें होती हैं और ४—प्राचीन ग्रंथों पर टीकायें।

वराहमिहिर ने अपने पञ्चसिद्धान्तिका नाम के ग्रंथ में सूर्य, वशिष्ठ, पैतामह, पौलिश और रोमक नाम के पाँच सिद्धान्तों का वर्णन किया है। ऐसे तो कुछ ग्रंथ इन्हीं सिद्धान्तों के नाम से प्रचलित हैं लेकिन वे स्पष्ट ही वराहमिहिर के बाद की रचनायें हैं। या तो वे प्राचीन ग्रन्थों के ही परिवर्द्धित और शोधित रूप हैं अथवा प्राचीन नामों से नितान्त नवीन रचनाये हैं। इन सिद्धान्तों के मूल ग्रन्थों के लुप्त हो जाने के कारण इनके विषय में हमें केवल पंचसिद्धान्तिका पर ही निर्भर होना पड़ता है। इन सिद्धान्तों के काल के विषय में भी कोई निश्चित बात नहीं ज्ञात है। वराहमिहिर ने इनका प्रामाणिक सिद्धान्तों के रूप में उल्लेख किया है। इससे इनका समय ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में माना जा सकता है। प्रत्येक दशा में इन्हें लगध के पश्चात् और आर्यभट्ट से पूर्व रखा जा सकता है।

इनमें से पैतामह सिद्धान्त तो खगोल शास्त्र के वैज्ञानिक युग से पूर्व का है लेकिन अन्य की पद्धति और विचार अधिक विकसित मालूम होते हैं। कुछ विद्वानों का यह मत है कि ये चारों सिद्धान्त ग्रीक खगोल विज्ञान पर आधारित हैं अथवा इन्हें ग्रीक विज्ञान का ज्ञान अवश्य था। यह मत रोमक और पौलिश सिद्धान्तों के विषय में अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। रोमक सिद्धान्त का नाम ही रोम के नगर या रोमन

साम्राज्य के नाम से सम्बन्धित है। इसमें वर्ष के मान की गणना वही है जो हिप्पारकस (Hipparchos) और टॉल्मी (Ptolemy) ने की है। इस सिद्धान्त में भारतीय परम्परा के विरुद्ध एक युग में २८५० सौर वर्ष बतलाये गये हैं। इसी प्रकार से पौलिश सिद्धान्त का नाम पॉलस अलेक्जेण्ड्रियानस (Paulus Alexandrianus) के नाम से लिया गया प्रतीत होता है। पौलिश और रोमक दोनों ही सिद्धान्तों में यवनपुर नामक नगर के अक्षांश का निर्देश है। इन सब से इन सिद्धान्तों का पाश्चात्य ऋण स्पष्ट लक्षित होता है। सूर्य सिद्धान्त में भी कहा गया है कि इसे रोमक नगर में सूर्य ने असुर मय को सर्व प्रथम बतलाया था। इस प्रकार से यह अत्यधिक सम्भव मालूम होता है कि भारतीयों को ग्रीक खगोल शास्त्र का ज्ञान था और भारत ने ग्रीस से इस शास्त्र की कई बातें सीखीं। भारतीय खगोल शास्त्र के कई शब्दों में भी पाश्चात्य प्रभाव दिखलाई पड़ता है, उदाहरणार्थ हारिज (horizon), कोण (cone), केन्द्र (centre) और होरा (hora)। किन्तु इन सबसे यह निष्कर्ष निकालना ठीक न होगा कि इन सिद्धान्तों की सभी बातें ग्रीक उत्पत्ति की हैं। इनमें कई स्थानों पर भारतीय विचार और सिद्धान्त मिलते हैं और पाश्चात्य खगोल शास्त्र से कई स्थलों पर इनका विरोध भी दिखलाई पड़ता है।

वराहमिहिर ने और भी कई खगोल के विद्वानों का उल्लेख किया है जैसे लाट, सिंह, प्रद्युम्न और विजयनन्दिन्। लेकिन इन सभी से अधिक प्रसिद्धि आर्यभट को मिली है। उनके रचित ग्रन्थों में केवल आर्यभटीय, दशगीतिका सूत्र और आर्याष्टशत ही उपलब्ध हैं। स्वयं आर्यभट ही के कथन के अनुसार उनका जन्म ४७६ ई० में संभवतः पाटलिपुत्र में हुआ था। उन्होंने आर्यभटीय की रचना ४९९ ई० में की थी। आर्यभट ने सूर्यसिद्धान्त को ही अपना मूल आधार बनाया है किन्तु उनकी मौलिकता भी स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। आर्यभट के ही ग्रन्थों से भारतवर्ष में खगोल के शास्त्रीय और वैज्ञानिक रूप में विकसित होने के निर्देश मिलते हैं। इन्होंने ग्रहों की सही गति पर भी विचार किया है। ज्योतिष में जीवा के प्रथम उपयोग का श्रेय भी इन्हें है। आर्यभट ने ही सर्वप्रथम पृथ्वी को एक गोला बतलाया जो प्रतिदिन अपनी धुरी पर घूमती है। आर्यभट ही ने ग्रहण की वैज्ञानिक विवेचना की। वे प्रचलित विश्वास के विरुद्ध ग्रहण को राहु के कारण उत्पन्न नहीं बतलाते थे। उनका कहना था कि चन्द्रमा पर पृथ्वी की छाया पड़ने से ग्रहण होता है। लेकिन दुर्भाग्य से बाद के खगोल विशेषज्ञों ने इस वैज्ञानिक सत्य को नहीं समझा और इसकी तीव्र आलोचना की।

आर्यभट के बाद वराहमिहिर का नाम आता है। इनका जन्म ५०५ ई० और मृत्यु ५८७ ई० में बतलाई जाती है। इतना तो निर्विवाद है कि वे पाँचवीं शताब्दी के अन्त में हुये थे। वराहमिहिर ने ज्योतिष शास्त्रके तीन अंग बतलाये हैं—तन्त्र (गणित और खगोल) होरा (कुण्डली) और संहिता (फलित ज्योतिष)। इन सभी विषयों पर

वराहमिहिर ने कई ग्रन्थों की रचना की है—पञ्चसिद्धान्तिका, बृहत्संहिता, बृहद्विवाह-पटल, स्वल्पविवाहपटल, योगयात्रा, लघुजातक और बृहज्जातक।

श्रीशेष ने रोमक सिद्धान्त पर एक टीका लिखी है। ये वराहमिहिर के समकालीन अथवा उनसे कुछ बाद के थे।

वराहमिहिर के बाद ब्रह्मगुप्त ही अधिक प्रसिद्ध हुये। उनका जन्म ५९८ ई० में राजस्थान के भिनमाल नगर में हुआ था। उन्होंने अपने ग्रन्थ ब्रह्म सिद्धान्त की रचना ६२८ ई० में और खण्डखाद्य की सम्भवतः ६६५ ई० में की थी। उनके इन दोनों ही ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद हुआ था। सम्भवतः उन्होंने ध्यानग्रह की भी रचना की थी। ये अधिकांश रूप से अपने पूर्ववर्तियों के मत को स्वीकार करते हैं। लेकिन इनकी विवेचना विस्तृत और सम्बद्ध है। ब्रह्मसिद्धान्त के ११ वें अध्याय में इन्होंने अपने पूर्ववर्तियों विशेष रूप से आर्यभट की तीव्र आलोचना की है। खगोल विषयक कई समस्याओं को हल करने का इन्होंने प्रयत्न किया है।

भास्कराचार्य का जन्म १११४ ई० में खानदेश के विज्जलवीड़ ग्राम में हुआ था। इन्होंने सिद्धान्तशिरोमणि नाम के ग्रन्थ की रचना ११५० ई० में की थी। इस ग्रन्थ के तीसरे और चौथे भागों के नाम हैं ग्रहगणिताध्याय और गोलाध्याय। इनका सम्बन्ध खगोल विद्या से है। भास्कराचार्य की अत्यधिक प्रसिद्धि है। सूर्यसिद्धान्त के बाद सिद्धान्त शिरोमणि ही का स्थान आता है। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता इसी से समझी जा सकती है कि इस पर लगभग बीस टीकायें मिलती हैं। लेकिन भास्कर ने किसी नवीन सिद्धान्त को नहीं प्रतिपादित किया है। उनकी रचना पूर्णरूप से ब्रह्मगुप्त ही पर आधारित है। भास्कराचार्य ने स्वयं एक टीका भी जोड़ दी है जिसमें गूढ़ नियमों को विस्तार के साथ सिद्ध किया और समझाया गया है। भास्कराचार्य ने अपने दूसरे ग्रन्थ करण-कुतूहल की रचना ११७८ ई० में की थी।

मुस्लिम विजय के पश्चात् भारतीय खगोल विद्या में अरबी और फारसी तत्त्वों का प्रवेश होता है किन्तु वे इतने सशक्त नहीं थे कि प्राचीन धारा को रोक सकें। १६५८ ई० में कमलाकर ने सिद्धान्त विवेक नाम के ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ में यद्यपि कुछ तत्त्व फारसी और अरबी स्रोतों से लिये गये हैं किन्तु मूलतः इसका आधार सूर्य सिद्धान्त ही है।

ज्योतिष शास्त्र

भारतवर्ष में ज्योतिषशास्त्र खगोल विद्या से ही सम्बन्धित माना गया है। इस शास्त्र में नक्षत्रों और ग्रहों के शुभ और अशुभ होने का विवेचन करके उनसे मनुष्य के भाग्य का अध्ययन किया जाता है। केवल भारतवर्ष में ही नहीं सभी पूर्वी देशों में इस शास्त्र का अधिक गौरव है। ब्राह्मण साहित्य में ही हम विवाह और दूसरे अवसरों

के लिये शुभ और अशुभ ग्रहों का उल्लेख पाते हैं। समाज में इसी कारण से ज्योतिष शास्त्र के जाननेवालों का ऊँचा स्थान था। धर्मसूत्रों में उन्हें राजा के लिये उतना ही महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है जितना कि पुरोहित। लेकिन साथ ही ज्योतिष से सम्बन्धित व्यवसाय अशुद्धि और अशौच उत्पन्न करनेवाले समझे जाते थे।

दुर्भाग्य से ज्योतिष सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। इस विषय में केवल एक ही अपवाद वृद्धगर्गसंहिता का है। लेकिन सम्भवतः यह ग्रन्थ भी पूर्णरूप से अपने मूल स्वरूप में नहीं मिलता।

जैसा कि पहले ही कहा गया है वराहमिहिर ने ज्योतिषशास्त्र के तीन अंग बतलाये हैं। इनमें से होरा का सम्बन्ध कुण्डलियों से है। शाखा या संहिता में फलित ज्योतिष का अध्ययन होता है। इसमें प्राकृतिक या दैवी घटनाओं विशेषकर नभमण्डल के चिह्नों से शकुन और अपशकुन का निर्णय किया जाता है। फलित ज्योतिष की भारत में स्वतन्त्र उत्पत्ति मालूम होती है। किन्तु होरा पर ग्रीक खगोल विद्या का प्रभाव स्पष्ट है। न केवल स्वयं होरा शब्द बल्कि दूसरे पारिभाषिक शब्द और बहुत-सी सामग्री भी ग्रीक पुस्तकों से प्रभावित लगती है। सम्भवतः इस शास्त्र का जन्म बैबिलोनिया में हुआ था जहाँसे ग्रीक और दूसरी जातियों ने इस विद्या को सीखा। भारतवर्ष में यह विद्या कब आई इसका निर्णय करना कठिन है। लेकिन कदाचित् यह तीसरी शताब्दी ईसवी की बात है। वराहमिहिर की रचनाओं में बृहत्संहिता का प्रमुख स्थान है। ऐसे तो इसमें ज्योतिषशास्त्र के सभी अंगों का विवेचन है लेकिन फलित ज्योतिष की बातें इसमें अधिक हैं। वास्तव में यह तो भारतीय साहित्य की प्रमुख रचनाओं में से है। फलित ज्योतिष का संसार की अनेक बातों से सम्बन्ध होने के कारण सामाजिक जीवन के अनेक विषयों के उल्लेख इसमें मिलते हैं। इसके अन्तर्गत भवन-निर्माण, कुँए का खोदा जाना, उद्यान बनवाना, पृथ्वी के भीतर जल की धारा का पता लगाना, मूर्ति-निर्माण आदि कई विषयों का विवेचन है। कुछ में रत्नों का विवरण और कुछ में कामशास्त्र के कुछ अंशों जैसी सामग्री है। शकुन और अपशकुन का विवेचन ११ अध्यायों में किया गया है।

ऐसे तो बृहत्संहिता ही के दो अध्यायों में विवाह के विषय में कुछ विवेचन है वराहमिहिर ने विवाह के लिये शुभ तिथियों के सम्बन्ध में दो अलग ग्रन्थों की रचना की है। इनके नाम हैं बृहद्विवाहपटल और स्वल्पविवाहपटल। योगयात्रा नाम की पुस्तक में राजा की युद्ध-यात्रा के अवसर पर शुभ और अशुभ शकुनों का वर्णन किया गया है।

होरा जिसे जातक भी कहते हैं का सम्बन्ध कुण्डलियों से होता है। इस विषय पर वराहमिहिर ने दो ग्रन्थ लिखे हैं—बृहज्जातक अथवा होराशास्त्र और लघुजातक।

इन ग्रन्थों में मनुष्य के जन्म के अवसर पर ग्रहों की स्थिति के अनुसार उसके भाग्य या भविष्य का पता लगाया जाता है।

६०० ई० के लगभग वराहमिहिर के पुत्र पृथुयशस् ने होराषट्पञ्चाशिका नाम के ग्रन्थ की रचना की। इस विषय के कई ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जैसे बृहत् और लघु पाराशरी, जातकसूत्र, भृगुसंहिता, नाड़ी ग्रन्थ और मीनराज जातक या यवन जातक।

१० वीं शताब्दी में भट्टोत्पल ने पृथुयशस् और वराहमिहिर के ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखीं। इन टीकाओं का यह महत्त्व है कि इनमें पूर्ववर्ती विद्वानों के ग्रन्थों से उद्धरण दिये गये हैं। भट्टोत्पल ने स्वयं होराशास्त्र नाम के एक ग्रन्थ की रचना की थी।

ज्योतिषशास्त्र की बाद की रचनाओं में ज्योतिर्विदाभरण उल्लेखनीय है। यह ग्रन्थ सम्भवतः १६ वीं शताब्दी की कृति है। इसमें अरबी ज्योतिषशास्त्र का भी उल्लेख है। इस ग्रन्थ में इसे कालिदास की रचना बतलाया गया है। इसी में वह श्लोक है जिसमें कालिदास और दूसरे आठ व्यक्तियों को विक्रमादित्य की सभा के नवरत्न कहा गया है।

वराहमिहिर के बाद एक नये प्रकार के ज्योतिषशास्त्र के ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ हुई। इन्हें मुहूर्त कहते हैं। इनमें धार्मिक कृत्यों, कुटुम्ब के उत्सवों, यात्रा और दैनिक जीवन की ऐसी दूसरी आवश्यकताओं के लिए शुभ मुहूर्त निकालने का विवरण है।

मुसलिम आक्रमणों के साथ ही भारतीय ज्योतिष में अरबी और फारसी प्रभावों का प्रवेश हुआ। इसी प्रभाव के कारण एक नये प्रकार के ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ हुई जिन्हें ताजिक कहते हैं।

स्वप्नों की व्याख्या, भविष्य की बात और शकुनों आदि के विषय में अनेक ग्रन्थ रचे गये। ऐसे ग्रन्थों में जगद्देव की स्वप्नचिन्तामणि प्रसिद्ध है।

भौतिक शास्त्र

प्राचीन भारत में आज की भाँति भौतिकशास्त्र का अध्ययन स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में नहीं था। जो कुछ भी भौतिकशास्त्र के तत्त्व या सिद्धान्त प्राचीन भारत में विकसित हुये थे वे दूसरे शास्त्रों और दूसरी विद्याओं के साथ। प्राचीन काल में भौतिकशास्त्र प्रधान रूप से दर्शन और धर्म के सहायक के रूप में था और भौतिकशास्त्र के तत्त्व दार्शनिक पृष्ठभूमि के साथ ही जुड़े दिखलाई पड़ते हैं।

भौतिकशास्त्र के सिद्धान्तों से साम्य रखते हुए जिन तत्त्वों का प्राचीन भारत में जन्म और विकास हुआ उनमें एकत्व का सिद्धान्त प्रमुख है। इस सिद्धान्त के दर्शन वैदिक साहित्य में भी होते हैं। "तत्त्वमसि" के प्रसिद्ध वाक्य में भी एकत्व

का विचार निहित है। ऐसे तो इस सिद्धान्त में आध्यात्मिक एकत्व को ही महत्त्व दिया गया है किन्तु इसके साथ ही भौतिक जगत में भी दृश्यमान अनेकत्व के पीछे एकत्व को उपस्थित माना गया है। आधुनिक वैज्ञानिकों के एलेक्ट्रान और उनसे सम्बन्धित वैज्ञानिक शोधों में इसी सिद्धान्त का वैज्ञानिक और प्रयोगात्मक रूप दिखलाई पड़ता है।

प्राचीन भारत में दार्शनिकों ने परमाणुवाद का भी सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। वैशेषिकों, बौद्धों और जैनियों का इस विषय पर विशेष विवेचन है। जैनियों का मत है सभी परमाणु एक जैसे हैं किन्तु अन्य दर्शन सिद्धान्त विभिन्न तत्त्वों के परमाणुओं में अन्तर मानते हैं। प्रायः परमाणु को नित्य माना जाता था किन्तु बौद्ध लोगों का कहना है कि किसी भी परमाणु का अस्तित्व दूसरे पल नहीं रह जाता है; दूसरे पल एक दूसरा ही परमाणु उसका स्थान ले लेता है। परमाणु मनुष्य के नेत्रों से नहीं देखे जा सकते। वैशेषिक सिद्धान्त का तो कहना है कि परमाणु आकार रहित बिन्दुमात्र हैं। एक परमाणु का आकार ३४९६८२८ इंच माना गया है। परमाणुओं में गुण केवल निहित रहते हैं और परमाणुओं के परस्पर संयोग के बाद ही वे प्रकट होते हैं। वैशेषिकों का मत है कि पदार्थों के रूप में संयोग होने से पूर्व दो और तीन परमाणुओं के संयोग होते हैं। बौद्धों और आजीविकों का विचार है कि साधारणतया परमाणु अपने विशुद्ध रूप में उपलब्ध नहीं होते अपितु कई प्रकार के परमाणुओं के मिश्रण से बने अणुओं के रूप में ही मिलते हैं। इस सिद्धान्त से इस तथ्य का भी विवेचन हो जाता है कि पदार्थों में कई तत्त्वों के गुण परस्पर मिले हुये दिखलाई पड़ते हैं। भारतीय परमाणुवाद प्रयोग और अनुसन्धान का परिणाम नहीं है। यह तर्क और अन्तर्दर्शन पर आधारित है। सभी दार्शनिक इसे नहीं स्वीकार करते थे। भारतीय परमाणुवाद का महत्त्व उसकी प्राचीनता में भी है। पाश्चात्य देशों में परमाणुवाद के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का श्रेय १८वीं शताब्दी के डाल्टन नाम के वैज्ञानिक को दिया जाता है। भारत में तो कणाद ने इसे बहुत ही प्राचीन काल में प्रस्तुत किया था। भारतीय परमाणुवाद पर ग्रीक प्रभाव की आशंका नहीं हो सकती। बुद्ध के समकालीन पकुध कच्चायन नाम के एक विचारक ने भी परमाणु के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था।

भारतवर्ष में भौतिक जगत् की उत्पत्ति मूल प्रकृति से मानी गई है। इस सिद्धान्त का सबसे अधिक विकसित रूप सांख्यदर्शन में मिलता है। मूल प्रकृति में सत्त्व, रज और तम तीन गुण माने गये हैं। भारतीय विचार में पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु इन पाँच तत्त्वों की कल्पना की गई है। इन्हीं के संयोग से सृष्टि बतलाई गई है।

प्रकाश के विषय में भी भारतीयों का ज्ञान अद्भुत रूप से आधुनिक वैज्ञानिक

सिद्धान्तों के जैसा विकसित था। ऋग्वेद में सूर्य को सात अश्वों के रथ वाला और सात किरणों वाला कहा गया है। स्पष्ट है कि वैदिक काल ही में भारतीयों को यह ज्ञात था कि प्रकाश में सात रंग मिले होते हैं।

प्राचीन भारत में गतिशीलता उसके भेद और कारणों का भी विवेचन होता था। प्रशस्तपाद ने तात्कालिक, वेग और संस्कार आदि गतिशीलता के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया है। गतिशीलता के और भी भेदों का उल्लेख किया गया है जैसे प्रयत्न, आकर्षण, स्पन्दन, अदृष्ट, संयोगजन्य, नोदन, अभिघात गति और वेगद्रव्य संयुक्त गति। उदयन ने नोदन (दबाव के कारण उत्पन्न होने वाली गति) के सम्बन्ध में विमानों का उल्लेख किया है। विमानों के भारतीय साहित्य में कई उल्लेख आते हैं।

भारतीयों ने शब्द और ध्वनि का भी वैज्ञानिक विवेचन किया है। मीमांसकों ने शब्द के तीन भेद माने हैं—नाद, ध्वनि और स्फोट। न्यायवैशेषिकों के अनुसार जल में उत्पन्न होने वाली वृत्ताकार लहर की भाँति शब्द हवा में वृत्त के रूप में बढ़ते हैं। इसे वीचि-तरंग-न्याय कहते हैं। घण्टे के कम्पनयुक्त शब्द को 'कम्पन-सन्तान-संस्कार' कहा गया है। संगीत में तो शब्द और ध्वनि को अत्यधिक वैज्ञानिक रीति से समझने का प्रयत्न किया गया है।

रसायन शास्त्र

भारतवर्ष में रसायन शास्त्र का अधिकतर अध्ययन वैद्यक और धातुशास्त्र की सहायक विद्या के रूप में होता था। इस शास्त्र की उत्पत्ति संभवतः प्रागैतिहासिक काल ही में हुई थी। वैदिक साहित्य में अनेक धातुओं की बनी वस्तुओं के प्रयोग के उल्लेख मिलते हैं। यजुर्वेद में मणिकार और सुवर्णकार आदि के उल्लेख आते हैं। इन सब से स्पष्ट है कि वैदिक काल में आर्यों को धातु-ज्ञान था। धातुओं के गलाने आदि की क्रियाओं के लिये रसायन शास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। इससे हम यह कह सकते हैं कि वैदिक काल में ही भारतीयों को रसायनिक क्रियाओं का ज्ञान था। छान्दोग्य उपनिषद में एक स्थल पर धातुओं के संकर (alloys) बनाने का निर्देश मिलता है। ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज ने खनिज पदार्थों के और उनसे बने आभूषणों और अस्त्र-शस्त्रों के विषय में भारत की समृद्धि का वर्णन किया है।

संस्कृत साहित्य में रसायन शास्त्र से सम्बन्धित विषयों और रसायनिक क्रियाओं के कई महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं। जनप्रिय साहित्य में आये इन उल्लेखों से इस शास्त्र के विशेष विकास का कुछ अनुमान किया जा सकता है। गुणाढ्य ने रसायनशास्त्र के विद्वानों और शरीर की सभी क्रियाओं का स्तम्भन करने वाले चूर्ण का उल्लेख किया है। भवभूति ने उत्तररामचरित में एक स्थल पर पुटपाक का उल्लेख किया है। दण्डिन् के दशकुमारचरित में योगचूर्ण और योगवर्तिका

के उल्लेख आते हैं। योगचूर्ण के सेवन से गहरी नींद आती थीं और योगवर्तिका बिना अग्नि के प्रकाश देती थी। वृन्द (९५० ई०) ने रसामृतचूर्ण (sulphide of mercury) और पर्पटीताम्र (cuprous sulphide) का उल्लेख किया है। प्राचीन ग्रन्थों में भस्मीकरण, अधः पातन, अर्ध्वपातन, स्वेदन और स्तम्भन आदि के भी उल्लेख आते हैं।

चरक और सुश्रुत के ग्रंथों से पता चलता है कि धातुओं से रसायनिक क्रियाओं के द्वारा चिकित्सा के लिये सम्मिश्रण आदि बनाये जाते थे। चरकसंहिता में भौतिक द्रव्यों के गुणों का विवरण दिया गया है। इन ग्रंथों में महाभूतों के परस्पर सम्मिश्रण का भी उल्लेख मिलता है।

पतञ्जलि का नाम लौह-शास्त्र के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ प्राप्त नहीं है किन्तु बाद के ग्रन्थों में इससे उद्धरण दिये गये हैं। संभवतः इस ग्रन्थ में धातु-सम्बन्धी क्षार, और विविध सम्मिश्रण बनाने, धातु निकालने और शुद्ध करने आदि रासायनिक क्रियाओं का वर्णन था। 'विद' नाम के सम्मिश्रणों का भी कदाचित् पतञ्जलि ने ही सर्वप्रथम पता लगाया था।

प्रसिद्ध अरबी यात्री अलबेरुनी जिसने भारतवर्ष में १०१७ से १०३० ई० तक रह कर भारतीय विद्याओं का अध्ययन किया भारतवर्ष में रसायनिक ज्ञान के विकास के विषय में कहता है 'मैंने भारतीयों को अबरख के शोधीकरण, भस्मीकरण, विश्लेषण और वर्धीकरण आदि प्रक्रियाओं की विवेचना करते पाया''उन लोगों में कीमियागरी (elchemy) के समान एक विद्या है जो उन्हीं लोगों की विशेषता है। वे इसे रसायन कहते हैं।''यह एक विद्या है जो पौधों से निकाली गयी क्रियाओं, औषधियों, रसायनिक यौगिकों और दवाओं से ही सम्बन्धित होती है। इसके सिद्धान्तों ने निराश रोगियों को स्वास्थ्य और वृद्धों को भी युवावस्था की शक्ति प्रदान की है।' अथर्ववेद ही में "आयुष्याणि" शब्द आता है। अथर्ववेद ही में सुवर्ण को जीवन का अमृत कहा गया है। इस प्रकार से रसायन या कीमियागरी की विद्या का प्रारम्भ बहुत पहले ही हो गया था। कज्जली बनाने का श्रेय नागार्जुन नाम के विद्वान् को दिया जाता है। नागार्जुन ने स्रावण और भस्मीकरण की क्रियाओं का पता लगाया था। अलबेरुनी का कहना है कि "सोमनाथ के निकट डाहेक के किले का रहनेवाला नागार्जुन कीमियागरी में प्रसिद्ध था। वह इसमें विशेष कुशल था और उसने एक ग्रन्थ की रचना की जो इस विषय के सम्पूर्ण साहित्य का सार है। यह ग्रन्थ सरलता से प्राप्य नहीं है।" ह्वेनसांग का भी कथन है कि "नागार्जुन बोधिसत्व औषधियों के सम्मिश्रण में कुशल था। एक औषधि के प्रयोग से जिससे न तो मस्तिष्क और न स्वरूप ही क्षीण होने पाये वह कई सौ वर्षों तक जीवन को स्थिर रख सकता था।"

क्षार बनाने और उसके उपयोग में भी हिन्दू रसायनशास्त्री पाश्चात्य देश के समकालीन वैज्ञानिकों से आगे थे। वे मृदु क्षार और मध्यम क्षार का अन्तर समझते थे और मृदुक्षार को मध्यमक्षार में परिवर्तित करने और उसके एकत्रीकरण की पद्धति को जानते थे।

रसार्णव और रसरत्न समुच्चय नाम के ग्रन्थों से मालूम होता है कि अयस्कों से जस्त निकालने की विधि भारतीयों को विदित थी। रसार्णव में रसक को ऐसा खनिज पदार्थ बतलाया गया है जो ताम्बे को सुवर्ण में परिवर्तित कर देता है। रसरत्न समुच्चय में अयस्कों के न्यूनीकरण की क्रिया का विस्तृत वर्णन है।

रसायनिक क्रियाओं में प्रयोग में लाने के लिये भारतीयों के पास कई यन्त्र थे जैसे दोलयन्त्रम्, स्वेदनी यन्त्रम्, पातन यन्त्रम्, वालुका यन्त्रम्, तिर्यक्पातन यन्त्रम् और विद्याधर यन्त्रम्। प्राचीन ग्रन्थों में प्रयोगशालाओं की स्थिति, उनमें रखे जानेवाले यन्त्र और दूसरी सामग्रियों तथा उनमें कार्य करने के योग्य व्यक्तियों के विषय में विशद नियम दिये गये हैं।

वराहमिहिर की बृहत्संहिता से ज्ञात होता है कि रसायनशास्त्र के सिद्धान्तों और उनके व्यावहारिक ज्ञान का विभिन्न उद्योगों में प्रयोग होता था। उसने रागगन्ध-युक्तिविदः का उल्लेख किया है जो विभिन्न रंगों और सुगन्धित पदार्थों को बनाते थे। उसने बकुल, उत्पल आदि पुष्पों के तत्त्वांश से वैसी ही सुगन्धि के कृत्रिम द्रव्यों के बनाने की विधि का भी वर्णन किया है। बृहत्संहिता में शिलादारण, शस्त्रपान और वृक्षायुर्वेद आदि के भी विवरण दिये गये हैं। वराहमिहिर ने कई लेप और चूर्ण बनाने की विधि का भी उल्लेख किया है। वज्रलेप इन्हीं में से एक है। अशोक के स्तम्भों और बौद्ध मन्दिरों की चमक भी कदाचित् ऐसे ही किसी लेप के प्रयोग के कारण है।

प्राचीनकाल में इस्पात बनाने में भारतीयों ने विशेष कुशलता प्राप्त की थी। भारतीयों की बनाई तलवारें अत्यधिक प्रसिद्ध थीं और अरबों के माध्यम से फारस के लोगों को भी इनका परिचय मिला था। कुतुबमीनार के समीप २४ फीट ऊँचा ६½ टन भारी एक लोहे का स्तम्भ है जो लगभग १६०० वर्ष बीतने पर भी बड़ी अच्छी दशा में है। इस पर इतने समय के बाद भी मोर्चा नहीं लग पाया। इतने बड़े स्तम्भों की ढलाई भी पाश्चात्य देशों में आधुनिक काल ही में सम्भव हो पाई है। आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् भी इसके निर्माण-कौशल से चकित हो जाते हैं और स्वीकार करते हैं कि इससे भारतीयों की उच्चकोटि की रसायनशास्त्र की कुशलता लक्षित होती है। इस कालकी कई वृहदाकृति की धातु मूर्तियाँ भी इस विज्ञान की उन्नति की सूचना देती हैं। बरमिंघम में इसी काल की एक ७½फीट ऊँची बुद्ध प्रतिमा सुरक्षित है।

आयुर्वेद

वेदों में आयुर्वेद तथा शरीर-व्यापार-सम्बन्धी शास्त्र का उद्गम खोजा जा सकता है।

अथर्ववेद में कुछ रोगों तथा कीटाणुओं का उल्लेख मिलता है। प्राचीन भारत में आयुर्वेद का विशेष महत्त्व था। इसे अथर्ववेद का उपाङ्ग माना जाता था। भारतीय आयुर्वेद के सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ चरक-संहिता और सुश्रुत-संहिता हैं। इनका रचनाकाल क्रमशः प्रथम-द्वितीय शताब्दी तथा चतुर्थ शताब्दी माना जाता है। इनमें भारतीय आयुर्वेद का विकसित रूप मिलता है। चरक-संहिता आठ भागों में विभक्त है जो निम्नलिखित हैं:—

(१) **सूत्र स्थान**—इस विभाग में वैद्य के कर्त्तव्यों, औषधि के प्रयोग, रोग के उपचार आदि का वर्णन है।

(२) **निदान-स्थान**—इसमें ज्वर, क्षय तथा अन्य रोगों के सम्बन्ध में बताया गया है।

(३) **विमान-स्थान**—इसमें शरीर के विभिन्न रसों, महामारियों तथा उनके उपचार का वर्णन मिलता है।

(४) **शारीर स्थान**—इसमें शरीर, जीव आदि का वर्णन है।

(५) **इन्द्रिय स्थान**—इसमें ज्ञानेन्द्रियों, और शरीर के अन्य अंगों तथा उनके रोगों के सम्बन्ध में बताया गया है।

(६) **चिकित्सा-स्थान**—इसमें ज्वर, पीलिया, दमा आदि अनेक रोगों तथा उनके उपचार का वर्णन है।

(७) **कल्प-स्थान**—इसमें जुलाब तथा मन्त्र द्वारा उपचार की विधि बताई गई है।

(८) **सिद्धि स्थान**—इसमें वस्ति कर्म, मूत्र रोग आदि का विवेचन है।

सुश्रुत संहिता में विशेष रूप से शल्य-कर्म (चीड़-फाड़) का वर्णन है। उसके छः विभाग निम्नलिखित हैं:—

(१) **सूत्र-स्थान**—इसमें शरीर के तत्त्वों, चीड़-फाड़ के औजारों तथा घावों का वर्णन है।

(२) **निदान-स्थान**—इसमें अनेक रोगों की पहचान के सम्बन्ध में बताया गया है।

(३) **शारीर स्थान**—इसमें शरीर-शास्त्र का पूर्ण विवेचन मिलता है।

(४) **चिकित्सा-स्थान**—इसमें रोगों के निदान, चिकित्सा, घावों आदि का विवेचन मिलता है।

(५) **कल्प-स्थान**—इसमें विशेष रूप से विषों के उपचार की विधि बताई गयी है।

(६) **उत्तर-स्थान**—इसमें सिर, आँख, नाक, कान आदि के रोगों का विवेचन मिलता है; इसके अतिरिक्त इसमें ज्वर, संग्रहणी, क्षय आदि के उपचार की भी विधि मिलती है।

प्राचीन परम्परा के अनुसार भारतीय आयुर्वेद के आठ विभाग माने गये थे:—

(१) शल्य—इसमें चीड़-फाड़ द्वारा घावों के उपचार का विवेचन मिलता है।

(२) शालाक्य—इस विभाग में आँख, नाक, कान, आदि के रोगों का निदान तथा उपचार मिलता है।

(३) काय-चिकित्सा—इसमें रोगी शरीर की औषधि आदि का वर्णन मिलता है।

(४) भूत-विद्या—इसमें भूतों और पिशाचों के दूषित प्रभाव को हटाने की विधियाँ मिलती हैं।

(५) कुमार-भृत्य—इसमें बालकों के रोगों का विवेचन मिलता है।

(६) अगद—इसमें औषधि प्रयोग का वर्णन किया जाता है।

(७) रसायन—इसमें नाना प्रकार के रसायन बनाने की विधियाँ मिलती हैं।

(८) वाजीकरण—इसमें नाना प्रयोगों का वर्णन मिलता है।

आयुर्वेद के विकास में योगशास्त्र तथा बौद्ध धर्म का विशेष हाथ था। योगशास्त्र का सम्बन्ध शरीर-शास्त्र से विशेष था। बौद्ध भिक्षु आयुर्वेद में विशेष कुशलता प्राप्त करते थे जिससे कि वे अपने सहयोगी भिक्षुओं तथा साधारण व्यक्तियों का उपचार कर सकें। कुछ विद्वानों का मत है कि आयुर्वेद के विकास पर यूनानी प्रभाव भी परिलक्षित होते हैं। सुश्रुत के बाद आयुर्वेद का अधिक विकास नहीं दृष्टिगोचर होता है। पर पूर्व मध्यकाल में तन्त्रों के प्रभाव के कारण रसायन शास्त्र का विशेष विकास हुआ।

भारतीय-चिकित्सा-शास्त्र में वात, पित्त, कफ इन्हीं तीन के संतुलन को स्वास्थ्य का आधार माना गया है। शरीर के रोग इनके संतुलन के बिगड़ जाने से उत्पन्न होते हैं। इनका सम्बन्ध क्रमशः सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से माना गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि प्राचीन भारतीय वैद्यों को मस्तिष्क की क्रिया का विशेष ज्ञान नहीं था। पर स्नायु-संस्थान एवं मेरुदण्ड के सम्बन्ध में उन्हें समुचित ज्ञान था। शरीर-शास्त्र का भी ज्ञान अल्प नहीं था। टूटी तथा उखड़ी हुई हड्डियों के जोड़ने तथा बैठाने की कला में भारतीय विशेष प्रवीण थे। चिकित्साके क्षेत्र में शुद्ध वायु एवं प्रकाश के भी महत्त्व का सम्यक् ज्ञान था।

जीव-विज्ञान

आधुनिक काल में जीव-विज्ञान का अध्ययन दो पृथक् विभाजनों में होता है—जन्तु शास्त्र और वनस्पति शास्त्र। वैदिक साहित्य में ही जीवधारियों को तस्थुष् और जगत् अर्थात् स्थावर और जंगम दो भागों में विभाजित किया गया है। यह

विभाजन ही आधुनिक जीव-विज्ञान के दो विभाजनों के पीछे निहित है। प्राचीन भारत में जीव-विज्ञान के विभिन्न सिद्धान्तों और तत्त्वों का विकास हुआ था किन्तु इन विषयों का अध्ययन और विवेचन पूर्णरूप से आधुनिक काल की विधि जैसा नहीं था। ये प्रायः वैद्यक या चिकित्सा शास्त्र के ही अन्तर्गत आते थे।

वैज्ञानिक जगत् में वनस्पतियों में भी जीवन होने का सिद्धान्त आधुनिक काल ही में खोजा गया है किन्तु यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि वेदों और उपनिषदों में ही यह उल्लेख आता है कि वनस्पति जीवधारी होते हैं और वे भी सुख-दुःख आदि का अनुभव करते हैं। महाभारत में वनस्पतियों में भी इन्द्रिय-ज्ञान बतलाया गया है और कहा गया है कि ये भी गरमी, ठण्ड, मेघ-गर्जन, सुगन्ध और दुर्गन्ध आदि के प्रभाव का अनुभव करते हैं। उदयन ने कहा है कि मनुष्यों के समान वृक्ष आदि भी जीते, मरते, सोते, जागते, बीमार होते, औषधि आदि का उपयोग करते, अनुकूल के प्रति आकर्षित और प्रतिकूल के प्रति अपकर्षित होते हैं। चरक और सुश्रुत की संहिताओं में वनस्पतियों से सम्बन्धित बहुत-सी सामग्री है। दोनों ही ने पौधों के वनस्पति, वानस्पत्य, औषधि और वीरुध ये चार विभाग किये हैं। अमरकोष में विभिन्न प्रकार के पौधों की एक लम्बी सूची दी गई है। पतंजलि ने एक वृक्ष को जड़, तना, फल और पत्तियों से मिलकर बना बतलाया है। अमरकोष ने भी पौधों के विभिन्न भागों के नाम दिये हैं। पतंजलि ने एक स्थान पर इसका विवेचन किया है कि उमा और भङ्गा धान्य हैं अथवा नहीं। इससे पौधों के वैज्ञानिक अध्ययन में साधारण व्यक्ति की रुचि का ज्ञान होता है। वनस्पति-शास्त्र विशेषकर उपवन और कृषि से सम्बन्धित के ग्रन्थों की रचना प्राचीन काल में हुई थी। इनमें पौधों के विषय में आश्चर्यजनक सामग्री मिलती है।

प्राणिशास्त्र से सम्बन्धित बहुत-सी बातें वैदिक साहित्य ही में मिलती हैं। चरक, सुश्रुत, प्रशस्तपाद और उमास्वाति आदि ने तो इस विषय का शास्त्रीय विवेचन किया है। चरक और सुश्रुत दोनों ही ने प्राणियों के चार मुख्य विभाग बतलाये हैं—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज। प्रशस्तपाद ने दो और विभागों के नाम बतलाये हैं—योनिज और अयोनिज। जिन पशुओं का सामरिक महत्त्व था उनके विषय में कई ग्रन्थों की रचना हुई थी। ऐसे ग्रन्थों में इन पशुओं के विषय में कई वैज्ञानिक विवरणों के साथ उनके विभिन्न रोगों की चिकित्सा के लिए उपाय बतलाये गये हैं। ऐसे अधिकतर ग्रन्थ अब प्राप्य नहीं हैं लेकिन दूसरे ग्रन्थों में उनके उल्लेख या उनसे उद्धरण अवश्य मिलते हैं। हाथियों के विषय में पालकाट्य की गज चिकित्सा, गजायुर्वेद, गजदर्पण, गजपरीक्षा और गजलक्षण के नाम गिनाये जा सकते हैं। अश्वों के विषय में जयदत्त की अश्व चिकित्सा, नकुल का शालिहोत्रशास्त्र, अश्वतन्त्रगण का अश्वायुर्वेद, अश्वलक्षण और हयलीलावती उल्लेखनीय हैं। जैन

पण्डित हंसदेव ने मृगपक्षिशास्त्र की रचना की। इसमें विभिन्न पशु और पक्षियों के विषय में विस्तृत विवरण दिये गये हैं।

मध्ययुग में विज्ञान की अवनति—भारतीय विज्ञान के इतिहास में १२०० ई० से १८९० ई० के सात सौ से अधिक वर्ष अधः पतन एवं निष्क्रियता के वर्ष थे। वैज्ञानिक प्रगति की जो धारा प्राचीन काल में बह रही थी वह इस काल में सर्वथा लुप्त-सी हो गयी। इस वैज्ञानिक अवनति के कारण विवेचनीय हैं।

पहला कारण था समाज में धर्म के महत्त्व की अनुचित वृद्धि। भारतीय संस्कृति के धर्मप्रधान होते हुये भी भारत में सदा सराहनीय और सफल रूप से विभिन्न सामाजिक कर्त्तव्यों और आदर्शों में सन्तुलन और समन्वय स्थापित करने के प्रयत्न हुये हैं। मध्य युग से पूर्व भारतीय जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का सुन्दर सामंजस्य था किन्तु मध्य युग में यह सन्तुलन समाप्त हो गया। धर्म को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण सांसारिक विषयों का महत्त्व घटने लगा। इसी से वैज्ञानिक और अन्य लौकिक विषयों का अध्ययन गौरव का विषय न रहा। उपेक्षित होने के कारण विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति अवरुद्ध हो गयी।

धर्म का महत्त्व बढ़ने ही से धार्मिक ग्रन्थों के महत्त्व में भी वृद्धि हुई। धर्म ग्रन्थ सभी विषयों में प्रमाण माने जाने लगे। वैज्ञानिक क्षेत्रों में भी धर्मग्रन्थों ही को प्रमाण समझने की प्रवृत्ति चल निकली। इससे स्वाभाविक ही अवैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रचलन हुआ। किसी भी विषय में वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर सत्य को खोजने के स्थान पर विद्वानों का वर्ग भी धर्मग्रन्थों में आये अन्ध विश्वासों के समर्थन को ही अपना लक्ष्य समझने लगा। इस प्रकार लोकप्रियता की लालसा की वेदी पर वैज्ञानिक सत्यों की बलि चढ़ी। भारत में वैज्ञानिक अनुसंधानों की प्रवृत्ति स्थगित सी हो गयी। स्वतन्त्र वैज्ञानिक अन्वेषणों के स्थान पर प्राचीन ग्रन्थों के भाष्य रचने में ही भारतीयों की बुद्धि और प्रतिभा का प्रयोग होने लगा। प्राचीन ग्रन्थ पूज्य समझे जाते थे और सभी विद्यायें और सभी सत्य उनमें निहित माने जाते थे।

इसी मनोवृत्ति से संबंधित एक दूसरा कारण था। प्राचीन काल में शिक्षा और ज्ञान के क्षेत्र में भारतीयों की मनोवृत्ति अत्यधिक उदार थी। सभ्यता के नवीन और उपयोगी तत्त्वों को वे सभी स्थानों से ग्रहण करने के लिए तत्पर रहते थे। इसमें वे किसी हीनता या संकोच की भावना का अनुभव नहीं करते थे। किन्तु मध्यकाल में उनकी मनोवृत्ति संकीर्ण हो गई और उनमें मिथ्याभिमान की भावना का जन्म हुआ। प्रसिद्ध अरब यात्री अलबेरुनी को भारतीयों की इस प्रवृत्ति का भलीभाँति ज्ञान था। भारतीयों के विषय में वह कहता है कि उनका अभिमान इतना अधिक है कि खुरासान या फ़ारस के किसी विज्ञान या विद्वान् का उल्लेख करने वाले को वे अज्ञानी और झूठा समझते हैं। भारतीय विज्ञान और सभ्यता की दृष्टि से केवल अपने देश और

अपनी जाति को ही सब कुछ समझते थे। अलबेरुनी ने स्वयं इस मिथ्याभिमान की भावना का कारण भारतीयों का दूसरे देशों की यात्रा न करना और दूसरी जातियों से न मिलना बतलाया है।

विज्ञान की इस अवनति का कुछ सम्बन्ध मध्ययुग में भारत में बौद्धधर्म के लुप्तप्राय हो जाने से भी है। हम जानते हैं कि बौद्धों में विशेषकर उनके प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्रों में विज्ञान के विभिन्न अंगों के अध्ययन और अनुसन्धान को महत्त्व दिया जाता था। १३ वीं शताब्दी में मुसलमानों के द्वारा भारत की विजय के अवसर पर बौद्धों के शिक्षा-केन्द्र उनके ध्वंसकारी कृत्यों के प्रधान लक्ष्य बने। विहार और विद्यालय नष्ट कर दिये गये, बौद्धों का संहार किया गया। शेष बौद्ध प्राण-रक्षा के लिये तिब्बत और नेपाल आदि देशों में जा बसे। इस प्रकार से भारतवर्ष में वैज्ञानिक अनुसंधानों की परम्परा समाप्त सी हो चली।

बौद्धों के पतन के साथ ही ब्राह्मण धर्म की शक्ति और प्रभाव बढ़े। बौद्धों के विरुद्ध प्रतिक्रियावादी भावना के कारण बौद्धों से सम्बन्धित सभी विषय और विज्ञान ब्राह्मणों के लिये हेय और तुच्छ थे। इसी से ब्राह्मणों में वैज्ञानिक विषयों के प्रति उत्साह अधिक नहीं था।

इस युग में विज्ञान की अवनति का कुछ सम्बन्ध कदाचित् उस काल की अस्थिर और अशान्त राजनैतिक दशा और शासक-वर्ग की भारतीय विज्ञान के प्रति उदासीनता की भावना से भी था।

आधुनिक काल—भारतीय विज्ञान के इतिहास में अवनति का युग १२०० वर्ष तक चलता रहा। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ ही पाश्चात्य सभ्यता के कुछ तत्त्वों का भी भारत में प्रवेश हुआ। इनमें निश्चय ही विज्ञान का स्थान महत्त्वपूर्ण है। कुछ भारतीय विचारकों ने यह अनुभव किया कि पाश्चात्य देशों के अद्भुत उत्कर्ष के पीछे उनकी वैज्ञानिक उन्नति ही प्रमुख कारण है। पाश्चात्य देशों में और भारत में भी कुछ भारतीयों ने पाश्चात्य विज्ञान के सिद्धान्तों और विधियों को समझ कर उन्हीं के आधार पर वैज्ञानिक अनुसंधान आरंभ किया। इन विद्वानों ने अपनी क्रान्तिकारी खोजों से संसार को चकित कर दिया और सिद्ध कर दिया कि भारतीय आज भी विज्ञान के क्षेत्र में संसार के अन्य देशों की तुलना कर सकते हैं। भारतीय विज्ञान के इस नये युग का आरम्भ १८९७ ई० से माना जा सकता है। इसी समय विज्ञान जगत् का ध्यान जगदीशचन्द्र बोस की आश्चर्यजनक खोजों की ओर आकृष्ट हुआ था। जगदीशचन्द्र बोस और प्रफुल्लचन्द्रराय को आधुनिक भारतीय विज्ञान को प्रतिष्ठापित करने का श्रेय है। जगदीशचन्द्र बोस ने बेतार के तार की भी स्वतंत्र रूप से खोज की थी किन्तु इसका प्रदर्शन करके इस खोज का श्रेय वे प्राप्त न कर सके।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक चन्द्रशेखर वेंकटरमण को उनकी शोधों पर विश्व का

महानतम सम्मान नोबेल पुरस्कार मिला है। विज्ञान की प्रसिद्ध 'रमन किरणें' इन्हीं के नाम पर हैं। इन्होंने क्वार्ट्ज, हीरा और अन्य पदार्थों के रवों की अस्थिर गति की भी खोज की है। के० एस० कृष्णन् ने चुम्बकत्व पर अनेक शोध कार्य किये हैं और कई नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। चुम्बकत्व पर कार्य करनेवाले दूसरे लब्ध-प्रतिष्ठ वैज्ञानिक डी० एम० बोस हैं। मेघनाद साहा ने अपनी तापीय विकिरण और आयोनीकरण सम्बन्धी खोजों से विशेष प्रसिद्धि पाई है। एस० एन० बोस ने प्रसिद्ध वैज्ञानिक अॅलबर्ट आइन्स्टाइन द्वारा प्रतिपादित समानता के सिद्धान्त में भी शोध और परिवर्तन किये हैं। इसी से यह सिद्धान्त अब बोस-आइन्स्टाइन सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। होमी जहाँगीर भाभा को कैसकेड सिद्धान्त और बूँद के आयोनीकरण के सम्बन्ध में अपने शोध कार्यों से अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली है।

प्रफुल्लचन्द्रराय ने अपने ग्रंथ[1] में रसायन के क्षेत्र में प्राचीन भारत की उन्नति का विवरण दिया है। इन्होंने स्वयं पारद के नाइट्रेट की खोज करके पारद के यौगिकों में नाइट्रेट के विषय की रिक्तता को दूर कर दिया।

शान्तिस्वरूप भटनागर ने अन्य पारद नाइट्रेट पर शोध कार्य करके ख्याति प्राप्त की है। ज्ञानचन्द्र घोष ने विद्युत् रसायन सम्बन्धी कई नवीन क्रियाओं और सिद्धान्तों पर खोज की है। इनके प्रसिद्ध शोध के कार्य विद्युत् रसायन, लवण के घोल के सिद्धान्त और रसायनिक क्रिया की यामिकी के सम्बन्ध में हैं। नीलरत्नधर ने कोलायड रसायन तथा भू-रसायन के ऊपर उच्च शोध कार्य किया है जिसके लिए उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली है।

श्रीनिवास रामानुजन् ने त्रिकोणमिति में अपने अध्ययनों के कारण प्रसिद्धि प्राप्त की। चन्द्रशेखर सुब्रमनियन ने गणितीय ज्योतिर्भौतिक विज्ञान पर खोजें की हैं। गणितीय ज्योतिर्भौतिक शास्त्र में अपनी शोधों पर इन्हें वैज्ञानिक संसार के दो उच्चतम पदक ब्रूस पदक और ब्रिटिश ज्योतिर्विज्ञान संघ पदक प्राप्त हुये हैं। पी० सी० महालनवीस ने आँकड़ा गणित के क्षेत्र में अपने लिये उच्च स्थान बना लिया है।

जगदीशचन्द्र बोस ने ही सर्वप्रथम वैज्ञानिक जगत् के सम्मुख इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया कि जन्तुओं और पौधों की जीवन-क्रियायें लगभग समान ही होती हैं। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये उन्होंने क्रेसकोग्राफ नाम के एक अद्भुत यंत्र का आविष्कार किया जिसको पौधों के सामने रखने से उसके पर्दे पर चलचित्र के समान पौधों की समय की छोटी-सी-छोटी अवधि की वृद्धि का प्रत्यक्ष प्रमाण दिखलाई पड़ता है। जीव-विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण शोध कार्य करने वालों में टी० एस० वेंकटर-मन का भी नाम उल्लेखनीय है। गन्ने के ऊपर अपनी खोजों से इन्हें प्रसिद्धि मिली है। बीरबल साहनी को ही पैलियोबॉटनी को पृथक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठापित करने

---

१. History of Hindu Chemistry.

का गौरव प्राप्त है। उन्होंने पंजाब में नमक श्रेणियों के निर्माण के काल-विभाग पर भी कार्य किया है। टी० वेंकटरमन ने रंग के रसायन के ऊपर शोध कार्य किया है और रंगने के कई नये अवयवों की खोज की है। मलेरिया के जीवाणुओं की खोज सर्वप्रथम भारत ही में हुई है। रोनाल्ड रास ने जिनको अपनी खोजों पर नोबेल पुरस्कार मिला मलेरिया के निदान और उनसे बचने के उपायों से सम्बन्धित अपने शोधकार्य भारत ही में किये थे। आर० एन० चोपड़ा ने उष्णकटिबन्धीय रोगों के निदान और उनकी रोक-थाम के सम्बन्ध में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यू० एन० ब्रह्मचारी ने सर्वप्रथम कालाजार नाम के भयानक रोग के निदान और निवारण आदि के उपायों के विषय में शोधकार्य से विश्व के महान् चिकित्सकों में अपना स्थान बना लिया है।

भारतीय विज्ञान का भविष्य उज्ज्वल है। भारतीय सरकार ने प्रयोगशालाओं की स्थापना और विविध प्रकार की सहायताओं से भारतीय वैज्ञानिकों को प्रोत्साहन दिया है। नई पीढ़ी के वैज्ञानिक भारत का मस्तक ऊँचा रखने के लिये सतत प्रयत्नशील हैं।

पठनीय सामग्री

Keith—History of Sanskrit Literature.
Cultural Heritage of India, Vol. III.
दीक्षित—भारतीय ज्योतिषशास्त्र।
Kaye, G. R.—Hindu Astronomy.
Kaye, G R.— Hindu Mathematics.
Datta, B. and Singh, A.—History of Hindu Mathematics.
Thibaut, G.—Astronomy, Astrology and Mathematics.
Jolly, J.—Indian Medicine (Tr. by C. G. Kashikar)
Hoernle, A. F. R.—Studies in the Medicine of Ancient India.
Ray, P. C.—History of Hindu Chemistry, 2 vols.

भारतीय-संस्कृति

किसी भी देश के नव-निर्माण के लिए उसकी प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा दिक् प्रदर्शन करती है। स्वतंत्र भारत में नव-निर्माण का कार्य आवश्यक रूप से ... क समक्ष है। अतएव यह आवश्य... हो जाता है कि हम भार... ...ति की परम्परा से सुपरिचित हों। इस दृष्टि से अनेक ...श्वविद्यालयों ने भारतीय-संस्कृति के अध्यापन पर जोर देना प्रारंभ किया है। गोरखपुर विश्वविद्यालय में भारतीय संस्कृति को बी०ए० में अनिवार्य विषय बनाकर एक प्रगतिशील दशा में कदम बढ़ाया है। प्रस्तुत पुस्तक इसी निर्धारित पाठ्यक्रम को दृष्टि में रखकर लिखी गई है।

विद्वान अध्यापकों ने इस कृति में सरल तथा सुबोध भाषा में भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत किया है। पुस्तक जिज्ञासु पाठक तथा विद्यार्थी सबके लिए अत्यन्त उपयोगी है।

❁

"प्रस्तुत कृति में राजनीतिक इतिहास के कृत्रिम काल-क्रम के ... से ऊपर उठकर भारतीय संस्कृति के विभिन्न अंगों का ऐतिहासि... तात्त्विक विवेचन किया गया है। हिन्दी भाषा में इस दृष्टिकोण से... गये संस्कृति संबंधी ग्रंथों का जो अभाव था यह उसकी पूर्ति क... प्रयास है।"

—गोवर्द्धनराय शर्मा

अध्यक्ष

प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

कवर मुद्रक—हिन्द आर्ट काटेज, गोदौलिया, वाराणसी।